संसार और धर्म

कि० घ० मशरूवाला

गुजरातके और सारे भारतके अेक श्रेष्ठ मौलिक विचारक चिन्तक और लेखक स्व० श्री किशोरलाल मशरूवालाकी सर्वोत्तम रचना 'जीवनशोधन' के बाद हमें अपने हिन्दी पाठकोंके सामने अुनकी यह दूसरी अुतनी ही मौलिक और क्रान्तिकारी रचना 'संसार और धर्म' रखते हुअे बड़ी खुशी होती है। श्री केदारनाथजी द्वारा 'जीवनशोधन' के बारेमें कहे हुअे ये शब्द अिस पुस्तकके विषयमें भी सोलहों आने सत्य हैं: "अिस पुस्तकमें विवेक, सत्त्वसंशुद्धि, प्रामाणिकता, सत्यज्ञानके लिअे अुत्कंठा, समाजके हितसाधनकी भावना, कर्तव्यपालन, संयम, निष्कामता, पवित्रता आदि दैवी गुणोंके अुत्कर्ष पर बहुत भार दिया गया है।"

पुस्तकमें स्व० किशोरलालभाअीके समय-समय पर लिखे गये लेखों और कुछ भाषणोंका संग्रह किया गया है। कुछ लेख तो लेखकने हिन्दीमें ही लिखे थे, जो 'सर्वोदय', 'हरिजनसेवक' वगैरा पत्रोंसे हिन्दीमें ही लिये गये हैं।

पुस्तककी विशेषताके बारेमें पं० सुखलालजीने अपनी 'विचार-कणिका' में विस्तारसे चर्चा की है। अुसमें अेक स्थान पर वे लिखते हैं: "ये लेख अितने गभीर और सूक्ष्म चिन्तनसे ओतप्रोत हैं कि अुन्हें जितनी बार पढ़ा जाय अुतनी ही बार (यदि पाठक जिज्ञासु और समझदार हो तो) अुनमें नवीनताका अनुभव होता है। और आवरणके स्थूल स्तरोंके दूर होते ही अेक प्रकारकी चैतसिक जाग्रति अनुभव होती है।"

अिस पुस्तकका गुजरातीसे हिन्दी अनुवाद श्री महेन्द्रकुमार जैनने किया है। सारा अनुवाद और मूल हिन्दी लेख श्री किशोरलालभाअी स्वयं देख गये हैं और अुनमें संशोधन और परिवर्धन भी अुन्होंने किये हैं।

विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे सारी पुस्तकका प्रूफ श्री रमणीकलालभाअी मोदी भी देख गये हैं; अुन्होंने यहां-वहां जो कीमती सुधार सुझाये, अुनके लिअे हम श्री रमणीकलालभाअीके आभारी हैं।

१५-६-'५६

प्रस्तावना

अिस पुस्तकका लेखक यदि मैं अकेला ही माना जाअू,
निमित्त-कारणके अर्थमें ही। गुरुदेव परम पूज्य नाथजीने अिसक
नामक भाग लिखकर अिसके अलग-अलग लेखोंको न केवल
गूंथा है, परन्तु अुनमें पूर्णता भी ला दी है। और आदरणी
सुखलालजीने अपनी 'विचार-कणिका' द्वारा अुन्हें विशद
अिन विचारोंमें जो भी विशिष्टता होगी अुसका अधिकांश
नाथजीको ही है। जिस समय मैं 'सत्य क्या है?' की खो
हुआ था और 'किस मार्गकी ओर जाना' की अुलझनमें फंसा
अुस समय अुन्होंने मुझे विचारोंके अटपटे गली-कूचोंसे बाहर
विचारोंके सीधे मार्ग पर लगा दिया। अुससे जो परिणाम अु
गये, अुन्हें मैं समय-समय पर जनताके सामने रखता रहा

जैसा कि पंडितजीने अपनी 'विचार-कणिका' में बताय
पुस्तकके बहुतसे लेख पहले (गुजराती और हिन्दीकी पत्र-प
प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु पुस्तकरूपमें प्रकाशित होने
विचारों और भाषाको फिरसे जांचनेकी और आवश्यक लगे
सुधार करनेकी मेरी साधारण आदत रही है। अिस प्र
पुराने लेखोंमें भी कहीं-कहीं छोटे-मोटे परिवर्तन मैंने किये

अिस पुस्तककी पांडुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ सुधार
श्री रमणीकलाल मोदीने अपने सिर लेकर मेरा काम बहु
कर दिया है। नवजीवन कार्यालयके प्रूफ पढ़नेवालोंकी सह
सदा ही मिलती रही है। अिस तरह अनेक लोगोंके सहयो
'संसार और धर्म' की अुत्पत्ति हुआी है। और अिसमें 'श्री
अदृश्य रूपमें बीचमें रहा ही है। यही जीवनका नियम अ
भी है। अिन सबका मैं ऋणी हूं।

वर्धा, ८-४-'४८ किo घo मशा

विचार-कणिका

प्रस्तुत पुस्तकमें अनेक लेखोंका संग्रह है। अिसमें श्रद्धेय मशरूवालाके तीस और पूज्य नाथजीके तीन — अिस तरह कुल तेतीस लेख हैं। तीन खण्डोंमें बंटे हुअे तीस लेखोंमें से तेअीस लेख तो अलग अलग समयमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित हो चुके हैं, जब कि सात लेख पहली ही बार प्रकाशित हो रहे हैं। चौथे खंडमें श्री नाथजीकी पूर्तिके रूपमें दिये हुअे अंतिम लेख भी पहली बार ही प्रकाशित हो रहे हैं। यद्यपि अिस संग्रहके तेअीस लेख दूसरी बार प्रकाशित हो रहे हैं, फिर भी जिसने ये लेख पढ़े होंगे अुसके लिअे भी अिनकी नवीनता बिलकुल कम नहीं होगी, अैसा मैं अपने अनुभवसे कह सकता हूं। लेख अितने गंभीर तथा सूक्ष्म चिंतनसे परिपूर्ण हैं कि अुन्हें जितनी बार पढ़ा जाय अुतनी ही बार (यदि पढ़नेवाला जिज्ञासु और समझदार हो तो) अुनमें नवीनताका अनुभव होता है; और आवरणके स्थूल स्तरोंके दूर होते ही अेक तरहकी चैतसिक जाग्रतिका अनुभव होता है। अिसलिअे वस्तुतः सारा संग्रह नया ही है। कअी लोग अेक बार प्रकाशित हुअे और पढ़े हुअे लेखोंको पुराने और बासी मानकर अुनकी अुपेक्षा करते हैं। अुनकी यह मनोवृत्ति बिलकुल गलत नहीं है। परंतु ये लेख अैसे हैं, जो प्रातःकालीन सूर्यकी तरह नित-नये लगनेवाले हैं।

गुजरातमें कोअी भी समझदार व्यक्ति अैसा नहीं है, जो श्री किशोरलालभाअीको न जानता हो। गुजरातके बाहर भी सब प्रान्तोंमें अुनका नाम थोड़े-बहुत अंशमें प्रसिद्ध है। अिसका मूल कारण अुनके अनेक भाषाओंमें लिखे हुअे और अनुवादित लेखोंका पठन-पाठन है और कुछ व्यक्तियों द्वारा साधा हुआ अुनका प्रत्यक्ष समागम भी है। पू० नाथजीको जाननेवाला वर्ग अपेक्षाकृत छोटा है, क्योंकि अुन्होंने बहुत कम लिखा है। और जो कुछ लिखा है,

यह भी पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। * फिर भी जो वर्ग अुन्हें जानता है, वह बिलकुल छोटा या साधारण कोटिका नहीं है। जो पू० नाथजीके प्रत्यक्ष परिचयमें नहीं आया है, वह अुनके सूक्ष्म, स्पष्ट, सयुक्तिक और मानवतापूर्ण विचारोंकी कल्पना ही नहीं कर सकता।

तत्वके तलस्पर्शी चिंतन, जीवनके स्व-पर-लक्षी शोधन और मानवताकी सेवाके अेक ही रंगसे रंगे हुअे गुरु-शिष्यकी यह जोड़ी जो कुछ लिखती या बोलती है, वह अनुभवसिद्ध होनेके कारण प्रत्यक्ष कोटिका है। अिसकी प्रतीति अिस संग्रहके लेख पढ़नेवाले व्यक्तिको हुअे बिना नहीं रहेगी। मैंने प्रस्तुत लेखोंको अेकाग्रतापूर्वक अेकसे अधिक बार सुना है और कुछ अन्य सुप्रसिद्ध भारतीय तत्वचिंतकोंके लेख भी सुने हैं। मैं जब तटस्थ भावसे अैसे चिंतनप्रधान लेखोंकी तुलना करता हूं, तब मुझे निःशंक रूपसे अैसा लगता है कि अितना और अैसा क्रान्तिकारी, सचोट और मौलिक विचार करनेवाले लोग भारतवर्षमें विरले ही हैं।

सारे संग्रहको सुनने पर और अुसके अूपर अलग-अलग दृष्टिसे विचार करने पर मुझे अिसकी अनेक प्रकारकी अुपयोगिता मालूम हुअी है। जहां देखो वहां साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक मानसवाले सभी समझदार लोगोंकी यह मांग है कि नयी पीढ़ीको तत्त्व और धर्मके सच्चे और अच्छे संस्कार देनेवाली अैसी कोअी पुस्तक शिक्षण-क्रममें होनी चाहिये, जो नवयुगके निर्माणका स्पर्श करनेके साथ ही प्राचीन प्रणालिकाओंका रहस्य भी समझाती हो। जहां तक मैं जानता हूं, केवल गुजरातमें ही नहीं, बल्कि गुजरातके बाहर भी अिस मांगको भली-भांति पूरा करनेवाली अिसके जैसी दूसरी कोअी पुस्तक नहीं है। किसी संप्रदायका विद्यालय या छात्रालय हो, असाम्प्रदायिक कहे जा सकनेवाले आश्रम हों या सरकारी अथवा गैरसरकारी शिक्षण-संस्थाअें हों — सर्वत्र अुच्च कक्षाके विद्यार्थियोंको, अुनकी योग्यताको ध्यानमें रखकर,

---

* श्री नाथजी (केदारनाथजी) की अेक पुस्तक 'विवेक और साधना' हिन्दीमें प्रकाशित हो चुकी है। नवजीवन कार्यालय; कीमत ४-०-०, डाकखर्च १-२-०।

अिस संग्रहमें से अमुक लेख समझाये जायं, तो मैं मानता हूं कि अुन्हें अपनी मातृभाषामें तत्त्व और धर्मका सच्चा व्यापक ज्ञान मिलेगा और सदियों पुरानी परम्परागत ग्रंथियोंका भेद भी खुल जायगा। विद्यार्थियोंके अलावा शिक्षकों और अध्यापकोंके लिअे भी अिस संग्रहमें अितनी अधिक विचारप्रेरक और जीवनप्रद सामग्री है कि वे यह पुस्तक पढ़कर अपने साक्षर जीवनकी केवल कृतार्थता ही अनुभव नहीं करेंगे, बल्कि अनेक व्यावहारिक, धार्मिक और तात्त्विक प्रश्नोंके संबंधमें नये दृष्टिकोणसे विचार करना शुरू करेंगे तथा साक्षर जीवनके अुस पार भी कुछ प्रज्ञागम्य विश्व है अैसी प्रतीति होनेसे अधिक विनम्र और अधिक शोधक बननेका प्रयत्न करेंगे। विद्यार्थियों और अध्यापकोंके सिवाय भी अैसा बहुत बड़ा वर्ग है, जो तत्त्व और धर्मके प्रश्न समझनेमें हमेशा गहरा रस लेता है। ये लोग तत्त्व और धर्मके नामसे मिलनेवाले कैसे भी रूढ़िगत शिक्षण और प्रवाहमें बहते रहते हैं और केवल अुनसे ही संतोष मान लेते हैं। अतः वे यह नहीं समझ पाते कि हमारी समझमें कहां भूल है, कहां कहां अुलझनें हैं, और कहां कहां अन्धविश्वासका राज्य है। अुनके लिअे तो यह संग्रह नेत्रांजन-शलाकाका काम करेगा, अैसा मैं निश्चित रूपसे मानता हूं। विभिन्न भाषाओंमें अेक या अनेक धर्मोका अथवा अेक सम्प्रदाय या अनेक संप्रदायोंके तत्त्वज्ञानका शिक्षण देनेमें मदद पहुंचानेवाली अनेक पुस्तकें हैं। परंतु ज्यादातर वे सब प्रणालिकाओं या मान्यताओंका ही वर्णन करती हैं। शायद ही अैसी कोअी पुस्तक देखनेमें आयेगी, जिसमें अितनी गंभीरता और अितनी निर्भयता तथा सत्यनिष्ठासे तत्त्व और धर्मके प्रश्नोंके विषयमें अैसा परीक्षण और संशोधन हुआ हो। अेक ओर जिसमें किसी भी पंथ, किसी भी परंपरा या किसी भी शास्त्रविशेषके विषयमें अविचारी आग्रह न हो और दूसरी ओर पुराने या नये आचार-विचारके प्रवाहोंमें से जीवनस्पर्शी सत्य खोज निकाला गया हो, अैसी मेरी जानकारीमें यह पहली ही पुस्तक है। अिसलिअे किसी भी क्षेत्रके योग्य अधिकारीको मैं यह पुस्तक बार बार पढ़नेकी सिफारिश करता हूं तथा शिक्षण-कार्यमें रस लेनेवालोंसे कहता हूं कि वे चाहे जिस संप्रदाय

या पंथके हों, तो भी अिसमें बताओी हुओी विचारसरणीको समझकर अपनी मान्यताओं और संस्कारोंकी परीक्षा करें।

वैसे तो अिस संग्रहका प्रत्येक लेख गहन है। पर कुछ लेख तो अैसे हैं, जो बड़ेसे बड़े विद्वान् या विचारकको बुद्धि और समझकी भी पूरी कसौटी करते हैं। लेखोंके विषय विविध हैं। दृष्टिबिंदु भी अनेक प्रकारके हैं। समालोचना मूलगामी है। अिसलिअे सारी पुस्तकका रहस्य तो अुन अुन लेखोंको पढ़ या विचार कर ही जाना जा सकता है। फिर भी दोनों लेखकोंके प्रत्यक्ष परिचयसे और अिस पुस्तकके वाचनसे अुनकी जिस विचारसरणीको में समझा हूं और जिसने मेरे मन पर गहरी छाप डाली है, अुससे संबंध रखनेवाले कुछ मुद्दोंकी मैं अपनी समझके अनुसार यहां चर्चा करता हूं। अिन मुद्दोंकी दोनोंके लेखोंमें अेक या दूसरी तरहसे चर्चा की गअी है। वे मुद्दे ये हैं:

१. धर्म और तत्त्वचिन्तनकी दिशा अेक हो, तभी दोनों सार्थक बनते हैं।

२. कर्म और अुसके फलका नियम् केवल वैयक्तिक हीं नहीं बल्कि सामूहिक भी है।

३. मुक्ति कर्मके विच्छेदमें या चित्तके विलयमें नहीं, परन्तु दोनोंकी अुत्तरोत्तर शुद्धिमें है।

४. मानवताके सद्गुणोंकी रक्षा, पुष्टि और वृद्धि ही जीवनका परम ध्येय है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है सत्यशोधनके प्रयत्नसे फलित हुअे तथा फलित होनेवाले सिद्धान्त। धर्मका अर्थ है अैसे सिद्धान्तोंके अनुसार ही बना हुआ वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन-व्यवहार। यह सत्य है कि अेक ही व्यक्ति या समूहकी योग्यता तथा शक्ति हमेशा अेकसी नहीं रहती, अिसलिअे भूमिका तथा अधिकारभेदके अनुसार धर्ममें अंतर रहनेवाला है। अितना ही नहीं, धर्माचरण अधिक पुरुषार्थकी अपेक्षा रखता है, अिसलिअे वह गतिमें तत्त्वज्ञानके पीछे भी रहेगा। किन्तु यदि अिन दोनोंकी दिशा ही मूलमें अलग हो, तो तत्त्वज्ञान चाहे जितना गहरा और चाहे जितना सच्चा हो, फिर भी धर्म अुसके

प्रकाशसे वंचित ही रहेगा और परिणामस्वरूप मानवताका विकास रुकेगा। धर्मको जीवनमें भुतारे बिना तत्त्वज्ञानकी शुद्धि, वृद्धि और परिपाक असंभव है। अिसी प्रकार तत्त्वज्ञानके आलंबनसे रहित धर्म जड़ता तथा अंधविश्वाससे मुक्त नहीं हो सकता। अिसलिअे दोनोंमें दिशाभेद होना घातक है। अिस वस्तुको अेक अैतिहासिक दृष्टान्तसे समझना सरल होगा। भारतीय तत्त्वज्ञानके तीन युग स्पष्ट हैं। पहला युग आत्म-वैषम्यके सिद्धान्तका, दूसरा आत्मसमानताके सिद्धान्तका और तीसरा आत्माद्वैतके सिद्धान्तका। पहले सिद्धान्तके अनुसार अैसा माना जाता था कि हरअेक जीव मूलमें समान नहीं है। हरअेक जीव अपने कर्मके अधीन है। और हरअेक जीवके कर्म विषम तथा बहुत बार अेक दूसरेके विरुद्ध होते हैं, अिसलिअे अुसके अनुसार ही जीवकी स्थिति और अुसका विकास हो सकता है। अैसी मान्यताके कारण ब्राह्मण-कालके जन्मसिद्ध धर्म और संस्कार निश्चित हुअे हैं। अिसमें किसी अेक वर्गका अधिकारी अपनी कक्षामें रहकर ही विकास कर सकता है, परन्तु अिस कक्षाके बाहर जाकर वर्णाश्रमधर्मका आचरण नहीं कर सकता। अिन्द्रपद या राज्यपद हासिल करनेके लिअे अमुक धर्मका आचरण करना चाहिये, परन्तु हरअेक अुस धर्मका आचरण नहीं कर सकता तथा हरअेक अुसका आचरण करा भी नहीं सकता। अिसका अर्थ यही हुआ कि कर्मकृत वैषम्य स्वाभाविक है और जीवगत समानता हो तो भी वह व्यवहार्य नहीं है। आत्मसमानताके दूसरे सिद्धान्तके अनुसार बना हुआ आचार अिससे बिलकुल अुलटा है। अुसमें चाहे जिस अधिकारी और जिज्ञासुको चाहे जैसे कर्मसंस्कारके द्वारा विकास करनेकी छूट है। अुसमें आत्मौपम्य-मूलक अहिंसाप्रधान यम-नियमोंके आचरण पर ही भार दिया जाता है। अुसमें कर्मकृत वैषम्यकी अवगणना नहीं है, परन्तु समानता-सिद्धिके प्रयत्नसे अुसे दूर करने पर ही भार दिया जाता है। आत्माद्वैतका सिद्धान्त तो समानताके सिद्धान्तसे भी आगे जाता है। अुसमें व्यक्ति-व्यक्तिके बीच किसी भी तरहका कोअी वास्तविक भेद नहीं माना जाता। अुस अद्वैतमें तो समानताका व्यक्तिभेद भी मिट जाता है। अिसलिअे अिस सिद्धान्तमें कर्मसंस्कार-

जन्य वैषम्य न सिर्फ दूर करने योग्य ही माना जाता है बल्कि सर्वथा काल्पनिक माना जाता है। परन्तु हम देखते हैं कि आत्मसमानता और आत्माद्वैतके सिद्धान्तको कट्टरतासे माननेवाले भी जीवनमें कर्म-वैषम्यको ही स्वाभाविक और अनिवार्य मान कर व्यवहार करते हैं। अिसलिअे आत्मसमानताके अनन्य समर्थक जैन तथा अैसे दूसरे पंथ जातिगत अूंच-नीच भावको मानो शाश्वत मानकर ही व्यवहार करते दिखाअी देते हैं। अुसके कारण समाजमें स्पर्शास्पर्शका घातक विष फैल जाने पर भी वे भ्रमसे मुक्त नहीं होते। अुनका सिद्धान्त अेक दिशामें जाता है और धर्म — जीवनव्यवहार — की गाड़ी दूसरी दिशामें जाती है। यही स्थिति अद्वैत सिद्धान्तको माननेवालोंकी है। वे द्वैतका कट्टर विरोध करते हुअे बातें तो अद्वैतकी करते हैं, लेकिन आचरण संन्यासी तकका द्वैत तथा कर्मवैषम्यके अनुसार ही होता है। परिणाममें हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञानका अद्वैत तक विकास होने पर भी अुससे भारतीय जीवनको कोअी लाभ नहीं हुआ। अुलटे, वह आचरणकी दुनियामें फंसकर छिन्न-भिन्न हो गया है। यह अेक ही दृष्टान्त तत्त्वज्ञान और धर्मकी दिशा अेक होनेकी जरूरत सिद्ध करनेके लिअे पर्याप्त है।

२. अच्छी-बुरी स्थिति, चढ़ती-अुतरती कला और सुख-दुःखकी सार्वत्रिक विषमताका पूरा स्पष्टीकरण केवल अीश्वरवाद या ब्रह्मवादमें मिल ही नहीं सकता था। अिसलिअे कैसा भी प्रगतिशील वाद स्वीकार करनेके बावजूद स्वाभाविक रीतिसे ही परंपरासे चला आनेवाला वैयक्तिक कर्मफलका सिद्धान्त अधिकाधिक दृढ़ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हरअेकका नसीब जुदा है', 'जो बोता है वह काटता है', 'काटनेवाला और फल चखनेवाला अेक हो और बोनेवाला दूसरा हो यह बात असंभव है' — अैसे अैसे खयाल केवल वैयक्तिक कर्मफलके सिद्धान्त पर ही रूढ हुअे हैं। और सामान्यतः अुन्होंने प्रजाजीवनके हर क्षेत्रमें अितनी गहरी जड़ें जमा ली है कि अगर कोअी यह कहे कि किसी व्यक्तिका कर्म केवल अुसीमें फल या परिणाम अुत्पन्न नहीं करता, परन्तु अुसका असर अुस कर्म करनेवाले व्यक्तिके सिवाय सामूहिक जीवनमें भी ज्ञात-अज्ञात रूपसे फैलता

है, तो वह समझदार माने जानेवाले वर्गको भी धोखा देता है। और हरअेक सम्प्रदायके विद्वान् या विचारक अिसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणोंका ढेर लगा देते हैं। अिसके कारण कर्मफलका नियम वैयक्तिक होनेके साथ ही सामूहिक भी है या नहीं, यदि न हो तो किस किस तरहकी असंगतियां और अनुपपत्तियां खड़ी होती हैं और यदि हो तो अुस दृष्टिसे ही समग्र मानव-जीवनका व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नहीं, अिस विषयमें कोअी गहरा विचार करनेके लिअे स्थान नहीं है। सामूहिक कर्मफलके नियमकी दृष्टिसे रहित कर्मफलके नियमने मानव-जीवनके अितिहासमें आज तक कौन कौनसी कठिनाअियां खड़ी की हैं और किस दृष्टिसे कर्मफलका नियम स्वीकार करके तथा अुसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे दूर की जा सकती हैं, अिस बात पर अिन लेखकोंको छोड़कर किसी दूसरेने अितना गहरा विचार किया हो तो मैं नहीं जानता। कोअी अेक भी प्राणी दुःखी हो, तो मेरा सुखी होना असंभव है। जब तक जगत् दुःखमुक्त नहीं होता, तब तक वरसिक मोक्षसे क्या फायदा? अिस विचारकी महायान भावना बौद्ध परंपरामें अुदय हुअी थी। अिसी तरह हरअेक सम्प्रदाय सर्व जगत्के क्षेम—कल्याणकी प्रार्थना करता है और सारे जगत्के साथ मैत्री करनेकी ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महायान भावना या ब्रह्मवार्ता अंतमें वैयक्तिक कर्मफलवादके दृढ़ संस्कारके साथ टकराकर जीवन जीनेमें ज्यादा अुपयोगी सिद्ध नहीं हुअी है। पू०नाथजी और श्री मशरूवाला दोनों कर्मफलके नियमके बारेमें सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे विचार करते हैं। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफल-वादके होनेसे मैं भी अिसी तरह सोचता था। परन्तु जैसे जैसे अिस पर गहरा विचार करता गया, वैसे वैसे मुझे लगने लगा कि कर्मफलका नियम सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे ही विचारा जाना चाहिये और सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीके खयालसे ही जीवनका हरअेक व्यवहार व्यवस्थित किया तथा चलाया जाना चाहिये। जिस समय वैयक्तिक दृष्टिकी प्रधानता हो, अुस समयके चिन्तक अुसी दृष्टिसे अमुक नियमोंकी रचना करें यह स्वाभाविक है। परन्तु अुन नियमोंमें अर्थ-

विस्तारकी संभावना ही नहीं है, अैसा मानना देशकालकी मर्यादामें सर्वथा जकड़ जाने जैसा है। जब हम सामूहिक दृष्टिसे कर्मफलका नियम विचारते या घटाते हैं, तब भी वैयक्तिक दृष्टिका लोप तो होता ही नहीं; अुलटे सामूहिक जीवनमें वैयक्तिक जीवनके पूर्ण रूपसे समा जानेके कारण वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक फैलती है और अधिक शुद्ध बनती है। कर्मफलके नियमकी सच्ची आत्मा तो यही है कि कोअी भी कर्म निष्फल नहीं जाता और कोअी भी परिणाम कारणके बिना अुत्पन्न नहीं होता। जैसा परिणाम वैसा ही अुसका कारण भी होना चाहिये। यदि अच्छे परिणामकी अिच्छा करनेवाला अच्छे कर्म नहीं करता, तो वह वैसा परिणाम नहीं पा सकता। कर्मफल-नियमकी यह आत्मा सामूहिक दृष्टिसे कर्मफलका विचार करने पर बिलकुल लोप नहीं होती। केवल वैयक्तिक सीमाके बन्धनसे मुक्त होकर वह जीवन-व्यवहार गढ़नेमें सहायक बनती है। आत्म-समानताके सिद्धान्तके अनुसार विचार करें या आत्माद्वैतके सिद्धान्तके अनुसार विचार करें, अेक बात तो सुनिश्चित है कि कोअी व्यक्ति समूहसे बिलकुल अलग न तो है और न अुससे अलग रह सकता है। अेक व्यक्तिके जीवन-अितिहासके लबे पट पर नजर दौड़ाकर विचार करें, तो हमें तुरन्त दिखाअी देगा कि अुसके अूपर पड़े हुअे और पड़नेवाले संस्कारोंमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे दूसरे असंख्य व्यक्तियोंके संस्कारोंका हाथ है। और वह व्यक्ति जिन संस्कारोंका निर्माण करता है, वे भी केवल अुसमें ही मर्यादित न रहकर समूहगत अन्य व्यक्तियोंमें प्रत्यक्ष या परंपरासे संचरित होते रहते हैं। वस्तुतः समूह या समष्टिका अर्थ है व्यक्ति या व्यष्टिका संपूर्ण जोड़।

यदि हरअेक व्यक्ति अपने कर्म और फलके लिअे पूरी तरहसे जिम्मेदार हो और अन्य व्यक्तियोंसे बिलकुल स्वतंत्र अुसके श्रेय-अश्रेयका विचार केवल अुसीके साथ जुड़ा हो, तो सामूहिक जीवनका क्या अर्थ है? क्योंकि बिलकुल अलग, स्वतंत्र और अेक-दूसरेके असरसे मुक्त व्यक्तियोंका सामूहिक जीवनमें प्रवेश केवल आकस्मिक ही हो सकता है। यदि अैसा अनुभव होता हो कि सामूहिक जीवनसे वैयक्तिक

जीवन बिलकुल स्वतंत्र रूपमें जिया नहीं जाता, तो तत्त्वज्ञान भी अिसी अनुभवके आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्तिके बीच चाहे जितना भेद दिखाअी दे, फिर भी हरअेक व्यक्ति किसी अेक जीवनसूत्रमें ओतप्रोत है कि जिसके द्वारा वे सब व्यक्ति आसपास अेक-दूसरेसे जुड़े हुअे हैं। यदि अैसा है तो कर्मफलका नियम भी अिसी दृष्टिसे विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेयका विचार भी हरअेक सम्प्रदायने वैयक्तिक दृष्टिसे ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभका विचार भी अिस दृष्टिके अनुसार ही हुआ है। अिसके कारण जिस सामूहिक जीवनको जिये बिना काम चल नहीं सकता, अुसे लक्ष्यमें रखकर श्रेय या प्रेयका मूलगत विचार या आचार हो ही नहीं पाया। कदम कदम पर सामूहिक कल्याणको लक्ष्यमें रखकर बनाअी हुअी योजनाअें अिसी कारणसे या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशामें बदल जाती हैं। विश्वशांतिका सिद्धान्त निश्चित तो होता है, परन्तु बादमें अुसकी हिमायत करनेवाला हरअेक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टिसे ही अुस पर विचार करता है। अिससे न तो विश्वशांति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हरअेक समाज पर भी लागू होता है। अब यदि सामूहिक जीवनकी विशाल और अखण्ड दृष्टिका विकास किया जाय और अुस दृष्टिके अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारीकी मर्यादा बढ़ावे तो अुसके हिताहित दूसरेके हिताहितोंके साथ टकराने न पावें। और जहां वैयक्तिक नुकसान दिखाअी देता हो वहां भी सामूहिक जीवनके लाभकी दृष्टि अुसे संतुष्ट रखे। अुसका कर्तव्यक्षेत्र विस्तृत बने और अुसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपनेमें अेक भूमा*को देखे।

३. दुःखसे मुक्त होनेके विचारमें से ही अुसका कारण माने गये कर्मसे मुक्त होनेका विचार पैदा हुआ। अैसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहारकी जिम्मेदारी स्वयं ही बंधनरूप है। जब तक अुसका अस्तित्व है, तब तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असंभव है। अिसी धारणामें से पैदा हुअे कर्ममात्रकी निवृत्तिके विचारसे श्रमण

* परमात्मबुद्धि।

परंपराका अनगार-मार्ग और संन्यास परंपराका वर्ण-कर्म-धर्म-संन्यास-मार्ग अस्तित्वमें आया। परन्तु अिस विचारमें जो दोष था, वह धीरे धीरे ही सामूहिक जीवनकी निर्बलता और लापरवाहीके रास्तेसे प्रकट हुआ। जो अनगार होते हैं या वर्ण-कर्म-धर्म छोड़ते हैं, अुन्हें भी जीना होता है। अिसका फल यह हुआ कि अैसोंका जीवन अधिक मात्रामें परावलंबी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवनकी कड़ियां टूटने और अस्तव्यस्त होने लगीं। अिस अनुभवने यह सुझाया कि केवल कर्म बंधन नहीं है; परन्तु अुसके पीछे रही हुअी तृष्णावृत्ति या दृष्टिकी संकुचितता और चित्तकी अशुद्धि ही बंधनरूप है। केवल वही दुःख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवादके द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अिस पुस्तकके लेखकोंने अिसमें संशोधन करके कर्मशुद्धिका अुत्तरोत्तर प्रकर्ष साधने पर ही भार दिया है, और अुसीमें मुक्तिका अनुभव करनेका अुन्होंने प्रतिपादन किया है। पांवमें सूअी लग जाने पर कोअी अुसे निकाल कर फेंक दे तो आम तौर पर कोअी अुसे गलत नहीं कहता। परन्तु जब सूअी फेंकनेवाला बादमें सीनेके और दूसरे कामके लिअे नअी सूअी ढूंढे और अुसके न मिलने पर अधीर होकर दुःखका अनुभव करे, तो समझदार आदमी अुसे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पांवमें से सूअी निकालना ठीक था, क्योंकि वह अुसकी योग्य जगह नहीं थी। परन्तु यदि अुसके बिना जीवन चलता ही न हो तो अुसे फेंक देनेमें जरूर भूल है। ठीक तरहसे अुपयोग करनेके लिअे योग्य रीतिसे अुसका संग्रह करना ही पांवमें से सूअी निकालनेका सच्चा अर्थ है। जो न्याय सूअीके लिअे है, वही न्याय सामूहिक कर्मके लिअे भी है। केवल वैयक्तिक दृष्टिसे जीवन जीना सामूहिक जीवनकी दृष्टिमें सूअी भोंकनेके बराबर है। अिस सूअीको निकालकर अुसका ठीक तरहसे अुपयोग करनेका मतलब है सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीको बुद्धिपूर्वक स्वीकार करके जीवन बिताना। अैसा जीवन ही व्यक्तिकी जीवन्मुक्ति है। जैसे जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवनका मैल कम करता जाता है, वैसे वैसे सामूहिक जीवन दुःखमुक्तिका विशेष अनुभव करता है। अिस प्रकार विचार

जीवन बिलकुल स्वतंत्र रूपमें जिया नहीं जाता, तो तत्त्वज्ञान भी अिसी अनुभवके आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्तिके बीच चाहे जितना भेद दिखाओ दे, फिर भी हरअेक व्यक्ति किसी अैसे अेक जीवनसूत्रसे ओतप्रोत है कि जिसके द्वारा वे सब व्यक्ति आसपास अेक-दूसरेसे जुड़े हुअे हैं। यदि अैसा है तो कर्मफलका नियम भी अिसी दृष्टिसे विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेयका विचार भी हरअेक सम्प्रदायने वैयक्तिक दृष्टिसे ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभका विचार भी अिस दृष्टिके अनुसार ही हुआ है। अिसके कारण जिस सामूहिक जीवनको लिये बिना काम चल नहीं सकता, अुसे लक्ष्यमें रखकर श्रेय या प्रेयका मूलगत विचार या आचार हो ही नहीं पाया। कदम कदम पर सामूहिक कल्याणको लक्ष्यमें रखकर बनाअी हुअी योजनाअें अिसी कारणसे या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशामें बदल जाती हैं। विश्वशांतिका सिद्धान्त निश्चित तो होता है, परन्तु बादमें अुसकी हिमायत करनेवाला हरअेक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टिसे ही अुस पर विचार करता है। अिससे न तो विश्वशांति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हरअेक समाज पर भी लागू होता है। अब यदि सामूहिक जीवनकी विशाल और अखण्ड दृष्टिका विकास किया जाय और अुस दृष्टिके अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारीकी मर्यादा बढ़ावे तो अुसके हिताहित दूसरेके हिताहितोंके साथ टकराने न पावें। और जहां वैयक्तिक नुकसान दिखाअी देता हो वहां भी सामूहिक जीवनके लाभकी दृष्टि अुसे संतुष्ट रखे। अुसका कर्तव्यक्षेत्र विस्तृत बने और अुसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपनेमें अेक भूमा*को देखे।

३. दुःखसे मुक्त होनेके विचारमें से ही अुसका कारण माने गये कर्मसे मुक्त होनेका विचार पैदा हुआ। अैसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहारकी जिम्मेदारी स्वयं ही बंधनरूप है। जब तक अुसका अस्तित्व है, तब तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असंभव है। अिसी धारणामें से पैदा हुअे कर्ममात्रकी निवृत्तिके विचारसे श्रमण

* परमात्मबुद्धि।

परंपराका अनगार-मार्ग और संन्यास परंपराका वर्ण-कर्म-धर्म-संन्यास-मार्ग अस्तित्वमें आया। परन्तु अिस विचारमें जो दोष था, वह धीरे धीरे ही सामूहिक जीवनकी निर्बलता और लापरवाहीके रास्तेसे प्रकट हुआ। जो अनगार होते हे या वर्ण-कर्म-धर्म छोडते हे, अुन्हे भी जीना होता है। जिसका फल यह हुआ कि अैसोंका जीवन अधिक मात्रामें परावलंबी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवनकी कड़िया टूटने और अस्तव्यस्त होने लगी। अिस अनुभवने यह सुझाया कि केवल कर्म बंधन नही है; परन्तु अुसके पीछे रही हुअी तृष्णावृत्ति या दृष्टिकी संकुचितता और चित्तकी अशुद्धि ही बंधनरूप है। केवल वही दुःख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवादके द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अिस पुस्तकके लेखकोंने अिसमें संशोधन करके कर्मशुद्धिका अुत्तरोत्तर प्रकर्ष साधने पर ही भार दिया है, और अुसीमें मुक्तिका अनुभव करनेका अुन्होंने प्रतिपादन किया है। पांवमें सूअी लग जाने पर कोअी अुसे निकाल कर फेंक दे तो आम तौर पर कोअी अुसे गलत नही कहता। परन्तु जब सूअी फेंकनेवाला बादमें सीनेके और दूसरे कामके लिअे नअी सूअी ढूंढे और अुसके न मिलने पर अधीर होकर दुःखका अनुभव करे, तो समझदार आदमी अुसे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पांवमें से सूअी निकालना ठीक था, क्योंकि वह अुसकी योग्य जगह नहीं थी। परन्तु यदि अुसके बिना जीवन चलता ही न हो तो अुसे फेंक देनेमें जरूर भूल है। ठीक तरहसे अुपयोग करनेके लिअे योग्य रीतिसे अुसका संग्रह करना ही पांवमें से सूअी निकालनेका सच्चा अर्थ है। जो न्याय सूअीके लिअे है, वही न्याय सामूहिक कर्मके लिअे भी है। केवल वैयक्तिक दृष्टिसे जीवन जीना सामूहिक जीवनकी दृष्टिमें सूअी भोंकनेके बराबर है। अिस सूअीको निकालकर अुसका ठीक तरहसे अुपयोग करनेका मतलब है सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीको बुद्धिपूर्वक स्वीकार करके जीवन बिताना। अैसा जीवन ही व्यक्तिकी जीवन्मुक्ति है। जैसे जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवनका मैल कम करता जाता है, वैसे वैसे सामूहिक जीवन दुःखमुक्तिका विशेष अनुभव करता है। अिस प्रकार विचार

करने पर कर्म ही धर्म बन जाता है। अमुक फलका अर्थ है रसके साथ छिलका भी। छिलका नहीं हो तो रस कैसे टिक सकता है? और रसरहित छिलका भी फल नहीं है। अुसी तरह धर्म तो कर्मका रस है। और कर्म सिर्फ धर्मकी छाल है। दोनोंका ठीक तरहसे समिश्रण हो, तभी वे जीवनफल प्रकट कर सकते हैं। कर्मके आलंबनके बिना वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवनकी शुद्धि-रूप धर्म रहेगा ही कहां? और अैसी शुद्धि न हो तो क्या अुस कर्मकी छालसे ज्यादा कीमत मानी जायगी? अिस तरहका कर्मधर्म-विचार अिन लेखकोंके लेखोंमें ओतप्रोत है। अुसके साथ विशेषता यह है कि मुक्तिकी भावनाका भी अुन्होंने सामुदायिक जीवनकी दृष्टिसे ही विचार किया है और अुसी दृष्टिसे अुसे मनुष्य-जीवन पर लागू किया है।

कर्म-प्रवृत्तियां अनेक तरहकी हैं। परन्तु अुनका मूल चित्तमें है। किसी समय योगियोंने विचार किया कि जब तक चित्त है, तब तक विकल्प अुठते ही रहेंगे। और विकल्पोंके अुठने पर शांतिका अनुभव नहीं हो सकता। अिसलिअे 'मूले कुठारः' के न्यायको मानकर वे चित्तका विलय करनेकी ओर ही झुके। और अनेकोंने यह मान लिया कि चित्तविलय ही मुक्ति है, और वही परम साध्य है। मानवताके विकासका विचार अेक ओर रह गया। यह भी बंधनरूप माने जानेवाले कर्मको छोड़नेके विचारकी तरह भूल ही थी। अिस विचारमें दूसरे अनुभवियोंने सुधार किया कि चित्तविलय मुक्ति नहीं है; परन्तु चित्तशुद्धि ही मुक्ति है। दोनों लेखकोंका कहना यह है कि चित्तशुद्धि ही शांतिका अेकमात्र मार्ग होनेसे वह मुक्ति अवश्य है; परन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्तकी शुद्धिमें पूर्ण मुक्ति मान लेनेका विचार अधूरा है। सामूहिक चित्तकी शुद्धिको बढ़ाते जाना ही वैयक्तिक चित्तशुद्धिका आदर्श होना चाहिये; और यह हो तो किसी दूसरे स्थानमें या लोकमें मुक्तिधाम माननेकी या अुसकी कल्पना करनेकी बिलकुल जरूरत नहीं है। अैसा धाम तो सामूहिक चित्तशुद्धिमें अपनी शुद्धिका हिस्सा मिलानेमें ही है।

४. हरअेक सम्प्रदायमें सर्वभूतहित पर भार दिया गया है। परन्तु व्यवहारमें मानव-समाजके हितका भी शायद ही पूरी तरहसे

अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिअे किसी अुपमाका प्रयोग करते हैं, तब वह पूर्णोपमाकी कोटिकी होती है और अुस स्थानका लेखन गंभीर तत्त्वचिंतन-प्रधान होने पर भी सुंदर और सरल साहित्यिक नमूना बन जाता है। अिसके दो-अेक अुदाहरण लीजिये :— पृष्ठ ४० पर गंगाप्रवाहको अखंड रखनेके लिअे अपने जीवनका बलिदान देनेवाले जलकणका दृष्टान्त। और चित्तकी स्थितिका चित्रण करनेके समय प्रयुक्त जंगलमें अुगे हुअे झाड़-झाखरोंका दृष्टान्त (पृष्ठ–१३०)। अैसे तो पाठकोंको अनेक दृष्टान्त मिलेंगे और वे चिन्तनका भार हलका करके चित्तको प्रसन्न भी करेंगे। जब वे किसी पद्यकी रचना करते हैं, तब अैसा लगता है मानो वे कोअी मार्मिक कवि हैं। अिसका दृष्टान्त पृष्ठ ५० पर है। 'जगमें जीना दो दिनका' अिस ब्रह्मानंदकी कड़ीका चमत्कारपूर्वक रहस्य खोलकर अुन्होंने जिस नवीन भजनकी रचना की है, अुसका भाव और भाषा जो कोअी देखेगा वह मेरे अिस कथनकी यथार्थता समझ सकेगा। प्राचीन भक्तों या प्राचीन शास्त्रोंके अुद्गारोंका गहरा रहस्य वे किस तरह प्रकट करते हैं, अिसका नमूना पृष्ठ ३८ पर मिलेगा। अुसमें 'हंसलो नानो ने देवळ जूनु तो थयु' अिस मीराकी अुक्तिका अुन्होंने कितना अधिक गंभीर रहस्य प्रकट किया है और अुसे गीताके 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं' श्लोकके रहस्यके साथ अैसा संवादी बनाया है कि अुसके पठन और मननसे तृप्ति होती ही नहीं। बार बार अुसके संवादकी गूंज चित्तके अूपर अुठती ही रहती है।

श्री मशरूवालाके सारे लेखोंमें ध्यान खींचनेवाली नीरक्षीर-विवेकी तत्त्वविवेचना यह है कि वे सिद्धान्तमें मिली हुअी या दूसरी किसी भी वस्तुओंमें से सार-असारको बड़ी खूबीसे निकाल लेते हैं और सार भागको जितनी तत्परतासे अपना लेते हैं, अुतनी ही कठोरतासे असार भागके मूल पर कुठाराघात भी करते हैं।

अैसी तो कितनी ही बातें दिखाअी जा सकती हैं, परन्तु मुझे तो विराम लेना ही होगा।

अहमदाबाद, २८ मार्च, १९४८ सुखलाल

अनुक्रमणिका

चौथा भाग : पूर्ण मानवोंकी पूर्ति

संसार और धर्म

पहला भाग

संसार

१

तत्त्वज्ञानके मूल प्रश्न[1]

माघ सुदी १३, शुक्रवार
(ता० ६-२-१९२५)

भाऔ श्री नगीनदास,[2]

आपका लेख और पत्र मैं पढ़ गया। आपके प्रश्नोंका अुत्तर दूं अुसके बजाय यह ज्यादा ठीक होगा कि तत्त्वज्ञानके विषयमें मेरी दृष्टि स्पष्ट करूं और अुस परसे आपके प्रश्नोंके अुत्तर आप ढूंढ लें। मेरा खयाल है कि अिसीमें से आपके प्रश्नोंके अुत्तर मिल जायेंगे।

आपके दोनों प्रश्नोंके मूलमें अेक वस्तु समान रूपसे मान ली गयी मालूम होती है। वह यह है कि तत्त्वज्ञानकी अुत्पत्ति जीवनकी निष्फलतामें से हुअी है, फिर चाहे यह तत्त्वज्ञान आश्वासन प्राप्त करनेके लिअे मनुष्य द्वारा की हुअी कल्पना हो या ढूंढा हुआ सत्य हो।

मुझे यह पूर्वग्रह गलत मालूम होता है। जिसे हम सांसारिक दृष्टिसे पूर्णतः सफल मनुष्य कह सकते हैं, वही यदि गहरा अव-लोकन व तुलना करनेवाला तथा विवेकशील भी हो, तो तत्त्वज्ञानकी शोध करनेवाला या अुसकी वृद्धि करनेवाला हो सकता है। जिस तरह भौतिक प्रकृतिगत नियमोंकी शोधके लिअे अलग-अलग दृष्टिसे किये गये प्रयोगोंमें से ही पदार्थविज्ञान, रसायन अित्यादि शास्त्रोंकी

१. विद्यार्थियोंकी ओरसे पूछे गये सवालोंके लेखक द्वारा दिये गये जवाब।

२. श्री नगीनदास पारेख, अुस समय 'साबरमती' मासिकके सम्पादक।

अुत्पत्ति हुआी है, जिस प्रकार चित्त-प्रकृतिके नियमोंकी शोधमें से योगशास्त्रकी अुत्पत्ति हुआी है, अुसी प्रकार अलग-अलग दृष्टिसे प्रकृति-मात्रका अंत ढूढ़नेके प्रयासोंमें से तत्त्वज्ञानकी अुत्पत्ति हुआी है। जिस प्रकार पदार्थविज्ञान अित्यादि भौतिक शास्त्रोंका तथा योगशास्त्रका क्रमशः अधिक विकास हुआ है और होता जाता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानका भी विकास हुआ है, होता जाता है और होना रहना चाहिये। क्या पदार्थविज्ञानको न समझ सकनेवाला मनुष्य भौतिक विद्याका या चित्तको न समझ सकनेवाला मनुष्य योगशास्त्रका अधिक विकास कर सकता है? अुसी प्रकार जीवनको न समझ सकने-वाला और जीवनको अपनी अिच्छानुसार न मोड़ सकनेवाला मनुष्य तत्त्वज्ञानका अधिक विकास कैसे कर सकता है? शंकराचार्य, बुद्ध, सॉक्रेटीस, जनक, याज्ञवल्क्य, श्रीकृष्ण, व्यास अित्यादिका तत्त्वज्ञानके निर्माण और विकासमें महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है। अिनमें से किसका जीवन निष्फल था? अिसलिअे मैं तो कहूंगा कि जिसमें सांसारिक दृष्टिसे सफल होनेकी योग्यता है, वही — गंभीर विचारक हो तो — तत्त्वज्ञानका अधिकारी हो सकता है; क्योंकि अैसा व्यक्ति ही अतिशय पुरुषार्थी और आत्मविश्वासी होता है। जैसा कि महाराष्ट्रके संत स्वामी रामदासने कहा है, जिसे सीधा-सादा अपना व्यवहार भी ठीकसे चलाते नहीं आता, वह परमार्थ कैसे साध सकता है? (यद्यपि दूसरी जगह अुन्होंने अैसा भी कहा है कि जो संसारके दुःखसे अत्यंत तप्त हो गया है, वही परमार्थका अधिकारी हो सकता है।)

परन्तु यह बात सच है कि हमारे देशमें तत्त्वज्ञान जीवनमें असफल रहनेवाले अैसे ही बहुतसे व्यक्तियोंका आधार बना है। स्त्री बुरी निकली, पैसा बरबाद हो गया, मित्रोंने धोखा दिया, आप्तजन मर गये, कामकाजमें सफलता नहीं मिली, तो चलो अब प्रभुकी शरणमें — अिस वृत्तिसे बहुतसे व्यक्ति अीश्वरके अथवा तत्त्वज्ञानके मार्गकी ओर मुड़े हैं, यह सच है। अिस निमित्तसे भी अुन्होंने जीवनके विषयमें कुछ सोचा-विचारा है और समझा है। यह भी सच है कि अिससे वे कुछ सत्यकी शोध कर सके और

आश्वासन प्राप्त कर सके। परन्तु ये वे लोग नहीं हैं, जिन्होंने तत्त्वज्ञानका विकास किया है, अुसमें वृद्धि-वृद्धि की है। रसायनशास्त्र या योगका सामान्य अभ्यास करनेवाले और अुसके शोधकमें जितना भेद है, अुतना ही भेद अिन दो प्रकारके तत्त्वज्ञानियोंमें है। अेकका प्रयत्न अभी तक हुअी शोधोंको समझ लेनेका है, दूसरेका अुन्हें समझकर अुसे आगे बढ़ानेका है।

अिस प्रकार तत्त्वज्ञान जीवनके मूल और अन्तकी खोजका अनुभवोंके आधार पर रचा गया शास्त्र है। जिस प्रकार भौतिक विद्याके सिद्धान्तोंकी अंतिम कसौटी प्रत्यक्ष प्रयोगसे होनेवाले अनुभवोंमें खरे अुतरनेमें होती है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंकी कसौटी भी प्रत्यक्ष अनुभवमें करनी चाहिये। जिस प्रकार भौतिक विद्याके सिद्धान्तोंकी सत्यताका प्रमाण प्रत्येक व्यक्ति माग या प्राप्त कर सकता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका प्रमाण भी प्रत्येक व्यक्ति माग या प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार भौतिक शास्त्रोंमें प्रयोग सिद्ध करनेके लिअे अध्यापकका आश्रय लेना होता है और अुनके अूपर श्रद्धा — अर्थात् प्रयोग सिद्ध करनेके लिअे लेने योग्य अुपायोंकी योजनाके लिअे अुसके वचनों पर विश्वास — रखना होता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका अनुभव लेनेके लिअे गुरुका आश्रय और अुस पर श्रद्धा आवश्यक होती है।

अब अिस प्रश्नका विचार करें कि तत्त्वज्ञान काल्पनिक आश्वासन है या सत्य सिद्धान्त है।

प्रत्येक शास्त्रको दो प्रकारकी क्रियाओंका विचार करना पड़ता है। अिन्द्रियगोचर क्रिया और अिन्द्रियातीत क्रिया। क्षारके कणमें से बिजली गुजरती नहीं है; परंतु अुसे पानीमें घोलनेसे अुसमें से बिजली गुजरती है। तेजकी किरणें सूर्यसे पृथ्वी तक आती हैं, अमुक वस्तुओंमें से पार हो जाती हैं, अमुकमें से नहीं होती हैं, अमुकमें से पीछे लौटती हैं, अमुकमें से तिरछी होती हुअी मालूम पड़ती हैं, तथा अमुक वस्तुमें से अेक प्रकारकी व्यवस्था करनेसे पार होती हैं

और दूसरी व्यवस्थासे पार नहीं होतीं। शब्दकी आवाज दूरसे आकर कानों पर टकराती है। ये सभी क्रियाअें अिन्द्रियगोचर हैं। यह अिन सब क्रियाओंका अवलोकन हुआ। कितने पानीमें किस प्रकारका कितना क्षार गलानेसे बिजलीका प्रवेश बहुत अच्छी तरहसे हो सकता है, कितने वेगसे किरणें आती हैं, किसमें से पार होती हैं, किस परसे लौट आती हैं, कहां कितनी तिरछी बनती हैं, किस प्रकारकी व्यवस्थामें किरणोंका प्रतिबंध (polarisation) होता है; ध्वनिकी गतियां किस प्रकारकी है — अिन सबके नियम भी अिन्द्रियगोचर प्रयोगोंसे खोजे और सिद्ध किये जा सकते हैं। परंतु क्षारके द्रवमें से बिजली किसलिअे गुजरती है, और क्षारके पानीमें गलनेसे अुसमें क्यों और कैसा परिवर्तन होता है, बिजली किस प्रकारकी शक्ति है, तेजकी किरणोंका रूप कैसा है, ध्वनिका रूप कैसा है — ये सब क्रियाअें और शक्तियां अिन्द्रियातीत हैं; अिसलिअे साधनोंके बिना अथवा साधनोंकी सहायतासे भी अिन क्रियाओं या शक्तियोंको प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। (कमसे कम आज तक तो वे प्रत्यक्ष नहीं की जा सकी हैं।)

मानव बुद्धिको अेक वस्तुका निश्चय हो गया है। जो कुछ क्रिया होती है, शक्तिका जो कुछ दर्शन होता है, अुसके पीछे कार्यकारण-भाव होना ही चाहिये। अिसलिअे जो अिन्द्रियातीत क्रियाअें होती हैं, अुनमें भी कार्यकारण-भावकी कल्पना किये बिना बुद्धिकी भूख तृप्त नहीं होती। जो कुछ गोचर हुआ है, अुसके अवलोकनके आधार पर बुद्धि अुसके अगोचर कारणोंकी कल्पना करनेका प्रयत्न करती है। अैसा प्रयत्न किये बिना मानव बुद्धिकी भूख तृप्त नहीं होती। फिर वह अिस बातकी जाच करती है कि अैसी युक्तिसंगत कल्पना द्वारा वह प्रत्येक अिन्द्रियगोचर क्रियाको किस हद तक समझा सकती है। कार्यकारण-भावको समझानेवाली अथवा विविध शक्तियोंके स्वरूपका वर्णन करनेवाली अैसी कल्पना वाद (hypothesis, theory) कहलाती है। अिस प्रकार रसायनशास्त्रका अणुवाद (atomic theory) विद्युदणुवाद (ionic theory), विद्युत्कणवाद (electron theory), सूर्यमण्डलवाद (solar system theory), तेज तथा बिजलीका तरंगवाद (vibration

theory), शब्दका लोलवाद (undulation theory) अित्यादि वाद हैं। अमुक अिन्द्रियगोचर क्रियाओंके पीछे रही अगोचर क्रियाओंको समझानेके लिअे रचे गये ये बुद्धिवाद हैं, कल्पनाअें हैं। ये अैसी ही हैं, जिनका कोअी सबूत नहीं दिया जा सकता। जहां तक अिन कल्पनाओंने सारी प्रत्यक्ष क्रियाओंका बुद्धिको संतोष देनेवाला खुलासा मिल सकता है, वहां तक अुस अुस विज्ञानके शास्त्री अुनका अुपयोग करते हैं। जब अैसी किसी क्रियाका खुलासा अुस कल्पना द्वारा नहीं होता है, तब वह अुस कल्पनाको छोड़कर विशेष युक्तिसंगत कल्पना करनेके लिअे प्रयत्नशील होता है। परंतु अैसे चाहे जिस वादका आधार विज्ञानशास्त्री ले, तो भी वह कभी किसी वादको सिद्ध नियम माननेकी भूल नहीं करता। वह किसी अेक वादको कभी अैसे दुराग्रहसे पकड़ नहीं रखता कि आवश्यकता पड़ने पर अुसका त्याग न कर सके।

जो बात भौतिक शास्त्रोंके विषयमें सत्य है, वह तत्त्वज्ञानके विषयमें भी सत्य है। जीवनकी कुछ घटनाअें और अुनके कारण हम प्रत्यक्ष अनुभवके द्वारा जानते हैं; कुछ घटनाओंको हम जानते हैं, परंतु अुनके कारण अप्रकट रहते हैं। अिन अप्रकट कारणोंके स्वरूपको ढूंढ़नेका प्रयत्न करनेवाली बुद्धिमें से विविध प्रकारके वाद पैदा होते हैं। अिस प्रकार मायावाद, लीलावाद, विवर्तवाद, पुनर्जन्मवाद, आनुवंशवाद, विकासवाद, बंधन-मोक्षवाद — अित्यादि सब वाद जीवनमें दीखनेवाली प्रत्यक्ष घटनाओंके अप्रत्यक्ष कारणोंको समझानेवाली कल्पनाअें हैं। जो वाद जितने अंश तक अधिकसे अधिक घटनाओंको युक्तिसंगत रीतिसे और सरलतासे समझाता है, अुतने ही अंश तक वह वाद अधिक ग्राह्य माना जाता है। परंतु चाहे जितने समय तक यह वाद ग्राह्य रहे, तो भी यह न भूलना चाहिये कि वह अेक वाद ही है। और जिस प्रकार रसायनशास्त्रका वाद जब तक वह प्रत्येक रसायन क्रियाका खुलासा दे सकता है तभी तक ग्राह्य रहता है, और अुसका स्वीकार प्रत्यक्ष क्रियाओंको समझने तथा अुन पर लागू करनेके लिअे ही रसायनशास्त्री करता है तथा अुसकी दृष्टि अुस वादके प्रत्यक्ष प्रमाण

प्राप्त करके अुन्हें सिद्धान्तके रूपमें स्थापित करनेकी ओर रहती है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके बाद भी जिस हद तक प्रत्यक्ष जीवनकी घटनाओंको समझानेमें अुपयोगी हो और प्रत्यक्ष जीवन पर संतोषपूर्वक लागू किये जा सकें, अुसी हद तक और अुसी हेतुके लिअे स्वीकार करने लायक हैं।

यहां तक भौतिक विज्ञान और तत्त्वज्ञानके बीचमें समानता बतलाअी। परंतु तत्त्वज्ञानके विकासमें कितनी ही दूसरी कठिनाअियां आती हैं, जो कि भौतिक विज्ञानके विकासमें नहीं आतीं। अिसका कारण यह है कि भौतिक विज्ञानका सीधा संबंध बाह्य पदार्थोंके साथ है। सुवर्णको अेक स्वतंत्र तत्त्व मानिये या किसी अेक तत्त्व और विद्युत्कण (electron) का सूर्य-मण्डल मानिये, अिससे हमारे और सुवर्णके बीचके व्यवहारमें कोअी अंतर नहीं पड़ता। परंतु तत्त्वज्ञानका जीवनके साथ सीधा संबंध है। यदि आप चार्वाकवादको मानते हैं तो जीवनकी रचना अमुक प्रकारसे होगी; मायावादको मानते हैं तो दूसरी तरहसे; लीलावादको मानते हैं तो तीसरी तरहसे; समवादको मानते हैं तो अेक प्रकारसे, विषमवादको मानते हैं तो दूसरे प्रकारसे। कर्मवादको मानते हैं तो अेक तरहसे, निष्कर्मवादको मानते हैं तो दूसरी तरहसे। अिस प्रकार आप जो वाद स्वीकार करते हैं, अुसके अनुसार आपके जीवनकी रचना जल्दी या देरीसे होने ही वाली है। अुसके अूपर आपके सुख, भोग, अैहिक अुन्नति अित्यादिका ही नहीं, परन्तु आपके चित्तकी समता और शांतिका भी आधार रहेगा।

सुवर्णकी तरह जीवनको अेक बाह्य पदार्थ मानकर अुसका अवलोकन और अध्ययन नहीं किया जा सकता। अिसलिअे जीवनके तत्त्वकी खोज अतिशय कठिन होती है। जीवन कठिनाअियोंसे छोड़ी जा सकनेवाली अनेक वृत्तियों, वासनाओं, संस्कारों, लालसाओं, भयों अित्यादिसे अितना रंगा हुआ होता है कि भौतिक शास्त्रोंकी तरह केवल तटस्थ रूपसे जीवन-सम्बन्धी खोज नहीं हो सकती। जीवनके विषयमें सत्य तत्त्वज्ञान क्या [illegible] वरन् वृत्तिका सुधार निरंतर अैसा तत्त्वज्ञान खोजनेकी

प्रस्त होता है, जो छोडी न जा सकनेवाली वृत्तियों, वासनाओं आदिको युक्तिसंगत और अुचित ठहरावे। जिसके परिणामस्वरूप अूपर गिनाओ हुआी कार्यकारण-भावोंको समझानेका प्रयत्न करनेवाली वादोंकी रचनाओंके अतिरिक्त अनेक प्रकारकी चित्ताकर्षक कल्पनाओं अुत्पन्न होती हैं और वे तत्त्वज्ञानका रूप ले लेती हैं। स्वर्गलोक, तपोलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, अक्षरधाम जैसे अेकसे अेक बढ़कर स्वर्गों, प्रलयके समय होनेवाले न्याय वगैराकी विविध प्रकारकी कल्पनाओं जिसी प्रकारकी चित्तके रंगमें रंगी हुआी कल्पनाओं हैं। ये कल्पनाओं रम्य हैं, पर तत्त्वज्ञान नहीं है। और न सिर्फ वे सत्य नहीं हैं, बल्कि सत्यको जाननेमें विघ्न-रूप हैं। परन्तु जिस प्रकारकी कल्पनाओं अेक प्रकारसे निर्दोष हैं, क्योंकि अुनका सीधा सम्बन्ध आजके प्रत्यक्ष और व्यक्त जीवनके साथ नहीं होता, बल्कि बहुधा मृत्युके पीछेकी स्थितिके साथ होता है, और जिसके कारण जिन कल्पनाओंमें श्रद्धा रखनेवालोंमें कुछ आशाका सचार होता है, और श्रद्धालुओंमें जितनी निर्मलता होती है, अुतनी वे अुन्हें अुन्नत करनेवाली भी होती हैं। जिसके सिवा जिन कल्पनाओंका तत्त्वज्ञानके साथ दूरका सम्बन्ध भी है, क्योंकि जिनमें मृत्युके बादकी स्थितिका तत्त्वदृष्टिसे अनुमान करनेका प्रयत्न है। अैसे कल्पनायुक्त तत्त्वज्ञानके विषयमें यह कहा जा सकता है कि वह अेक मनोरम स्वप्न है। परन्तु चित्तके रंगमें रंगी हुआी और तत्त्वज्ञानके नामसे पहचानी जानेवाली अैसी भी कल्पनाओं हैं, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष और व्यक्त जीवनके साथ होनेके कारण वे जितनी निर्दोष नहीं कही जा सकतीं। अुदाहरणार्थ, सुख, अैश्वर्य, ऋद्धि-सिद्धि, सौंदर्य, आनन्द जित्यादिकी लालसा। ये भी चित्तकी अैसी वृत्तियां हैं जो छोडी नहीं जा सकतीं, और बुद्धिका झुकाव जिन सबको न्याय्य और योग्य ठहरानेवाले तत्त्वज्ञानको ढूंढनेकी ओर होता है। सत्यकी खोज कर अुसमें जितना शिवत्व, सौंदर्य और आनंद होता है, अुतनेमें अुसे संतोष नहीं होता। परन्तु चित्तको जो शिव, सुन्दर और आनन्दरूप लगता है वह सत्य भी है, अैसा निश्चित करनेके लिअे वह प्रयत्नशील रहती है। अुसके सिद्धान्त भी तत्त्वज्ञानके नामसे पहचाने जाते हैं, परन्तु वे अक्षरधामकी कल्पनाकी अपेक्षा भी

सत्यसे अधिक वंचित रखनेवाले हैं; क्योंकि अुनमें सत्यकी जिज्ञासा या शोध नहीं, बल्कि पूर्वग्रहोंको न छोड़नेका आग्रह है।

अिसके अलावा तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धिमें अेक दूसरा भी पूर्वग्रह बाधक होता है। भौतिक विद्याका संशोधक अपने-आपको अिस प्रकार सीमामें बांध नहीं लेता कि मैं अिसका संशोधन अंग्रेजी पुस्तकों द्वारा ही करूंगा, या संस्कृत शास्त्रोंके द्वारा ही करूंगा; अथवा अिसमें डॉल्टनके मतको या केल्विनके मतको अैसा प्रमाणभूत मानूंगा कि अुनके कहे हुअे अेक भी शब्दकी सत्यासत्यता विचारनेका साहस या पाप मैं नहीं करूंगा; अथवा अमुक अेक पुस्तकने अिस विद्याका पूर्ण संशोधन कर डाला है, जिसलिअे अब अिन पुस्तकोंका अध्ययन करना, अिनका अर्थ लगाना, और अिन्हें समझानेके लिअे अिन पर भाष्योंकी रचना करना ही मेरा कर्तव्य रह जाता है। परन्तु भौतिक-शास्त्री अैसा कहता है कि मैं भाषा या नीतिका अभिमान करने नहीं बैठा हूं, बल्कि पदार्थोंकी खोज करने बैठा हूं; मैं मतोंकी पूजा करने नहीं बैठा, बल्कि सत्यकी शोध करने बैठा हूं; और शास्त्रोंका विकास करने नहीं बैठा, बल्कि विद्याका विकास करने बैठा हूं। अिसलिअे मैं प्रत्येक पुस्तकका प्रत्येक वाक्य पढ़ूंगा, अुस पर विचार करूंगा, परन्तु प्रमाणके बिना अुसे नहीं मानूंगा। तत्त्वज्ञानके विषयमें हमारी वृत्ति अिससे अुलटी होती है। प्रत्येक प्रजाने अपने तत्त्वज्ञानके विषयमें अैसा माना है कि अुसमें पहलेके ऋषि-मुनियों या पैगम्बरोंने सब पूर्ण कर रखा है, अुसमें अब संशोधन या परिवर्धनका अवकाश ही नहीं है, अुनके वचनों पर शंका अुठानी ही नहीं चाहिये। अब तो अुनके वाक्योंका जहां असम्बद्ध अर्थ लगे वहां अुनका सुसम्बद्ध अर्थ निकालनेका, अुन्हें विस्तारसे समझानेका, हो सके तो सबका मत अेक ही है अैसा सिद्ध करनेका और नहीं तो किसी अेकको स्वीकार करके अुसका दर्शन स्वीकार करनेका काम बाकी रहता है। अिस प्रकार तत्त्वज्ञान अेक फलती-फूलती विद्या मिटकर केवल शास्त्रार्थ करनेका विषय बन जाता है। मैं डॉल्टन मतका रसायनशास्त्री हूं और मैं केल्विन मतका रसायनशास्त्री

अैसा कोअी विज्ञानशास्त्री नहीं कहता, परन्तु तत्त्वज्ञानी शांकर, रामा-

अिस्लामी, अीसाअी अित्यादि मतोंका ही कहलानेमें गर्व मानता
यदि अिन सबका मत अेक हो तो अमुकका कहलानेमें कुछ अर्थ
है; और सबका मत अेक न हो तो साफ है कि अिनमें से
का मत सत्य नहीं हो सकता और कदाचित् सबके मनमें कुछ
या कुछ सत्य दृष्टि होनी चाहिये। तो सत्यके शोधकके
तत्त्वज्ञानीका यही धर्म हो सकता है कि वह प्रत्येक मनको
टी पर चढ़ावे। पूर्वके शास्त्रों और अुनके प्रणेताओंके विषयमें
नें आदर रखते हुअे भी वह यह आग्रह नहीं रख सकता कि
के वाक्यको कसौटी पर चढ़ाया नहीं जा सकता। फिर भी
ज्ञानके विषयमें अैसा हुआ है। हमारे देशमें अुपनिषद्-कालके
मानो अिस विद्याकी समाप्ति हो गअी है। बादमें वेद और
षद् विद्या पर केवल सूत्र रचने, भाष्य करने, टीकायें करने,
स्पष्टीकरण करनेके लिअे पुराण रचने, कथाअें जोड़ने और
अध्ययन कर करके अलग-अलग अर्थोंकी समालोचना करनेमें
तत्त्वज्ञानियों या पंडितोंने अपनी कृतकर्तव्यता समझ ली है। विद्याकी
वृद्धि लगभग रुक गअी है। क्योंकि शोधनकी वृत्तिमें ही नास्तिकता
ी आती है। और यदि किसीने कुछ जोड़ा भी है तो वह पीछेके
, अर्थात् प्राचीनमें से ही अपने अनुकूल ध्वनि निकलती है अैसा
लेका प्रयास करके। जैसा हमारे देशमें है, वैसा ही मुसलमान
ीसाअी धर्मोंमें भी है। जिस प्रकार भौतिक विद्यायें किसी देश
र्मकी खास बपौती नहीं हैं, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञान भी सार्वजनिक
है, यह हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया। अिससे न सिर्फ
ज्ञानकी शुद्धि-वृद्धि रुक गअी है, बल्कि जीव सदैव भ्रमयुक्त ही
र है।

भौतिक विद्याअें दिनोंदिन आगे बढ़ती जाती हैं, परन्तु अिसका
र्थ नहीं कि पुरानकालकी भौतिक विद्याअें बिलकुल असत्य
ती हैं। प्रकृतिके कुछ नियमोंके ज्ञानकी शोध अवश्य अितने प्राचीन
में हुअी थी कि सदियोंकी प्रगतिके बाद भी यह कहनेका प्रसंग नहीं
ा कि यह ज्ञान भ्रमात्मक है। अिसके विपरीत जैसे जैसे काल

तत्त्वता काल्पनिक नहीं है, अथवा अुसके शब्दों पर आप श्रद्धा रखें तभी अुसे देख सकते हैं अैसा भी नहीं है; वह आपको प्रयोगोंके द्वारा यह अेकरूपता सिद्ध कर दिखाता है। यही पद्धति तत्त्वज्ञानके विषयमें भी है और होनी चाहिये। अूपरी दृष्टिसे जिन धर्मोंकी शोध नहीं हो सकती, अुनकी शोध गहरे अवलोकनके द्वारा करना और अिन अवलोकनके परिणामोंको पद्धतिपूर्वक बतलाना, अिसीका नाम शास्त्र है। तत्त्वज्ञानके विषयमें यह नहीं समझा गया, जिसीलिअे श्रद्धाका विचित्र अर्थ किया गया है, और सबके अनुभवमें नहीं आनेवाली और न आ सकनेवाली कितनी ही कल्पनाओंको श्रद्धाके विचित्र प्रयोगसे सिद्ध करनेका प्रयत्न हुआ है। अैसी अैसी जितनी बातें तत्त्वज्ञानमें मिल गअी हैं, वे सब शास्त्र नहीं बल्कि (अधिकतर चित्ताकर्षक) कल्पनायें हैं।

हमारे यहां यह कहनेकी प्रथा है कि भौतिकशास्त्रों और तत्त्वज्ञानके बीच अुत्तर-दक्षिणके जैसा विरोध है। अिसे मैं गलत मानता हूं। दोनोंमें अितना ही भेद है कि भौतिकशास्त्र प्रकृतिके किसी अेक बीचके स्थानसे विस्तारकी ओर अपना अन्वेषण करते हैं, जब कि तत्त्वज्ञान अिस स्थानसे पीछे जाकर मूल तकका अन्वेषण करनेके लिअे प्रयत्नशील रहता है। सांख्य, वेदान्त, जैन चाहे जो दर्शन लीजिये; अुनका विचार करनेसे पर मालूम होगा कि अिन सबमें ९⁄१० भाग भौतिकशास्त्र (और आजकी वैज्ञानिक दृष्टिसे बहुत बार भ्रमात्मक भौतिकशास्त्र) है। तत्त्वज्ञानके साधकके अेक हजार दिवसोंमें से ९९९ दिवस प्रकृतिको समझनेमें ही व्यतीत होते होंगे। यह अनिवार्य है। क्योंकि प्रकृतिको समझे बिना तत्त्वज्ञान समझमें नहीं आता, और प्रकृतिको समझनेमें जितनी भूल रहती है, अुतनी भूल तत्त्वज्ञानमें भी प्रविष्ट हुअे बिना नहीं रहती। तत्त्वज्ञान अेक काल्पनिक शास्त्र है, अैसी मान्यता अिन भूलोंके कारण ही पैदा हुअी है।

अब आपका अेक प्रश्न रहता है। भोगोंका — वासनाओंका नियमन करना चाहिये या अुनका अुच्छेद करना चाहिये? यदि आप हीरेके विषयमें रासायनिक सत्य जानना चाहते हैं, तो क्या यह हो सकता

जो मनुष्य सत्यकी प्राप्तिको ही ध्येय बनाता है, अुसके लिअे सत्यकी शान्तिके मार्गमें सुखानुभव होता है या दुःखानुभव होता है, आयुष्य बढ़ता है या घटता है, आनंद होता है या शोक, ये विचार अप्रस्तुत हैं।

परन्तु वासनाओंका अन्त करनेका अेक खास तरीका है। हाथ पर लगी हुअी मिट्टी जिस प्रकार झटक देते या धो डालते हैं, अुसी प्रकार वासनाअें झटकी या धोअी नहीं जा सकती; अथवा जैसे पौधेको मूलमें से अुखाड़ा जा सकता है, वैसे वासनाओंका अुच्छेद नहीं हो सकता। परन्तु (जब साबुनका अुपयोग नहीं होता था तब) जिस प्रकार मिट्टीके तेलकी दुर्गन्ध निकालनेके लिअे नागरवेलके पानको हाथ पर मलते थे, अुसी प्रकार मलिन तथा स्वगुणकी ही वासनाओंको शुभ और परोपकारकी वासनाओंमें बदल देना चाहिये और अैसी शुभ वासनाओंकी विवेकसे शुद्धि करना चाहिये; तथा अुनका अितना पोषण करना चाहिये कि वे वासनाके रूपमें रहें ही नहीं, परन्तु केवल सात्त्विक प्रकृतिके रूपमें सहज गुण बन जायं। यही वासनाओंका अन्त करनेका मार्ग हो सकता है।

अिसलिअे 'वासनाओंका अुच्छेद किया जाय' शब्दोंका प्रयोग मैं नहीं करता, परन्तु यह कहना हूं कि वासनाओंकी अुत्तरोत्तर शुद्धि की जाय। अशुभ वासनाओंका शुभ वासनाओं द्वारा त्याग करना और शुभ वासनाओंको निर्मल करते जाना चाहिये। जिस प्रकार अत्यंत महीन अंजन आंखमें खटकता नहीं है, जिस प्रकार फूलका सूक्ष्म पराग वातावरणको बिगाड़ता नहीं है, अुसी प्रकार वासनाओंका अत्यंत निर्मल स्वरूप चित्त या जगत्‌के लिअे अशांतिकर नहीं होता। निर्वासनिकता और अिस स्थितिके बीचमें कोअी भेद नहीं है।

जीवन और जगत् दुःखरूप और मिथ्या है, अैसा भी आपका पूर्वग्रह बंधा हुआ मालूम होता है। आपने यह बताया है कि बुद्धके चार आर्यसत्योंमें यह पहला आर्यसत्य है। मैं यह नहीं जानता। श्री कोसंबीजीकी पुस्तकों परसे मैंने अिसे दूसरी तरहसे समझा है; और अुसका मैं जैसा अर्थ करता हूं, वैसा ही 'बुद्ध और महावीर' पुस्तकमें समझाया गया है। वस्तुतः जीवन और जगत् दुःखरूप है या सुखरूप

है, अैसा अैकान्तिक सिद्धान्त बनाना शक्य नहीं है। बौद्ध परिभाषामें कहूं तो व्यक्त जीवनमें अनुकूल वेदनाअें भी होती हैं और प्रतिकूल वेदनाअें भी होती हैं। प्रतिकूल वेदनाअें हों ही नहीं, अैसी स्थिति पर पहुंचना असंभव है। अैसी वेदनाओंमें से कुछ नैसर्गिक कारणोंसे अनुकूल-प्रतिकूल लगती हैं, कुछ आग्रहपूर्वक पोषित रसवृत्तिकी कल्पनाओंके कारण अैसी लगती हैं। अग्निके साथ चमड़ीका स्पर्श होता है, तब जो प्रतिकूल वेदना होती है, वह नैसर्गिक कारणसे होती है। अपनी मानी हुअी फैशनके अनुसार न सिया हुआ कुरता पहननेसे होनेवाली प्रतिकूल वेदना कल्पना-बलके कारण होती है। ये अंतिम दृष्टान्त हैं, परन्तु सब वेदनाओंके अैसे दो विभाग किये जा सकते हैं। जहां तक भान है वहां तक नैसर्गिक वेदनाओंकी अनुकूलता-प्रतिकूलता मालूम हुअे बिना नहीं रहती। अुन्हें धैर्यसे सहन करना चाहिये और वे प्रतिकूल हों तो अुन्हें दूर करनेके अुपाय करने चाहिये। कल्पनापोषित वेदनाओंसे होनेवाले सुख-दुःख केवल विवेक-विचारसे दूर हो जाते हैं।

यह मेरी विचारसरणी है। मैं नहीं कह सकता कि अिससे आपका कितना समाधान होगा। जितना अुपयोगी मालूम हो अुतना अिसमें से ले लीजिये।

२

जीवनका अर्थ *

स्वामी आनन्द अेक आदमीका किस्सा कहते हैं:

अेक गोरक्षा-प्रचारक थे। अुन्हें जब कभी मौका मिलता, वे गायकी महिमा पर भाषण देते और अनोखी दलीलें करते थे। अुदाहरणके तौर पर, चूना सफेद क्यों है? क्योंकि गायका दूध सफेद है। बगुला सफेद क्यों है? क्योंकि गायका दूध सफेद है। खादी सफेद क्यों है? क्योंकि गायका दूध सफेद है। वगैरा वगैरा।

ये दलीलें हमें कुछ फिरे हुअे दिमागकी निशानी जैसी मालूम होंगी।

---

* प्रख्यात अमेरिकन विद्वान विल डयूरेण्टने जगत्के कुछ समर्थ पुरुषोंसे नीचेके प्रश्न पूछे थे :

"अिस मानव जीवनका अर्थ क्या है? अिस सारे संसारका फैलाव क्या निरर्थक नहीं मालूम होता?

"ज्ञान-विज्ञानकी अितनी खोजें होनेके बाद भी मानव-सुखकी कहीं झांकी दिखाअी नहीं देती है। तो ज्ञानके पीछे बेतहाशा क्यों दौड़ा जाय?

"अिस मानव जीवनका अंतिम तत्त्व क्या है? आपको काम करनेकी प्रेरणा किस बातसे मिलती है? किस चीजमें आपकी श्रद्धा है? क्या आपको धर्मका आधार मिलता है? आपकी शांति, सन्तोष और विश्राम किस पर निर्भर है? आप किसके आधार पर जीवनका यह महान आरम्भ-समारम्भ करते हैं?"

बम्बअीके गुज० साप्ताहिक 'युगान्तर'की प्रार्थनासे लेखक द्वारा अिन प्रश्नोंका दिया गया जवाब।

जीवनका क्या अर्थ है? अिस सवालका जवाब देते समय अैसी ही दलीलें की जानेका डर है। अिसके सम्बन्धमें नीचे दी हुआी अेक प्रश्नोत्तरीकी कल्पना की जा सकती है।

प्र० — मानव जीवनके विस्तारका अर्थ क्या है?

अु० — वही जो दूसरे सूक्ष्म कीटाणुओंसे लेकर सिंह-हाथी तकके जीवनका है।

प्र० — अुनके जीवनका क्या अर्थ है?

अु० — वही जो पृथ्वीकी अुत्पत्तिका है।

प्र० — परन्तु अुसका भी क्या अर्थ है?

अु० — समग्र ब्रह्माण्डका जो अर्थ है वही।

प्र० — परन्तु अिस ब्रह्माण्डका सारा विस्तार किसलिअे है?

अु० — कोअी मानता है कि यह सब भगवानकी लीला है; कोअी मानता है कि यह सब जो दिखाअी देता है, वह केवल माया है; अज्ञानके कारण दिखाअी देनेवाला भास है। कोअी कहता है कि यह भगवानका विविध रूपोंमें आविष्कार है।

प्र० — परन्तु *अिन सबमें सत्य क्या है? आप क्या मानते हैं?* और यह लीला, माया, आविष्कार, वगैरा जो भी हो किसलिअे है?

अु० — यह विश्वकी आत्माका स्वभाव ही है।

प्र० — परन्तु अुसकी आत्माका स्वभाव अैसा क्यों है? अिस स्वभावका प्रयोजन क्या है?

अिस प्रकार अखूट प्रश्नमाला चलाते रहने पर भी संभव है हम जहा थे वही रहें।

क्योंकि अिस प्रश्नका सच्चा अुत्तर यह है कि हम "जानते नहीं।"

परन्तु "जानते नही" यह कहनेसे मनको तृप्ति नहीं होती। हम जिसे अनुभवसे नही जानते, अुसके सम्बन्धमें कल्पना करनेको *मन* अुतावला बनता है। "कुछ खुलासा नही दे सकते", अैसा कहनेमें स्वाभिमानको धक्का लगता है। फिर चतुर व्यक्ति विविध *कल्पनाअें*

करके अुनका जवाब ढूढ़ते हैं। अूपरकी प्रश्नोत्तरीमें अंतिम अुत्तर था, "आत्माका यह स्वभाव ही है।" वस्तुतः यह "जानते नहीं" का ही अनुवाद है। क्योंकि अंतिम प्रश्नका अुत्तर अितना ही दिया जा सकता है कि "स्वभावका अर्थ ही अैसा गुण है, जो पदार्थके साथ अविच्छिन्न रूपसे जुड़ा हुआ हो।" गायके गलेमें झालर क्यों है? क्योंकि वह गाय है, झालर नहीं होती तो वह गाय नहीं कहलाती। अिसी प्रकार पैदा होना और पैदा करना, फैलना-फैलाना, समेटना-सिमटना अित्यादि विश्वके मूलमें रहे हुअे तत्त्वका स्वभाव ही है। अैसा अुसका स्वभाव नहीं होता, तो अुस तत्त्वका अस्तित्व ही क्या रह जाता?

मतलब यह है कि व्यक्तिका जीवन, मानव-जीवन, अितर जीवन या जड़ सृष्टि — सब कुछ विश्व-जीवनका अेक अंश ही है; और वह अुत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके चक्रमें चलता रहता है, यह हमारा अुसके विषयमें अनुभव है। यह चक्र यदि किसी हेतुसे चलता हो, तो अुस हेतुके विषयमें हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं जानते। और हेतुको नहीं जाननेके कारण, अुसके विषयमें कोअी कल्पना करनेके बदले अैसा कहना ज्यादा ठीक है कि वह अुसका स्वभाव ही है।

मनुष्य अुत्पन्न होते हैं, जीते हैं और मरते हैं। अपने जीवन-कालमें वे समाजों और सभ्यताओंको जन्म देते हैं, अुनका विस्तार करते हैं और अुन्हें समेट लेते हैं, अथवा अुनकी अुत्पत्ति, विस्तार और संकोचनके निमित्त बनते हैं। अंतमें वे स्वयं ही विलीन हो जाते हैं। अिस प्रकार अनेक बार हो चुका है, अैसा हमने अितिहास द्वारा सुना है। अिस परसे "घानीका बैल सौ कोस चले फिर भी जहाँका तहाँ" अैसा अनेक बार लगता है। अिस कारणसे यह प्रश्न अुठा करता है कि आखिर अिस सारे निर्माण और नाशका मतलब क्या है? अिसके अुत्तरके रूपमें निश्चित ज्ञान तो मिलता नहीं है, केवल कोअी कल्पना अुत्पन्न होती है। अुससे कुछ व्यक्तियोंका चाहे तात्कालिक समाधान हो जाय, परन्तु अंतिम समाधान नहीं होता। क्योंकि अंतिम समाधान कल्पनासे नहीं, बल्कि अनुभवसिद्ध ज्ञानसे होता है। और अुसकी

शक्यता न हो तो वस्तुका स्वभाव तथा अुस स्वभावके नियमोंको जानकर अुनके आधार पर जीवन-निर्माणके नियमोंकी शोध करनेसे होता है।

* * *

व्यक्ति स्वयं जीवनको निमंत्रित नहीं करता। कमसे कम अुसे अैसा करनेका स्मरण नहीं है। वह हमें बिना मांगे मिलता है। और फिर भी, शायद ही कोअी मृत्युको न्योता देना चाहता है। कुछ व्यक्ति क्षणिक आवेशमें भले अैसा करें, परन्तु अधिकतर मनुष्य अनिच्छासे ही मरते हैं।

पुराणोंमें लिखा है कि अेक जमानेमें हजार या दो हजार या अिससे भी अधिक वर्षोंकी सामान्य आयु थी। ये बातें सच्ची होंगी अैसा मान लें, तो भी अुस आयुका अंत तो आखिर आया ही। पांच हजार वर्ष तक जीवित रहनेवाले भी अधिक जीवित रहनेकी अिच्छा न रखते हों अैसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ व्यक्तियोंकी धनसे कदापि तृप्ति नहीं होती, परन्तु अमुक सीमाके बाद अुससे संतुष्ट होनेवाले बहुतसे व्यक्ति मिलेंगे। परन्तु अधिक वर्षोंका जीवन न चाहनेवाले थोड़े ही होते हैं।

बिना मांगे मिली हुअी चीजको छोड़नेकी अिच्छा न हो, तो कहना चाहिये कि वह हमें मनपसंद भेंट ही लगती है। तब जीवन किसलिअे है यह प्रश्न ही अप्रस्तुत हो जाता है। वह आपको अच्छा लगता है, अितना ही कहना पर्याप्त है। अच्छा न लगता हो तो अुसे छोड़ देनेका मार्ग सबके लिअे खुला है।

परन्तु जीवन हमें अच्छा लगता है, अिसलिअे वह सदैव कायम रहे अैसा भी संभव नहीं है। कुछ लोग चिरंजीव हैं, अैसा कथायें कहती हैं। परन्तु हम अुनसे कभी मिले नहीं; या वे हमारे परिचितोंमें से किसीसे मिले हों, अैसा विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। यह लेख पढ़नेवालोंमें से कोअी चिरंजीव रहनेकी आशा रखता होगा या नहीं, अिसमें भी शंका ही है। अिसलिअे यह बिना मांगी भेंट आखिर छोड़नी

ही पड़ेगी, अैसा मान कर चलना चाहिये। रोग, घिसाअी* या हिंसासे नहीं, तो किसी दिन दुर्घटनासे ही अुसे छोड़ना पड़ेगा। जिस जमीन पर हम खड़े हैं वही नष्ट हो जायगी, तो फिर हमारी तो बात ही क्या?

अधिकसे अधिक मनुष्य अितनी खोज कर सकता है कि रोग, घिसाअी या हिंसासे अुसकी मृत्यु न हो। यह सिद्धि अभी सबके लिअे सुलभ नहीं है। अिसके विपरीत मनुष्य जिस प्रकारका जीवन जीता है, वह अैसा है मानो रोग, घिसाअी तथा मृत्यु दूसरों तक पहुंचानेका ही अुसका अुद्देश्य हो।

वस्तुतः जीवनका अर्थ क्या है, अिस प्रश्नका काल्पनिक अुत्तर पानेके प्रयत्नकी अपेक्षा जो अेक मार्ग हमारे सामने खुला है, अुसीको अपनाना अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। वह यह कि हम बिना मांगे मिली हुअी भेंटके स्वरूपकी जांच करें, अुसके अचल और चल नियम जानें, और अुसका अधिकसे अधिक तथा अच्छेसे अच्छा अुपयोग करनेका तथा अुस भेंटको अंतिम क्षण तक यथासंभव ताजी और नवीन रखनेका प्रयत्न करें।

नवीन बुनी हुअी चादरके साथ जीवनकी तुलना करके कबीर कहते हैं :

> सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी,
> ओढ़िके मैली कीनी चदरिया,
> दास कबीर जतनसे ओढ़ी
> ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।

* * *

* यहां बुढ़ापेके बजाय घिसाअी शब्द जानबूझकर काममें लिया गया है। अधिक अुमर हो जानेके फलस्वरूप होनेवाली घिसाअी सृष्टिके नियमके अनुसार शायद अनिवार्य भी हो सकती है। वह बुढ़ापेकी जरा या जर्जरता है। परन्तु भुखमरी, अत्यन्त परिश्रम, स्वच्छन्द या नियमहीन जीवन वगैराके कारण किसी भी अुमरमें पैदा होनेवाली जर्जरता घिसाअी कही जायगी।

मनुष्य बुद्धिमान होनेका घमण्ड करता है। परन्तु यह घमण्ड तो वैसा ही है जैसा दो वर्षका बालक माचिसकी पेटी जेबमें रखने और असे गुलगानेका ज्ञान रखनेका घमण्ड करे। माचिसकी पेटी अुसके पास है और वह माचिस जलाना जानता है, अिसकी अपेक्षा ज्यादा महत्त्व अिस बातका है कि माचिसका सही अुपयोग करनेका विवेक अुसमें है या नहीं। अुसी तरह मनुष्य बुद्धि रखता है अर्थात् तरह तरहका वैज्ञानिक ज्ञान और युक्तियां जानता है और खोज सकता है, अिसकी अपेक्षा अुसका सही अुपयोग करते आना अधिक महत्त्वका है।

आज हम अपनी प्रगतिके लिअे फूले नहीं समाते। देखते देखते विज्ञानका कितना विकास हो गया है और शीघ्रतासे होता जा रहा है! यहां तक कहा जाने लगा है कि पंद्रह मिनटमें सारी सृष्टिमें भयंकर अुथल-पुथल मचायी जा सके अिस हद तक विज्ञानका विकास होगा। पुराणोंने भगवानकी महिमा गाते हुअे कहा है कि "अुसकी भ्रकुटिके विलासमात्रसे ब्रह्माण्डोंका प्रलय होता है।" यह सिद्धि आज मनुष्योंके हाथमें आने लगी है। चंद्र और मंगल, गुरु और शनिके साथ सम्पर्क साधनेकी कला वैज्ञानिक शोध सकेगा, अैसी अुसे आशा होने लगी है। भोगसिद्धि और रोगके भी अनेक अिलाज खोजे जा रहे हैं। हिंसा करने और अुससे बचनेके भी नवीन नवीन मार्ग शोधे जा रहे हैं।

परन्तु रोग, घिसावी और हिंसाका जीवनमें स्थान ही न रहे, न खुदको अिनकी छूत लगे और न दूसरोंको — अिस प्रकारके जीवनके नियमोंको ढूढ़ने और अुनके अनुकूल संस्कृतिको विकसित करनेकी बुद्धि अभी तक खोजी नहीं जा सकी है।

* * *

जीवन किसलिअे मिला है, यह हम जानते नहीं। परन्तु जीवनके साथ जीवित रहनेकी वासना भी मिली है, अितना ही अनुभवपूर्वक हम जानते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जीवनकी अभिलाषाके साथ कमसे कम पांच दूसरी भेंटोंका भी मनुष्यको अनुभव होता है।

वे हैं जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सर्जकता, संकल्प और श्रद्धामय आशा। प्राणी मात्रको बिना मांगे जीवनकी भेंट मिली है; मनुष्यको जीवनके साथ ये अतिरिक्त भेंटें मिली हैं। ये भेंटें भी बिना मांगी मिली हैं, और ये किसलिअे हैं यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। अत: अितना ही कहा जा सकता है कि ये मनुष्यत्वके स्वभावभूत अंग हैं।

जीवनकी तरह यह बिना मांगी पूंजी भी स्थूल रूपमें अनन्त नहीं है। अुसका भी नाश होता है। अिसलिअे अुसका अर्थ और प्रयोजन ढूंढनेकी अपेक्षा नाश होनेके पहले ही अुसका अच्छेसे अच्छा अुपयोग कर लेनेकी और अुससे अधिकसे अधिक संतोष देनेवाला लाभ प्राप्त कर लेनेकी बुद्धिमत्ताका विकास करना, अुसके अनुकूल परिस्थिति निर्माण करना और हो सके तो दूसरोंको भी अुसका मार्ग दिखाना ज्यादा महत्त्वकी बात है।

अितना तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि अिन पांच प्रकारकी शक्तियोंको अनियंत्रित रूपसे बहनेके लिअे खुली छोड़ देना मानवकी सुख-शांति या अुसके संतोषका सही अुपाय नहीं है। अिसलिअे संयमकी तो आवश्यकता होगी ही। जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सर्जकता, संकल्प और आशा तथा अुनके परिणामस्वरूप अुत्पन्न होनेवाले भोगों और प्रवृत्तियों पर संयम रखना आवश्यक होगा।

संयम आवश्यक है, अिसलिअे विवेक आवश्यक है। किसी निश्चित नापसे क्या योग्य है और क्या अयोग्य है, अिसकी परीक्षा और पसंदगी करनेकी शक्ति होना जरूरी है।

और, संयम तथा विवेककी जरूरत है अिसलिअे की हुअी परीक्षा और पसंदगीके मुताबिक व्यवहार करनेकी आदतें डालना जरूरी है। केवल बुद्धिसे समझ लेनेसे काम नहीं चलेगा।

आदतें डालने-डलवानेमें मेहनत करनी होगी, सब कुछ सरलतासे नहीं हो सकेगा। जैसे जैसे आयु बढ़ेगी, वैसे वैसे यत्न करना अधिक

कठिन होता जायगा। समझके अनुसार आचरण न कर सकनेकी दुर्बलता पद-पद पर खटकती रहेगी और वह कभी भी शांति तथा संतोषका अनुभव नहीं होने देगी।

अिसलिअे, संयम और विवेकपूर्वक जीनेकी आदत डालनेकी मेहनत शुरूसे ही करना और कराना चाहिये; अिसे जीवनका आधारभूत नियम कहा जा सकता है। यह परिश्रम कठोर न मालूम हो, अैसे तरीके खोजनेका प्रयास भले ही किया जाय; परन्तु कठोर मालूम होने पर भी अुसे करना तो होगा ही; दूसरा कोअी अुपाय नहीं।

* * *

हमने अूपर देखा कि साधारण तौर पर मनुष्य जीना ही चाहता है, मरना नहीं चाहता। फिर भी मनुष्य अिस प्रकार आचरण करता दिखाअी देता है मानो रोग, घिसाअी और हिंसाको अपने लिअे न्योतना और दूसरों तक पहुंचाना ही मानव जीवनका अुद्देश्य हो।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' — अैसा आचरणका नियम बनाया जाता है; परन्तु कभी कभी यह नियम बहुत मार्गदर्शक नहीं होता है।

व्यसनका सेवन करनेवाला दूसरोंको भी व्यसनकी छूत लगानेका प्रयत्न करता है, और प्रेमसे करता है। वह अपने जैसा दूसरोंको बनाना चाहनेवाला तो जरूर कहा जा सकता है। परन्तु अुसका यह काम रोग और घिसाअीको दूर रखनेवाला नहीं है।

अिसलिअे 'समाजके हितके लिअे' अर्थात् दूसरोंको रोग, घिसाअी और चोट न पहुंचे, अैसा आचरण करनेका नियम होना चाहिये।

रोग और घिसाअी होनेके बाद अुन्हें सुधारनेके अिलाज ढूंढना आवश्यक हो सकता है, परन्तु अिससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि अुनका निर्माण ही न होने दिया जाय। यही बात हिंसाके सम्बन्धमें है।

परन्तु हम अुनका निर्माण करनेके पीछे ही रात-दिन लगे रहते हैं। अुसे ही हम विज्ञान और सभ्यता मान बैठे हैं। अेक ओर हम अधिकसे अधिक आनन्दके अुपभोगके लिअे व्यर्थ प्रयत्न करते हैं, अुनके लिअे बड़ी भारी मारकाट मचाते हैं, और दूसरी ओर कामके

मुखमें दौड़ते जाते हैं और दूसरोंको वेगसे अुसी ओर धकेलते हैं। अैसी हालतमें किसी दिन जीवनमें निराशा ही निराशा दिखाअी दे और जीवन निरर्थक लगे तो आश्चर्य क्या?

* * *

जीवन किसलिअे है, अिसका निःशंक अुत्तर जब मिलना होगा तब मिलेगा। अुसे संतोषकारक बनानेका नियम है "सामनेवाले जीवके हितके लिअे जीना"। अर्थात् भोगमें संयम रखना, भोगप्राप्तिके साधन प्राप्त करनेमें सामनेवाले जीवके हितको हानि न पहुंचे अैसा सदाचार पालना, रोग, घिसाअी और हिंसाके कारण दूर करनेवाले विज्ञानका विकास करना, अित्यादि।

और, संतोषके लिअे मनमें यह भी दृढ़तासे बैठा लेना आवश्यक है कि अिस बिन-मांगे जीवनका अंत आवेगा ही। वह भी अनसोचा और कदाचित् बिन-मागा होगा। अुसके लिअे सदैव तैयार रहना और सामनेवाले प्राणीके हितके लिअे हसते हसते मृत्युके सामने जाकर भी अुसका आलिंगन करना सीखना चाहिये।

यदि हम यह समझ सकें और अुसे जीवनमें अुतार सकें, तो जीवन किसलिअे मिलता है, टिकता है और नष्ट होता है, तथा वह किस दिशामें जा रहा है, अिसकी कल्पना करनेका बहुत कुतूहल भी नहीं रह जायगा। पृथ्वी यह नहीं पूछती कि मैं किसलिअे सूर्यके चारों ओर फिरती ही रहती हूं। गुलाब और पारिजातक पूछते नहीं कि किसलिअे हमें प्रातःकाल होने पर खिलना, सुगंध फैलाना और सन्ध्या होते समय कुम्हला जाना पड़ता है। चिड़ियां पूछती नहीं कि किसलिअे हमें घोंसले बांधने, अण्डे रखने और सेने तथा बच्चोंके पंख आने पर अुन्हें छोड़ देना होता है। अिसी प्रकार हमें भी यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है कि किसलिअे हमें जीवित रहना चाहिये, समाज-रचना करनी चाहिये, संस्कृतियां विकसित करनी चाहिये, बलिदान देने चाहिये और नीति-नियमोंकी रक्षा करनी चाहिये। अपना अपना कर्म बराबर करनेमें ही प्राणीमात्र संतोषका अनुभव करता है।

३१-१-’४६

"जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दु:ख-दोषानुदर्शनम्। . . .
"अेतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥"*
(गीता १३ – ८, ११)

"पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्।"
(शंकराचार्य, चर्पटपञ्जरिका, स्तोत्र – ८)

(पुन: पुन: जन्म, पुन: पुन: मृत्यु, और पुन: पुन: माताके अुदरमें गर्भवास।)

ये विचार केवल हिन्दू धर्ममें ही नहीं है। सभी धर्मोंके संतोंने संसारके प्रति वैराग्य पैदा करनेके लिअे मृत्युरूपी अवश्य होनेवाली घटनाका अुपयोग कर लिया है।

"जावुं जरूर मरी, मेलीने सर्वे जावुं जरूर मरी."[1]
(निष्कुलानन्द)

"कर प्रभु सगाथे दृढ प्रीतडी रे, मरी जावुं मेली धनमाल,
अंतकाले सगुं नहीं कोअीनुं रे."[2] (देवानन्द)

"आ तनरंग पतंग सरीखो जातां वार न लागे जी."[3]
(ब्रह्मानन्द)

"अिस तनधनकी कौन बड़ाअी, देखत नैनोंमें मिट्टी मिलाअी,
अपने खातर महल बनाया,

* जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, और दु:खादि दोषोंका ठीक अवलोकन — यह ज्ञान है, जिससे विपरीत अज्ञान है।

१. मरना तो अवश्य होगा, सब कुछ यहीं रखकर मरना अवश्य होगा।

२. हे मनुष्य, तू प्रभुके साथ दृढ़ प्रीति कर। सब धन-माल छोड़ कर तुझे मरना ही होगा। अन्तकाल आयेगा, तब सगे-सम्बन्धी कोअी काम नहीं आयेंगे।

३. अिस शरीरका रंग पतिंगे जैसा क्षण भरमें नाश हो जानेवाला है।

आप ही जाकर जंगल सोया;
कहत कबीरा सुनो मेरे गुनिया,
आप मुझे पीछे डूब गअी दुनिया ।"
"अै मुसाफिर कूचका सामान कर,
अिस जहांमें है बसेरा चंद रोज,
याद कर तू अै 'नजीर' कबरोंके रोज
जिन्दगीका है भरोसा चन्द रोज।"
"मिट्टी ओढ़ावन, मिट्टी बिछावन,
मिट्टीमें मिल जाना होगा।" (कमाल)

अिस तरह सैंकड़ों सन्तोंके अैसे सैंकड़ों अुद्गार यहां दिये जा सकते हैं। मेरी अपनी मनोवृत्ति भी अिससे भिन्न प्रकारकी नहीं थी। मनुष्य मृत्युपर्यंत संसारके कामोंमें दिलचस्पी लेता रहे, यह मुझे *ठीक नहीं लगता था। अैसा लगा करता था कि अिसमें अज्ञान तो है ही।* हमेशा अैसा खयाल बना रहता था कि जिस तरह होशियार मुसाफिर रेलगाड़ीके आनेके पहले ही अपना सारा सामान तैयार रखता है, अुसी तरह मृत्यु अभी आनेवाली है, अैसा मानकर मनुष्यको अपना कामकाज समेट कर रखना चाहिये। मेरी अैसी कुछ मनोवृत्ति बन गअी थी कि जीवनके आखिरी दिनोंमें संसारके कामोंसे हट जाना चाहिये, नअी जवाबदारियां नहीं लेनी चाहिये और निवृत्ति लेकर शांत बैठ जाना चाहिये।

दूसरी तरफ, बहुतसे मनुष्योंके जीवनको ध्यानसे देखने पर अैसा भी अनुभव हुआ है कि जैसे जैसे मनुष्यकी अुमर बढ़ती जाती है, वैसे वैसे अुसकी ज्यादा जीनेकी अभिलाषा और संसारकी चिन्ता घटनेके बजाय बढ़ती जाती है। पच्चीस वर्षकी अुमरमें निश्चयपूर्वक यह कहनेवाले कि पचास या पचपन वर्षकी अुमरमें निवृत्त हो जाना चाहिये अथवा ज्यादा वर्षों तक जीना ठीक नहीं है और पचास-पचपन वर्षके मनुष्यको 'बुड्ढा' या 'बुढ़िया' कहनेवाले जब खुद अिस अुमरमें पहुंच जाते हैं, तब कुछ वर्ष और जीनेकी अिच्छा रखते हैं और कोअी अुन्हें वृद्ध कहता है तो नाराज होते हैं। और यह अिच्छा अुमरके

बाद बढ़ती ही जाती है। यह वृत्ति केवल अज्ञानीकी ही होती है, अैसा भी नहीं। संसारको अच्छी तरह 'माया', 'स्वप्न', 'मिथ्या' समझनेवालोंकी भी होती है। शरीरकी अशक्तिके कारण भले संसारसे निवृत्त होना पड़े या मरना पड़े, परन्तु वह अच्छा नहीं लगता। सौ वर्ष तक जीवित रहनेकी अिच्छा चालीसवें वर्षमें जितनी तीव्र होती है, अुसकी अपेक्षा ८० वें वर्षमें ज्यादा तीव्र होती है। अपने बाद अपनी प्रवृत्तियोंकी और अपनी रची हुअी 'माया' की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिये, अिस विषयमें भी अुनके आग्रह और अभिलाषाअें होती हैं। अत्यन्त पिछड़े हुअे आदिवासीसे लेकर अतिशय विद्वान् तत्त्वज्ञानी तक किसीका भी जीवन देखिये, हरअेकके मनमें अपने शरीरके नाशके बाद रहनेवाले भिन्न जगत्के लिअे कुछ न कुछ रस दिखाअी देता है। अेक व्यक्ति संततिके द्वारा अपनी जीवन-लताका विस्तार चालू रखना चाहता है। (संततिका अर्थ ही विस्तार होता है।) दूसरा अपनी खुदकी संतानके अभावमें किसीको दत्तक लेकर पुत्रका सतोष प्राप्त करनेकी कोशिश करता है। तीसरा दान-धर्मादिसे अपनेको अमर करना चाहता है। चौथा अपने ग्रंथों और कला द्वारा, पांचवा अपने वीर कर्मों द्वारा, छठा अैसी संस्थाअें स्थापित करके अपनेको अमर बनाना चाहता है जो मृत्युके बाद ससारमें प्रकाश और आश्वासन फैलानेका काम करें। सातवां अपने अुपदेशों द्वारा अैसी सभी प्रवृत्तियोंको अज्ञान-युक्त और जगत्को मृगजलके समान झूठा समझाता तो है, परन्तु वह भी अिसी संसारमें अिन्हीं सिद्धान्तोंका पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर प्रचार होता रहे, अिसके लिअे सम्प्रदाय स्थापित कर जाता है। अिस बारेमें हिन्दू, मुसलमान, अीसाअी, पारसी, आस्तिक, नास्तिक, गोरा, काला, पीला, लाल, कोअी भी अपवाद नहीं है। ज्ञानियोंने साधना और भावना कर करके अिस रसका नाश करनेकी कोशिश की है। परन्तु जिन्होंने बहुत प्रखर साधना की है, वे ही अपने पीछे अधिक कीर्ति या सम्प्रदाय या शिष्य छोड़ गये हैं!

अैसा विरोध क्यों है? धर्म और तत्त्वज्ञानकी सामान्य मान्यताअें अिसका संतोषकारक अुत्तर नहीं दे सकतीं। जिस तरह हम साधारण

ओर पर मृत्युके पहले और मरणोत्तरको मानते हैं, अुस परसे हमने ऐसा समझा है कि शरीर तो मरता है और मरने ही वाला है; परन्तु हरअेकका जीवात्मा अर्थात् व्यक्तित्व अमर है। हिन्दू धर्मके अनुसार वह अमर जीवात्मा पुनः जन्म और पुनः मृत्युके चक्करमें पड़ता है। अुसकी मोक्षकी अेक अवधि है जरूर, परन्तु वह तो 'किसी सिद्ध पुरुष' के लिअे ही है। अन्य धर्मोंके अनुसार अुस अमर जीवात्माको शरीरके नाशके बाद कयामतकी राह देखते हुअे कबरमें वास करना पड़ता है। परन्तु दोनोंमें से अेक भी मान्यता अैसी कोअी आशा नहीं दिलाती कि वह जीवात्मा जिस समाजमें शरीर धारण करके रहता था, अुस समाजके साथ वह अवश्य किसी तरह जुड़ा रहेगा। पुनर्जन्मकी मान्यताके अनुसार तो मरनेवालेका पहला निवास प्रेतलोक या स्वर्गलोक या नरकमें होता है, और बादमें अपने कर्मानुसार वह किस अच्छी या बुरी योनिमें जन्म लेगा, यह कहा नहीं जा सकता। वह कीटाणुसे लेकर ब्रह्मा तक चाहे जिस योनिमें पैदा हो सकता है। परन्तु अपने परिचित संसारके साथ अुसका सम्बन्ध रहेगा, अैसा मुझे बिलकुल विश्वास नहीं होता।

अिस तरह जीवात्माका व्यक्तित्व अमर है, अिस सिद्धान्तने जीवात्माका मृत्युके बाद अिस समाजके लिअे जो रस रहता है, अुसका पुनाता नहीं मिलता। और यह रस तो सबमें किसी न किसी प्रकार रहा हुआ दिखता ही है।

अिसके लिअे हमें मनुष्यकी चित्त-शक्तिका अधिक गहरा अभ्यास करना होगा। हम आत्मा या परमात्माका स्वरूप बराबर समझने-समझानेके काबिल हों या न हों, मनुष्यकी चित्त-शक्ति (मन और बुद्धि) तो सबके परिचयकी वस्तु है। जैसे जैसे यह शक्ति बढ़ती है, वैसे वैसे अुसके रसों और कामोंमें कैसा फर्क पड़ता जाता है, यह हम देख सकते हैं। प्राणी विकसित होकर बाल्यावस्थासे तारुण्यमें आता है तब कैसा फर्क पड़ता है, और संकुचिततामें से विशालताकी तरफ

…त्‍तब कैसा फर्क पड़ता है, अुसे हम समझ सकते हैं। अुस
…है कि मनुष्यको अपने शरीर पर चाहे जितना मोह
…सुखी और दीर्घायु बनानेके लिअे वह चाहे जितना

प्रयत्न करे, तो भी जैसे जैसे अुसकी दृष्टि (बुद्धि) और रस (मन) खिलते जाते हैं और विशाल होते जाते हैं, वैसे वैसे अुसे मानो यह लगता जाता है कि मेरा यह प्राणवान शरीर ही मेरा जीवन नहीं है, परन्तु समग्र सृष्टिका जितना अंश वह अपना बना सकता है, वह सब मानो अुसका अपना ही जीवन है; शरीर पैदा होते हैं और मरते हैं, अुसी तरह मेरा शरीर भी कभी मरेगा; परन्तु जगत् तो चलता ही रहेगा और जिसके जिस अंशमें मेरा ममत्व है, वह अंश भी कायम रहेगा। अुसके मन तथा बुद्धिके विकास और शुद्धिके अनुसार यह अंश देश, काल तथा गुणके अधिक भागमें व्याप्त होता है; अर्थात् अपने शरीरसे ज्यादा बड़े भागके साथ अुसकी आत्मीयता होती है, वह ज्यादा लम्बी निगाहसे देखता है, और अधिक अूचे तथा विविध गुणोंका खयाल करता है। और जिस विकासके प्रमाणमें वह अपने शरीर या सुखके लिअे जो कुछ करता है, अुसकी अपेक्षा अपने पीछे रहनेवाले जगत्के सुखके लिअे अधिक मोह रखता है। और यह मोह जितना बलवान हो जाता है कि मौका आने पर वह अुसको अपने व्यक्तिगत सुखोंका और शरीरका भी बलिदान करनेकी शक्ति देता है।

कभी कभी मनुष्य अपने जीवनकी मर्यादा अपनी शारीरिक आयु तक ही बांधता जरूर है। परन्तु बुद्धिका विकास होनेके बाद कोअी भी मनुष्य जीवनको हमेशा अुतनी ही मर्यादामें रहा हुआ नहीं समझता। शास्त्रोंके आधार पर वह स्वर्ग, नरक, मोक्ष जित्यादि परलोकोंमें श्रद्धा रखता है तथा वहां अपने अलग अस्तित्वको टिका हुआ देखनेकी श्रद्धा भी रखता है। अुसी तरह स्वप्न, निद्रा, मूर्छा जित्यादि शारीरिक अवस्थाओंके भेदके कारण संसारको मिथ्या, माया, जिन्द्रजाल, भासमात्र माननेका प्रयत्न करता है। कभी योगाभ्यास करके समाधिमें भी लीन होता है। परन्तु जाग्रत जीवनमें अनुभव किये जानेवाले विश्वव्यापी जीवनको अपने जीवनकालमें — और चित्तभ्रम न हुआ हो तो सदाके लिअे — भूल जानेमें वह कभी सफल नहीं होता। जिस व्यापक जीवन सम्बन्धी अुसकी दृष्टि अल्प हो सकती है; परन्तु शरीरसे परे और शरीरके पीछे रहनेवाले संसारमें वह फैले बिना नहीं रहती।

भले संसार क्षण-क्षणमें बदलता रहता हो, फिर भी जिस तरह नदीके पानी, किनारों, बहावके वेग और मार्गके सदैव बदलते रहने पर भी अुस प्रवाहकी अखंडितताकी प्रतीति और रस बना रहता है, अुसी तरह सदैव बदलते रहनेवाले संसारमें भी वह प्रवाहकी अखण्डता देखता है, और अुस कारणसे संसारसे अुसका रस हट नहीं सकता। अैसा हो सकता है कि अपने संसारकी मर्यादा और अुसके हिताहितका विचार करनेकी अुसकी शक्ति अल्प हो और अुसके रस अशुद्ध हों; और जिससे वह अेक छोटेसे क्षेत्रको सारी दुनिया तथा अल्प हितको ही समग्र हित मान ले। अल्पता और अशुद्धिके ये दोष ज्ञान और योग्य शिक्षा द्वारा तथा अनुकूल परिस्थिति पैदा करनेसे कम होते हैं। परन्तु मनुष्यत्वका विकास अिस रसका नाश करनेके प्रयत्नमें नहीं, बल्कि अुसका अुचित पोषण करनेमें है।

४

जीवनमें मृत्युका स्थान

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥"

— जिससे यह अखिल जगत् व्याप्त है, अुसे तू अविनाशी जान। अिस अव्ययका नाश करनेमें कोअी समर्थ नहीं है।

"न जायते म्रियते वा कदाचित्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

— यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्यमें नहीं होगा अैसा भी नहीं है। अिसलिअे २ है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीरका नाश होनेसे अिसका नाश नहीं

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥"

—हे भारत, भूतमात्रकी जन्मसे पहलेकी और मृत्युके बादकी अवस्था देखी नहीं जा सकती; वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। असमें चिन्ताका क्या कारण है?

"देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥"

—हे भारत, सबकी देहमें विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, असलिअे भूतमात्रके विषयमें तुझे शोक करना अुचित नहीं है।
(गीता २-१७, २०, २८, ३०)

विश्वके विस्तार और क्षण-क्षणके सर्जन-विनाशमें दिखाअी देनेवाला व्यापक जीवन शारीरिक जीवनके जितना ही जीवनका महत्त्वपूर्ण रूप है। यह व्यापक जीवन जिस तरह किसी शरीरके धारण, पोषण तथा चित्तके विकास द्वारा प्रभावित होता है, अुसी तरह नाशके द्वारा भी प्रभावित होता है। अुदाहरणके लिअे, असाध्य रोग, बुढ़ापा या पागलपनसे निकम्मा बना हुआ शरीर केवल अुसके धारण करनेवालेको ही भाररूप नहीं होता है; परन्तु अुसके आसपास फैले हुअे जीवनके रास्तेको भी रोकता है। अुसकी मौतसे थोड़ी देरके लिअे खेद होता है या बनाअी हुअी कुछ योजनाअें बिगड़ जाती हैं, परन्तु परिणाममें मृत्यु खुद मरनेवालेके लिअे तथा आसपासके जीवनके लिअे राहतरूप और आगेके विकासके लिअे अेक आवश्यक घटनाके समान ही होती है। जब अनिच्छासे अथवा तथाकथित 'कुदरती कारणोंसे' मौत होती है, तब भी अैसा ही होता है। बलात्कारसे होनेवाली मौतके नतीजे अिससे भी ज्यादा स्पष्ट दिखाअी देनेवाले होते हैं। अैसा न होता तो कभी खून या लड़ाअी करनेकी वृत्ति ही पैदा न होती। जीवित प्राणियोंको मारा जाता है, क्योंकि मारनेवालेका यह सही या गलत खयाल होता है कि मरनेवालेके देह-धारणकी अपेक्षा अुसके देह-नाशसे पीछे रहनेवालोंका जीवन — अर्थात् व्यापक जीवन — अधिक अच्छी तरहसे

विकसित होगा। यह सहज ही समझमें आनेवाली बात है। अुदाहरणके लिअे, मौत खुद अेक रोज घटनेवाली घटना है, फिर भी यदि किसी प्रसंगसे अेकाध महायुद्धके किसी मुख्य पात्रकी मौत हो जाय तो युद्धमें हुअी सभी मौतोंका विशाल जीवन पर जो अेकत्रित असर होता है अुसकी अपेक्षा भी अिस मौतका असर बढ़ जाता है। अिसी तरहसे अपनी अिच्छासे की हुअी या स्वीकारी हुअी मौत भी जीवनकालमें अुन प्राणियोंके द्वारा की हुअी प्रवृत्तियोंकी तरह ही व्यापक जीवनको विकसित करने या अुसे अूपर अुठानेमें बलवान साधन बन सकती है। कुछ अैसे प्रसंगोंकी भी कल्पना की जा सकती है, जब जीवित प्राणियोंकी अत्यन्त बुद्धिपूर्ण और तीव्र प्रवृत्तिकी अपेक्षा अुनकी मौतका बल ज्यादा प्रभावशाली होता है। अैसा अनुभव न होता हो तो शहीद बननेका किसीमें अुत्साह या श्रद्धा ही पैदा न हो। अैसा लगता है कि अैसे प्रसंग पर होनेवाली मौत जीवनकी किसी प्रकारकी गुप्त अथवा रुकी हुअी शक्तिको प्रकट या मुक्त करती है। वह शक्ति देह-धारणकी अवधिमें सभी प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो सकती थी। परन्तु देह छूट जानेके बाद थोड़े ही समयमें वह जीवनकी प्रगतिको रोकनेवाली बाधाको दूर कर देती है।

प्राणी मृत्युको जीवनका शत्रु ही समझता है। परतु जीवनका अनुभव हरअेकको धीरे धीरे समझाता है कि वह जीवनका मित्र भी है। योग्य समयमें मृत्यु न हो, तो वह प्राणी अपने-आपको तथा दूसरोंको अप्रिय लगने लगता है और भाररूप हो जाता है, तथा दूसरोंके विकासमें बाधक भी होता है। बहुत थोड़े आदमी अैसे भाग्यशाली होते हैं, जो अपनी अुपयोगिता पूरी होते ही तुरंत चले जाते हैं। परन्तु मृत्युकी यह सेवा अुसकी घटनाके समय ध्यानमें नहीं आती। अिसलिअे प्रियजनों पर अुस समय तो शोककी छाया फैल जाती है। परन्तु धीरे धीरे अनुभव होता जाता है कि मौतने जो काम किया, वह दस वर्षके अधिक जीवनसे भी शायद नहीं हो पाता। विशाल जीवनको अुन्नत करनेके लिअे मौत कितनी जबरदस्त शक्ति निर्माण कर सकती है, अिसके दृष्टान्तके तौर पर हजरत अीसा और

अुनके पहले दिव्योंके, कुछ सिक्ख गुरुओंके तथा साधु टेलेमॅकसके आत्म-बलिदान पेश किये जा सकते हैं। अिन सबने मानव-जीवनका प्रवाह कितना ही बदल डाला है।

अिस तरह तटस्थतासे विचार करने पर मृत्यु जीवित दशाकी तरह ही जीवनको विकसित करनेवाली मालूम होती है। जब किसीको अैसा साफ मालूम हो जाय कि किसी कारणसे मेरी प्राणशक्ति प्रभावशाली ढंगसे काम नहीं कर सकती अथवा आसपासके जीवनमें योग्य शक्तिका निर्माण करनेमें निष्फल रहती है और जीवनकी अुन्नतिके लिअे वैसी शक्तिका निर्माण होना जरूरी है, तब स्वेच्छासे मृत्युको निमंत्रण देना कर्तव्य हो सकता है। मोक्ष अथवा स्वर्गप्राप्ति जैसे किसी व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे यह कदम अुठानेकी जरूरत नहीं है, अथवा न होनी चाहिये। फोड़े पर नश्तर लगानेकी शारीरिक शस्त्रक्रियाकी तरह ही अिसका निश्चय होना चाहिये। व्यापक जीवनके साथ अत्यंत आत्मीयताका अनुभव हो, तभी अैसा निश्चय हो सकता है।

यह निश्चय हो जाय तभी अैसी स्थिति आ सकती है कि —

"गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥"[1]

(गीता २ – ११)

और

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥"[2]

(गीता २ – ७२)

---

१. पंडित मृत और जीवितोंका शोक नहीं करते।

२. हे पार्थ, ब्रह्मको पहचाननेवालेकी स्थिति अैसी होती है। अुसे पाने पर फिर वह मोहके वश नहीं होता और यदि मृत्युकालमें भी अैसी ही स्थिति बनी रहे तो वह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

५

मृत्यु पर जीत

अब सोचने योग्य प्रश्न यह है कि यदि मृत्यु भी जीवनका ही अेक रचनात्मक बल और जीवनको विकसित करनेवाला साधन हो, और किसी प्राणीने अपनी मृत्यु कभी देखी ही नहीं यह बात सत्य हो, तो प्राणी मात्रको मृत्युसे अितनी ज्यादा नफरत और डर क्यों होता है? प्राण-धारणसे सच्चा वैराग्य मुश्किलसे ही क्यों हो सकता है? संसार दुःख-रूप ही है अैसा कहनेवाला और संसारमें दुःखका ही ज्यादा अनुभव करनेसे बारंबार मृत्युकी अिच्छा प्रकट करनेवाला मनुष्य भी आत्महत्याका प्रयत्न करनेके बाद जब मौत अुसके सामने आकर खड़ी होती है, तब दो क्षण अधिक जीनेकी अिच्छा रखता हुआ तथा बचनेके लिअे निष्फल प्रयत्न करता हुआ देखा जाता है।* हमारा स्नेहीजन बीमारीसे अुठ सके अैसी अुसकी हालत नहीं होती; सिर्फ पीड़ा सहन करता रहता है; अुसकी अुमर वगैराको देखते हुअे वह मर जाय तो अुचित समयमें ही चल बसा माना जायगा — अैसा समझते हुअे भी डॉक्टर और सगे-सम्बन्धी अुसकी आयुष्य-डोरीको दो घण्टे तो भी ज्यादा लम्बी करनेके लिअे छटपटाते हैं

---

* यहां मुझे अेक पाठ्यपुस्तककी वार्ता याद आती है। अेक बूढ़ा गरीब लकड़हारा लकड़ीका बोझ लेकर जंगलसे आ रहा था। रास्तेमें थक जानेके कारण बोझको जमीन पर फेंक कर गहरी आहके साथ "हे राम! अब तो मौत आ जाय तो अच्छा।" कहता हुआ बैठ गया। तुरन्त ही सामने अेक पुरुष आकर खड़ा हुआ और पूछने लगा: "क्यों भाअी! मुझे कैसे याद किया?" लकड़हारेने पूछा, "तुम कौन हो?" अुसने कहा, "मृत्यु — तुमने अभी मुझे याद किया था न?" लकड़हारा थोड़ा घबराया परन्तु चालाकीसे बोला, "भाअी, जरा यह बोझ मेरे सिर पर चढ़ा दो न!"

और वैसा करनेमें ही स्वधर्म मानते हैं। शास्त्र भले यह
कि जीव अजर-अमर है और बार बार जन्म लेता है, अ
अपना व्यक्तित्व कायम रखता है, फिर भी मनुष्यका बर्ताव तो
ही श्रद्धा प्रकट करता हुआ मालूम होता है कि जीवनके म
आयुष्य और आयुष्यके मानी जीवन है; तथा आयुष्यके अ
व्यक्तित्वका नाश हो जाता है और व्यक्तित्वके नाशके मानी
अन्धकार! अिस तरह मरनेवालेका या स्नेहियोंका मृत्युसे समा
नहीं होता, अिसका कारण क्या है?

यह बात सत्य है कि असमाधानका अेक कारण पारस्प
स्नेह है। वियोगका दुःख होता है और वह होना स्वाभाविक
परंतु जिसके साथ स्नेहका कोअी संबंध नहीं होता, अुसे भी हम भौ
बचानेका प्रयत्न करते हैं और अुसे मरता हुआ देखकर खेद
हैं। यह समभाव है। और जिसके पीछे अेक ही श्रद्धा काम क
हुअी मालूम होती है। वह यह कि 'जीता नर बसाता घर', म
वाला नहीं। 'मृत्यु मंगल-स्वरूप है' अैसा अनुभव करना बहुत कठिन

अैसा मानना ठीक नहीं कि तत्वज्ञानके सिद्धान्तसे विपरीत
अुलटी मनोवृत्तिका कारण केवल अज्ञान ही है। अिसका अेक का
यह हो सकता है कि जिस अवस्थाका अभ्यास या अनुभव नहीं है
अुसका डर लगता है। जिसे अंधेरेका अभ्यास न हो अुसे अंधेरेसे
लगता है; जंगलका अभ्यास न हो अुसे जंगलका और शहरका न
अुसे शहरका डर लगता है; पानीमें मुसाफिरी करनेका अभ
न हो अुसे स्टीमरका डर लगता है। मृत्युका पहले कभी अनु
किया हो अैसा किसीको याद नहीं होता, तो फिर अुसका अभ्य
तो हो ही कैसे सकता है? यह वस्तु अन्तमें अच्छी और सुखप्रद
तो भी जिस तरह अंधेरेमें अथवा पहली बार पानीमें अथवा पेरे
लेकर हवामें कूदते समय डर लगता है, अुसी तरह अिसका
लगना संभव है।

परंतु अिससे भी गहरा और महत्वपूर्ण अेक दूसरा कारण
अुसके पीछे रहता है। वह है मरनेवाले व्यक्तिकी प्रसिद्ध कामन

जब तक प्राणीको अैसा लगता है कि कुछ जानना, भोगना और करना बाकी रह गया है और अुसके पहले ही शरीर-यंत्रके रुक जानेका डर पैदा हो गया है, तब तक श्रद्धालु भक्त हो, वेदांती ज्ञानी हो, या सच्चा नास्तिक हो, किसीकी भी जीनेकी अभिलाषा मिट नहीं सकती। मुसाफिरी बाकी हो और मोटरका पेट्रोल खतम हो जाय या टायरमें छेद हो जाय, तो मुसाफिर ज्ञानी हो या अज्ञानी वह निराश हुओ बिना कैसे रह सकता है? लेकिन संभव है मुसाफिरी पूरी होनेके बाद मोटरका चाहे जो हो जाय तो भी अुसको शोक न हो।

जीनेकी अभिलाषा कामना और शरीर-यंत्रके बीच मेलके अभावका परिणाम है। "मारो हंसलो[1] नानो ने देवळ[2] जूनुं तो थयुं।" (मीराबाओी) अर्थात् कामनाओं बाकी रही और शरीर अुन्हें सिद्ध करनेके लायक नहीं रहा और अुसके पहले ही टूटने लगा। कभी अिसमें अुलटा होने पर शरीर-धारण भाररूप है, अैसा भी अनुभव होता है। खुद जो कुछ करनेकी अुमंग रखता था वह कर चुका, अब ज्यादा सोचनेकी या कामना करनेकी ताकत भी नहीं रही, शरीर भी जर्जरित हो गया है; परंतु हृदयका मांसपिण्ड अैसा मजबूत है कि अुसकी गति थमती नहीं और वह वर्षों तक शरीरको टिकाये रखता है। अिसकी तुलना कुम्हारके चक्रकी गतिके साथ की जा सकती है। 'हंसलो' छोटा रहे और 'देवळ' पुराना हो जाय, अुस स्थितिसे यह अुलटी है।

परंतु 'हंसलो' भी छोटा और बलवान हो और 'देवळ' भी मजबूत हो और फिर भी 'देवळ'को तोड डालने या टूटने देनेका अर्थात् मृत्युसे भेटनेका प्रसंग आने पर हिंमत और समाधान रहे, तब "मृत्यु मरी गयुं रे लोल"* (मृत्यु मेरी मर गअी रे) गानेकी योग्यता आयी, अैसा कह सकते हैं। यह कब होता है?

जब किसी मनुष्यके जीवनका ध्येय अैसा दीर्घकालीन और निःस्वार्थ हो कि अुसकी ही जिंदगीमें अुसका पूरा तरह सिद्ध होना असंभव हो; अुलटा अपनी सार्वजनिकता और कठिनाअीके कारण

१. हंसलो = आत्मा। २. देवळ = शरीर।

* गुजराती कवि नरसिंहरावकी कविताकी अेक पंक्ति।

वह अनेक व्यक्तियोंके समग्र जीवन-कर्म और बलिदानोंकी भी अपेक्षा रखता हो, तो वैसा ध्येय और ध्येयोंकी तरह पूर्णतया अुदात्त न हो पर भी अपने साथ ओतप्रोत होनेवाले व्यक्तिको अपना शरीर हिम्मत और संतोषपूर्वक छोड़ देनेकी शक्ति देता है। अुस मनुष्यको अुस ध्येयकी सिद्धिके लिअे जीनेकी भी अुमंग रहती है और अुसके लिअे यदि मरना जरूरी हो तो अुसमें मरनेकी भी हिम्मत आ जाती है। परंतु जो ध्येय चाहे जितना अुदात्त और कठिन होने पर भी सार्वजनिक न हो, अर्थात् समष्टिके जीवनको व्याप्त करनेवाला न हो बल्कि अुस मनुष्यकी व्यक्तिगत कामना ही हो — जैसे कि मोक्षकी — तो जब तक वह आदमी अपने ध्येयकी सच्ची या झूठी सिद्धि नहीं देखेगा, तब तक वह संतोष और हिम्मतके साथ मृत्युका स्वागत नहीं कर सकेगा। शरीरके थक जाने पर अनशन करके अुसका अंत करना ही श्रेय है, अैसा विचार करके अनशन शुरू करनेवालेकी भी अुस अनशनमें डिगनेकी संभावना रहती है।

जो मनुष्य सार्वजनिक ध्येय रखते हुअे भी अुसकी सिद्धि अपनी आंखोंसे देखनेकी व्यक्तिगत कामना रखता हो, वह मनुष्य भी *संतोषपूर्वक शरीरका अंत देखनेमें असमर्थ होता है।*

परंतु जिसका ध्येय तुलनामें कम अुदात्त — आध्यात्मिककी अपेक्षा आधिभौतिक माना जानेवाला हो, परन्तु ज्ञानपूर्वक अथवा सिर्फ परंपरागत संस्कारोंसे या जड़तासे भी सार्वजनिक हो, वह व्यक्ति जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें मामूली आदमी लगता हो तब भी अुस ध्येयकी सिद्धिके लिअे जरूरत पड़ने पर ज्यादा हिम्मत और संतोषके साथ मर सकता है।

व्यक्तिगत मोक्षके लिअे अनेक साधु पुरुषोंने बहुत बड़ा पुरुषार्थ और त्याग किया है और वे सिद्धिके पहले ही मर भी गये हैं। परंतु यदि वह मोक्ष काल्पनिक ही हो, तो मोक्षसिद्धि जैसा लगनेके बाद जो थोड़े समयमें ही मर गये वे तो संतोषपूर्वक मरे हैं; परन्तु जो अुसके बाद लंबे समय तक जीते रहे, वे मरनेके समय जीवित रहनेका प्रयत्न करते देखे गये हैं। क्योंकि काल्पनिक

मोक्षकी कृतार्थता मिट जानेके बाद कोअी बाकी रही हुअी कामना या ज्यादा आगे जानेकी कामना नवीन ध्येय बनती है; और वह जीवित रहनेकी अभिलाषा अुनमें कायम रखती है।

परन्तु जिसके जीवनका ध्येय जाने या अनजानमें विश्वके जीवनको किसी दिशामें ज्यादा समृद्ध बनानेवाला होता है, और अुसीमें जो अपना व्यक्तिगत श्रेय भी समझता है, अुसे अुस ध्येयके लिअे अपना जीवित रहना भी जिस तरह प्रयोजनरूप लगता है, अुसी तरह मरनेकी जरूरत होने पर मरना भी प्रयोजनरूप लगता है; और काम करते करते कुदरती मौत आवे, तब भी शान्ति और सन्तोष रहता है। अिस तरह कअी बार किसी धर्मके संस्थापककी अपेक्षा अुसके प्रचारक ज्यादा हिम्मत और संतोषके साथ अपना बलिदान देते हुअे पाये गये हैं। लड़ाअी, समाजसेवा, स्वामिभक्ति, देशभक्ति वगैरा सब क्षेत्रोंमें अैसा अनुभव होता है।

मृत्युको जीतनेका यही निश्चित मार्ग मालूम होता है। जीवनका ध्येय स्वलक्षी नहीं, व्यक्तिगत नहीं, परन्तु विश्वलक्षी, सार्वजनिक रखा जाय; अुसे ध्येय मानें या अपने श्रेयका साधन मानें; अथवा अपने श्रेयको ध्येय मानें और सार्वजनिक जीवनकी समृद्धिको अुसका अनिवार्य साधन मानें, यदि अपने श्रेय और विश्वजीवनकी समृद्धिके बीच विरोध नहीं पर सुमेल साधा होगा; यदि अुस ध्येयका कुछ अंश अपने ही जीवनकालमें और अपने ही हाथों या अपनी ही रीतिसे सिद्ध करनेका आग्रह नहीं रखा जाय बल्कि वह अितना लंबा और सार्वलौकिक हो कि अनेकोंके हाथोंसे दीर्घकालमें ही अुसकी सिद्धि शक्य हो, तो वैसे ध्येयके लिअे सन्तोषपूर्वक जीने और मरनेकी बहुत बड़ी संभावना रहती है। कोअी दूसरा ध्येय यह परिणाम नहीं ला सकता।

विश्वजीवन गंगोत्रीसे निकलकर समुद्रकी तरफ बढ़नेवाले गंगाके प्रवाहके समान है। व्यक्ति अुसके पानीकी अेक अेक बूंद जैसे हैं। सब बूंदें अेक-दूसरेके साथ मिलकर और सतत मिली हुअी रह कर लगातार आगे ही आगे बढ़ती रहती हैं; पीछेसे आनेवाली बूंदोंका प्रवाह आगे गअी हुअी बूंदोंको ढकेलता रहता है। और

पीछेकी तथा आगेकी बूंदें पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणसे समुद्रकी ओर वेग-पूर्वक दौड़ती ही रहती है। अैसा होता है तभी गंगा बड़ी नदीका रूप धारण करती है और अुसे समुद्र तक पहुंचनेकी सिद्धि मिलती है।

परंतु यदि अुस गंगाकी हरअेक बूंदके बारेमें अलग अलग विचार करें तो हरअेक बूंद समुद्र तक पहुंचती ही है, अैसा नहीं कह सकते। कितनी ही बूंदोंको आसपासकी और नीचेकी जमीन सोख लेती है; कुछको वनस्पतियां चूस लेती हैं या जीव-जंतु पी जाते हैं, कितनी ही अधबीचमें ही सूखकर भाफ बन जाती हैं; कितनी ही अनेक पदार्थोंके साथ मिलकर रासायनिक द्रव्योंका रूप ले लेती हैं। अिस तरह अगणित बूंदें समुद्र तक पहुंचती ही नहीं। दूसरी ओर, जिसे हम गंगाका प्रवाह कहते हैं, अुसे अपनी समृद्धि और सिद्धि यमुना, सोन, सरयू, गंडक, गोमती जैसी कितनी ही बड़ी बड़ी नदियों और सैकड़ों छोटे छोटे नदी-नालोंके अपने व्यक्तित्वका नाश करनेवाले स्वार्पणसे प्राप्त हुअी है। अिन अगणित बूंदोंका और अिन सैकड़ों नदी-नालोंका अिस तरहका सतत बलिदान न होता रहता, तो गंगाके प्रवाहको समुद्र तक पहुंचनेकी सिद्धि नहीं मिलती; अथवा मिलती तो भी जगत् अुसकी ज्यादा कीमत नहीं करता। क्योंकि गंगा हमें भव्य और माताके समान पालन करनेवाली अुसके समुद्र तक पहुंचनेवाले जलप्रवाहकी अपेक्षा अुसकी जज्ब होनेवाली, चूसी जानेवाली, पी जाने-वाली, सूखनेवाली और रसायन बननेवाली बूंदोंके कारण तथा अनेक नदी-नालोंको अपनेमें समा लेनेकी शक्ति रखनेके कारण लगती है।

फिर भी समुद्र तक पहुंचनेवाली या न पहुंचनेवाली हरअेक बूंद और नदी-नाला संपूर्ण रूपसे पानी ही है न? वह समुद्रमें पहुंचा नहीं है या अलग अलग प्रवाहके रूपमें बहता नहीं है, और अुसका व्यक्तित्व रहा नहीं है, जिससे क्या अुसके और समुद्रके बिन्दुओंके स्वरूपमें रत्ती भर भी अंतर पड़ता है? अथवा समुद्र तक न पहुंचनेके कारण या वहां पहुंचने तक अलग व्यक्तित्व न रख सकनेके कारण, क्या अुसका जलत्व कम कृतार्थ या कम सिद्ध हुआ माना जायगा? परंतु यदि कोअी बिंदु या नाला खुद ही व्यक्तित्वकी रक्षा करके

समुद्र तक पहुँचनेका आग्रह रखे, तो अुसे कृतार्थताका अनुभव नहीं होगा। तटस्थ न्यायाधीश अिसे अुसका मूढाग्रह समझेगा।

यदि हमें व्यक्तिगत सिद्धियां प्राप्त करनेका तथा हमारे व्यक्तित्वको सदाके लिअे अलगसे सुरक्षित रखनेका आग्रह न हो, तो हमारे जीवन और मृत्युके बीचका भेद मिट सकता है। अनासक्ति और अलिप्तताकी सिद्धि अिसके बिना संभव नहीं है अैसा कहिये, अथवा अिस स्थितिकी प्राप्तिको ही अनासक्ति या अलिप्तता कहिये। अिसी अर्थमें नीचेके श्लोक चरितार्थ हो सकेंगे:

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥"[1]

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥"[2]
(गीता २–७०,७१)

---

१. नदियोंके प्रवेशसे भरता रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्यमें संसारके भोग शान्त हो जाते हैं वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य।

२. सब कामनाओंका त्याग करके जो पुरुष अिच्छा, ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है।

६

जीवन सुखमय या दुःखमय ?

"न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥"

(भर्तृहरि, वैराग्यशतक, ८८)

संसार-जीवन दुःखमय ही है, अैसा सब धर्मों और दर्शनोंका तथा सामान्य रूपसे गभीरताके साथ अपना अनुभव प्रकट करनेवाले मनुष्योंका निश्चित मत मालूम पड़ता है। सांख्यकारिकामें कहा है कि :

"(ऊर्ध्व, मध्य और अध.—तीनों लोकोंमें) चेतन पुरुष जरा-मरणसे होनेवाला दुःख भोगता है। . . . अिसलिअे दुःख स्वभावसे ही है।"

(कारिका ५५)

योगसूत्र भी कहते हैं कि :

"सुख भी अस्थिरता, चिन्ता और सस्कारोंके दुःखोंवाले तथा गुण और वृत्तियोंके विरोधवाले होते हैं, अिसलिअे विवेकी पुरुष सबको दुःखरूप ही मानता है।"

(२-१५)

गीता भी दो जगह अिसका समर्थन करती है। नवें अध्यायमें कहा है कि :

"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।"[१]

(९-३३)

तथा तेरहवें अध्यायमें "जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानु-दर्शनम्"[२] (१३-८) को ज्ञानका अेक लक्षण बताया है।

---

१. अिसलिअे अिस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्म लेकर [तू] मुझे भज।

२. जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंका निरन्तर [भ]ान।

बौद्ध, जैन अित्यादि धर्मों और दर्शनोंका भी यही अभिप्राय है। अीसाओ और मुसलमान मतोंने भी अिन्हीं विचारोंको पोसा है। वैराग्य और संन्यास मार्गकी अुत्पत्ति भी अिसी मतमें से हुअी है।

सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक अित्यादि दर्शन सुखके अस्तित्वका ही अिनकार करते हुअे मालूम होते हैं। दुःखके आत्यन्तिक नाशका ही नाम सुख है। सुख या आनंदकी प्राप्तिका या अुसकी खोजका प्रयत्न केवल मिथ्या प्रयास है। बहुतसे अद्वैत वेदान्तियोंने भी आत्माका स्वरूप बतलानेवाले तीन शब्द सत्, चित् और आनंद असत्, अचित् और शोकका निरास करनेके लिअे ही माने हैं; अर्थात् असत् नहीं अिसलिअे सत्, जड़ नहीं अिसलिअे चेतन, शोकरूप नहीं अिसलिअे आनंदरूप। आत्मा तो सुख और आनदका सागर है, अुसमें निरतिशय आनद है, अित्यादि वर्णन प्रत्येक वेदान्तीको मान्य नहीं हैं।

पुराणोंमें मार्कण्डेय मुनिकी कथा है कि वे चिरंजीव मुनि अनेक सृष्टियोंमें घूमे तथा अुन्होंने अनेक सृष्टियोंकी अुत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे, परंतु कहीं पर भी अुन्हें यह अनुभव नहीं हुआ कि जीवन सुखमय है।

केवल सुभाषितोंमें भर्तृहरि ही कहीं पर आनंद और कहीं पर दुःखके दृश्य देखकर यह शंका प्रकट करते हैं कि कुल मिलाकर अिस संसारमें अमृत है या जहर, यह समझमें नहीं आता।

भर्तृहरिको अेक ही समयमें परंतु जुदी जुदी जगहों पर सुख-दुःख दोनोंके दृश्य देखकर शंका पैदा हुअी है। अर्थात् सारे ससारके विषयमें यह शंका है। परंतु अपना व्यक्तिगत या समष्टिका जीवन कुल मिलाकर सुखरूप है या दुःखरूप, यह भी विचारने जैसी बात है।

क्या सचमुच हरअेकको निजी अनुभवसे संसार अथवा जीवन हमेशा दुःखरूप ही मालूम हुआ है? क्या अिसके सुख भी दुःख देनेवाले और दुःख भी दुःख देनेवाले ही हमेशा साबित हुअे हैं? क्या मनुष्यकी संसार-संबंधी अनुभवोंकी स्मृति हमेशा भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक – किसी भी प्रकारके सुखके अंशसे रहित ही होती है? क्या अुसने दुःखके साथ सुखका भी अनुभव नहीं किया है?

क्या हरअेक सुख बादमें दुःखरूप ही मालूम हुआ है? या अुसकी स्मृति दुःख ही पैदा करती है? जिसमे अुलटा, क्या अैसा भी नहीं हुआ है कि कुछ दुःख भी बादमें सुखकारक निकले हैं अथवा दुःखकारक होने पर भी स्मृतिरूपमें सुख देनेवाले मालूम हुअे हैं?

और अैसे कितने आदमी हमने देखे हैं, जिन्होंने जीवनको दुःखरूप माननेके बाद भी अुसमें से सुख प्राप्त करनेकी या अुसे सुखकर बनानेकी आशा रखी ही न हो? कोअी अुपाय कोशिश करने जैसा मालूम हुआ हो और अुसे आजमानेकी शक्यता हो, फिर भी आजमाअिश न की हो? अुपाय मालूम न होने पर अुसकी शोध करना अुचित न माना हो? और जो कहते हैं कि हमने तो जीवनमें दुःख, दुःख और केवल दुःख ही देखा है और हम जीवनसे बिलकुल निराश हो गये हैं, अुनके सामने कोअी अुन्हें तत्काल गोलीसे अुड़ानेके लिअे तैयार हो, तो अुनमें से कितने अुसका कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करनेके लिअे तैयार होंगे? यह बात सच है कि बलवान विरोधी परिस्थितियोंके कारण, आलसके कारण या पुरुषार्थ करनेकी शक्ति न होनेके कारण, अथवा सोची हुअी सफलता न मिलनेके कारण बहुतसे लोग दुःखमें सडते रहते हैं, और अपने नसीबको दोष देते हैं अथवा ससार दुःखमय ही है अैसा बोध लेते हैं। परन्तु यह निराशाका परिणाम है। और निराशाका स्वभाव ही अैसा है कि चाहे जितना टीपटीप कर अुसका संस्कार मजबूत बनाअो, तो भी वह आशाकी अपेक्षा अल्पजीवी ही रहती है। जिस तरह गहरा अंधेरा छोटीसी दियासलाअीके सामने भी टिक नहीं सकता, अुसी तरह निराशा आशाकी किरणके सामने टिक नहीं सकती।

परंतु अंधकारको दूर करनेके लिअे आप अेकके बाद अेक दियासलाअी जलाते जायं, तो अैसा अनुभव होगा कि अधकार ही गाढ़ है और दियासलाअीसे अुसे दूर करनेका प्रयत्न बेकार है। अुसके बदले मोमबत्ती, लालटेन या मशालका प्रयत्न अधिक सफल होगा। परंतु मोमबत्तीके खतम हो जानेके बाद क्या, लालटेनका तेल खतम हो जानेके बाद क्या? यदि 'विवेकी' पुरुष अैसे ही सवाल पेश करता रहे,

तो मैं अुन मशालोंको विवेक नहीं मानूंगा। अिसके लिअे तो दूसरी मोमबत्ती या मशाल लाना अनिवार्य है, अैसा समझकर ही चलना चाहिये।

बुद्धने पहला आर्यसत्य यह गिनाया है कि जरा, व्याधि, मृत्यु, अप्रियका योग और प्रियका वियोग ये पांच दुःख प्राकृतिक हैं। बात सच है। अिनके सिवाय दूसरे सब दुःख तृष्णाजन्य हैं; वे तृष्णाको छोड़ देनेसे दूर हो सकते हैं। परन्तु क्या तृष्णा दूर करने मात्रसे छूट सकती है? हम जीर्ण होकर मर जायं और सब सत्पुरुषोंके ज्ञानामृतको रात-दिन पीते रहें फिर भी अेक दिन अचानक अैसा मालूम पड़ता है कि वह निर्मूल नहीं हुअी है।

और जो पांच प्राकृतिक दुःख गिनाये गये हैं, अुनके साथ ही जन्म, युवावस्था, आरोग्य, प्रियका योग और अप्रियका नाश अिन पांच आनंदोंको भी प्राकृतिक ही क्यों न कहें? और तृष्णाकी सिद्धिके समय अुसका सुख भी मिलता है, अैसा भी क्यों न कहें?

वस्तुतः संसार और जीवनके प्रति देखनेकी हमारी दृष्टिमें और अुसके संबंधमें हमारी अपेक्षामें ही दोष है।

गीताके दूसरे अध्यायका १४ वां श्लोक संसारके स्वरूपको ज्यादा सच्ची रीतिसे प्रकट करता है:

"मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां तितिक्षस्व भारत॥"*

जीवनमें सुख तथा दुःख दोनों अनित्य हैं, सुखरूप तथा दुःखरूप दोनों प्रकारके विषय आते हैं और जाते हैं। हम दोनोंको सहन कर लें। अनित्यमें नित्यकी आशा करना, और फिर कहना कि सुख अनित्य है अिसलिअे दुःख ही नित्य है, यह संसारका जो स्वभाव नहीं है, अुसकी अुससे आशा रखनेसे पैदा होनेवाली निराशा है। यह ठीक वैसा ही है जैसे गरम जलसे शरीर जल सकता है, यह जाननेके कारण अुसे

* हे कौन्तेय, अिन्द्रियोंके स्पर्श सर्दी-गर्मी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। अुन्हें तू सहन कर।

ने पर डालकर अग्निको और ज्यादा प्रज्वलित करनेकी हम
शा करें और वैसा न होने पर कहें कि गरम पानी जला सकता
यह बिलकुल झूठ है। गरम पानी जला सकता है यह सत्य है,
ंतु वह अमुक वस्तुको ही। जिससे ज्यादा आशा रखी जाय तो दोष आशा
खनेवालेका है, पानीका नहीं। अिसी तरह संसारमें सुख भी अमुक
ामें और परिस्थितियोंमें ही है, अुससे ज्यादाकी आशा रखनेवाला भूल
रता है। जो बात सुखके लिये सच है, वही दुःखके लिये भी है।

सुख और दुःखके बीचमें अेक दूसरा भी फर्क है। यदि संसारके
ायमें हम अैसी कल्पना कर रखें कि वह अैसे ढालकी तरह होना चाहिये,
ास परसे बगैर किसी कोशिशके और आरामसे हम नीचे खिसकते
ा सकें तो वह निराशा ही पैदा करावेगी। संसारका यह स्वभाव ही
नहीं है। क्योंकि अनित्य संसार और नित्य आत्माके बीच चाहे जितना
भेद मालूम होता हो, तो भी संसार आत्मामें से पैदा हुआ है। और
आत्मा हाथमें से छूटते ही खटसे नीचे गिरनेवाले पत्थरके जैसी नहीं
है, बल्कि हमेशा अूपर ही अूपर अुड़नेकी कोशिश करनेवाले गरुड़
जैसी है; और अुड़नेकी क्रिया ही अैसी है कि अुसमें कोशिश और
मेहनतके बगैर चल नहीं सकता। अिसी तरह संसारमें सतत
पुरुषार्थ, सतत मेहनत जीवनको आगे बढ़ानेकी अनिवार्य शर्त है। जिस
शर्तका पालन न किया जाय तो नीचे गिरना ही होगा; और वह
तो दुःखमय ही होना है। जिस शर्तका पालन करने पर भी कदाचित्
निष्फलता मिले और दुःख हो; परन्तु सफलता भी मिल सकती है
और सुख भी मिल सकता है। अैसा होनेसे सुख संयोगवश तथा
प्रयत्नाधीन और दुःख स्वभावसिद्ध मालूम होता है। परन्तु अुसका अर्थ
यह नहीं है कि संसार केवल दुःखमय ही है। हिमालय पर चढ़नेमें
सतत परिश्रम करना पड़ता है; नीचे गिरनेमें सतत परिश्रमकी जरूरत
नहीं होती; बगैर कोशिशके — अनिच्छासे भी — कभी वह हो सकता है।
यह संभव है कि चढ़नेका परिश्रम करने पर भी कभी निष्फलता
मिले। परंतु अिससे पृथ्वीको घाटियों और पर्वतोंवाली न कह कर
केवल घाटियों और गड्ढोंवाली ही कोअी कहे तो वह ठीक नहीं है।

और, बहुत विचारने जैसी बात तो यह है कि संसार दुःखरूप ही है असा तत्त्वसिद्धान्त होने पर भी, प्राणीके हृदयमें से संसारको सुखरूप बनानेकी आशा और प्रयत्नोंका कभी अुच्छेद ही नहीं होता, अिसका कारण क्या है? अिसका यह जवाब दिया जाता है कि आत्मा सुखरूप है, और अिस आत्मसुखका संसारको लगा हुआ रंग अज्ञानके कारण संसारमें सुखका भास कराता है; वस्तुतः अपनेमें रहे हुअे सुखके अनुभवके बारेमें प्राणी भूलसे अैसी कल्पना करता है कि वह बाहरसे आता है। अपनी नाभिमें रही हुआी कस्तूरीको जिस तरह हिरन बाहर खोजता है, अुसीके जैसी यह भूल है। मेरे विचारसे यह जवाब अधूरा है। विचार करने पर मुझे अैसा लगता है कि आत्मामें से ही अिस संसारका अुद्भव है, और आत्मा तथा संसारके स्वरूपमें परस्पर विरोधकी कल्पना करना गलत है। आत्मा अनंत शक्तिमान है, अिसलिअे संसार भी अनंतरूपी है; आत्मा सतत क्रियावान, गतिमान है, अिसलिअे संसार भी सतत बदलनेवाला है; आत्मा सतत ज्ञानरूप है, अिसलिअे संसार सतत नये नये अनुभवोंसे भरा हुआ है। संक्षेपमें, निरंतर नये नये रूपोंमें अपनेको प्रकट हुआ देखना आत्माके स्वरूपमें से पैदा होनेवाला अवश्य स्वभाव है। ये अनंत रूप अलबत्ता अेकसे नहीं हो सकते; परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। और अिसलिअे कभी सुखकी वेदना करानेवाले और कभी दुःखकी वेदना करानेवाले होते हैं। सुखकी वेदना पैदा करके वहां स्थिर रहना आत्माके स्वभावमें नहीं है; अिसलिअे नवीन वेदना ज्यादा सुखकी या कम सुखकी होती है अथवा दुःखकी भी होती है। दुःखकी वेदना पैदा करके अुसमें संतोष मानना या हमेशाके लिअे निराश होकर बैठ जाना भी आत्माका स्वभाव नहीं हो सकता। क्योंकि अेक ही जगह और अुसमें भी निष्फल स्थल पर स्थिर रहना अुसके ज्ञान-क्रियाशील स्वभावके विरुद्ध है। अिसलिअे जहां जहां दुःखका अनुभव हो, वहां वहां अुसके साथ झगड़ना और अुसमें से निकलनेके लिअे प्रयत्न करना, और सुखका अनुभव हो वहां अुसे समृद्ध करनेके लिअे प्रयत्न करना अुसके स्वभावका परिणाम-

स्य धर्म है। अुसके स्वभावके विरोधी तत्त्वज्ञानका चाहे
प्रचार हो, और कोअी विरला योगी अैसे तत्त्वज्ञानमें दृढ़ लगने
दिखाओ दे, तो भी अैसा तत्त्वज्ञान जगत्‌में कभी स्थायी नहीं
होगा। अिसलिअे जरा, मृत्यु, रोग, अप्रिय परिस्थितियोंके
और प्रिय परिस्थितियोंके वियोगसे अनिवार्य दुःखोंको दूर
तथा बल, आरोग्य, दीर्घायु, प्रिय परिस्थितियोंके योग और अ
वियोगसे प्राप्त होनेवाले सुखोंको सिद्ध करनेके लिअे प्रयत्न
ही अुचित पुरुषार्थ और जीवनका ध्येय हो सकता है। अलबत्ता,
विवेक तो होना ही चाहिये; अर्थात् ज्ञान होना चाहिये। ज्ञानकी
कारण पुरुषार्थकी निष्फलताके बार बार प्रसंग आयेंगे। और
चाहिये, यानी अुन प्रयत्नों तथा अुनके परिणामोंके विषयमें
आशा नहीं रखनी चाहिये; नहीं तो निराशा होगी ही। गलत आ
यें हैं: प्रयत्नको सोचा हुआ फल मिलना ही चाहिये, वह प्रयत्न
अुसका परिणाम सुखरूप ही होना चाहिये, दुःखरूप होना ही
चाहिये; अुसमें मेहनत होनी ही नहीं चाहिये अथवा हो भी तो बहु
होनी चाहिये। अैसी अैसी गलत आशाओंका नाम ही फलासक्ति

परन्तु मिथ्या आशाअें न रखते हुअे भी अितना तो
चाहिये कि आत्मा सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। अिसलिअे वह
स्थितिको प्रकट करनेके लिअे विवेकपूर्वक प्रयत्न करती है और
पीछे सतत लगी रहती है, वह योग्य कालमें सिद्ध होती ह
अिसलिअे संसारको संशुद्ध, समृद्ध और निर्दोष बनानेवाला
सतत करते रहना और अैसा करते हुअे सुख-दुःख, लाभ-हानि
अपयश वगैरा जो कुछ भी आ पड़े अुसे सहन करनेके लिअे तैयार
अुसके लिअे जीवनको टिकाये रखने जैसा और जरूरत पड़े तो
बलि देने जैसा भी समझना — अिसीमें विवेकी और पुरुषार्थी म
लिअे अपना तथा विश्वके जीवनका श्रेय तथा ध्येय प्राप्त
समर्थ हो सकता है। अिसमें से ही मानवधर्म और व्यक्तिका
प्राप्त होगा।

'जगमें जीना दो दिनका'?

जब मैं सन् १९४२ में रायपुर जेलमें कैदी था, मेरे वार्डके बाजूमें ही स्त्रियोंका वार्ड था। वहाँसे सुबह-शाम प्रार्थनाकी आवाज सुनाओ देती थी। अुसमें अेक भजन रोज गाया जाता था। अुसका ध्रुवपद था — 'जगमें जीना दो दिनका'। मेरा खयाल है कि वह भजन ब्रह्मानन्द-भजनमालाका है। अिसी भावके हमारे भक्ति-साहित्यमें सैकड़ों भजन हैं। कबीरका 'अिस तन धनकी कौन बड़ाओ' प्रसिद्ध ही है। अिन भजनोंमें सत्यांश और बोध लेने लायक कुछ भाग तो है। फिर भी मुझे ये विचार कुछ अखरते थे। कओी दिन तक अुसे सुनते रहने पर मेरे साथ रहनेवाले श्री तुकड़ोजी महाराजसे मैंने अेक दिन विनोदमें कहा — "ये बहनें कैसे मान सकती हैं कि 'जगमें जीना दो दिनका' है? मास-डेढ़ मास तो हमें ही सुनते-सुनते हो गया।" खैर, यह तो मजाक था, लेकिन अुसके प्रत्युत्तररूप नीचेका भजन है:

> क्यों कहो जी साधो, जगमें जीना दो दिनका?
> गलत खयाल न बांधो, जगमें जीवन दो दिनका।

तन लघुजीवी, जग चिरजीवी अविनाशी जीवनका;
जगके कार्यालयमें तन है साधन केवल जीवनका। — क्यों०

देह मरे दो दिन या युगमें, अन्त नहीं वह जीवनका;
न कार्य ही नाश सभी होता, किया जो तनने जीवनका। — क्यों०

चरित-बुद्धि-वीर्य-मृत्युसे विकास जगके जीवनका;
गुण-विद्या-कीर्ति-धन-वंशज दान है तनके जीवनका। — क्यों०

तन जानेसे डूब गओी दुनिया, सत्य नहीं यह जीवनका;
तन जावे और जगत् डूबे, पर तू स्वरूप अक्षय जीवनका। — क्यों०

फरवरी, १९४४

संसार और धर्म

दूसरा भाग

ओश्वर

१

अवतार-भक्ति

जड या चेतन — अैसी कौनसी वस्तु है जो परमात्मासे भिन्न है? वस्तुतः हरअेक सत्त्व या पदार्थ परमात्मा ही है। फिर भी सनातनी हिन्दू हरअेक सत्त्वकी अुपासना या भक्ति नहीं करता; प्रतापवान और प्रतापहीन सत्त्वका भेद करता है और थोडेसे प्रतापवान सत्त्वोंमें विशेष रूपसे परमात्माके भावकी प्रतिष्ठा करता है; जैसे कि अवतार या अपने सद्गुरु आदिमें। अुन्हें वह परमात्मारूप मानकर अुनकी अुपासना तथा भक्ति करता है।

बहु-जनसमाज अवतारमें परमात्मभाव रखता है, और शिष्य अपने सद्गुरुमें।

आम तौरसे लोकमत अैसे व्यक्तिको अवतारका पद देता है, जिसका प्रताप बहुत व्यापक तथा प्रसिद्ध हो तथा जिसके द्वारा बहुत लोककल्याण हुआ हो। सद्गुरुका प्रताप अपने शिष्यमण्डलके बाहर ज्यादा फैला हुआ नहीं होता। अुसके हाथों हुआ लोककल्याण अेक ही क्षेत्रमें और वह भी मर्यादित होता है। फिर भी दोनों परमात्माकी तरह अुपासना और भक्तिके पात्र माने जाते हैं।

परमात्माकी अुपासना — भक्ति तो अीसाअी, मुसलमान, पारसी अित्यादि सभी अीश्वरवादी धर्मोंको मान्य है। फिर भी वे लोग किसी भी सत्त्वको परमेश्वरके समान नहीं मानते तथा किसीकी अैसी भावना या भक्तिसे अुपासना भी नहीं करते।

प्रश्न यह है कि अवतार या सद्गुरुकी परमात्मारूपसे अुपासना — भक्ति करना क्या अुचित है? क्या राम, कृष्ण, शंकर आदि अैतिहासिक या रूपकात्मक अवतारों या देवोंको या अपने सद्गुरुको 'साक्षात् परब्रह्म' समझना और अिस भावनासे अुनकी अुपासना या ध्यान-भजन करना अुचित है?

मैं अद्वैत सिद्धान्तको माननेवाला हूं, सद्गुरुके द्वारा मैंने लाभ अुठाया है और गुरुभक्ति करता हूं। तो भी मैं यह कहना चाहता

हूं कि अुपासना करनेकी यह रूढ़ि और किसीमें अैसी श्रद्धा रखनेके संस्कार छोड़ दिये जाने चाहिये। तत्त्व तथा प्रत्यक्ष परिणाम — दोनों दृष्टियोंसे अिस प्रकारकी अुपासना दोषपूर्ण है।

तत्त्वकी दृष्टिसे अिसलिअे कि सत्त्वमात्र — पदार्थमात्रमें परमेश्वरकी अंशमात्र शक्तिका ही दर्शन होता है। कोअी पूरा नमूना हो ही नहीं सकता। सिर्फ मनुष्यको ही लें तो मनुष्यताका भी पूर्ण और सर्वकालके लिअे पूर्ण स्वरूप किसी अेक सत्त्वमें नहीं आ सकता। और मनुष्य तो जड़-चेतन सृष्टिका अेक अणुमात्र अंग है। 'विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।' (अिस सारे संसारको मैंने अेक अंशके द्वारा ही धारण कर रखा है: गीता १०–४२) अिसमें राम, कृष्ण आदि सब आ जाते हैं।

प्रत्यक्ष परिणामकी दृष्टिसे अवतार या गुरु द्वारा औश्वरकी सगुणोपासना बहुत कल्पनाप्रधान, भ्रामक और विपरीत मार्गकी ओर बहती हुअी देखनेमें आती है।

हजारों वर्ष पहले हो गये अिन अवतारोंके सच्चे चरित्र हम नहीं जानते। जिन ग्रन्थोंमें अिनके पूरे या अधूरे अंश मिलते हैं, वे क्षेपकोंसे भरे हुअे हैं, खास अुद्देश्यसे अुनमें घट-बढ़ की गअी है। वे अंश परस्पर विरोधी बातोंसे भरे हुअे हैं और अुन्हें दिव्यताका जामा पहनाया गया है। अिसलिअे ये पुरुष सचमुच कैसे थे, अिसकी सच्ची कल्पना नहीं आ सकती। हरअेक सम्प्रदाय या भक्त अपनी कल्पनाके राम, कृष्ण आदि बनाकर अुनकी पूजा करता है। और सिर्फ पूजा ही करता है। अुनके अनुयायी अुनके चरित्रके अनुसार अपना चरित्र नहीं बनाते।

अुनकालमें हो गये कृष्णका कोअी भक्त स्वयं पुरुष होने पर भी गोपी बननेकी कल्पना करता है, कोअी अुद्धव और कोअी माता यशोदा बननेकी कल्पना करता है। कृष्णकी काल्पनिक मूर्तिको सत्य-स्वरूप मानकर वह अुसके प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी वासना करता है। प्रत्यक्ष जीवनके कर्तव्योंको और प्रत्यक्ष माता, पिता, बालक, पति तथा समाज आदिको मिथ्या — झूठे मानता है और अिस काल्पनिक पति या

बालकके लिअे रोता है, हंसता है, नाचता है और नैवेद्य रखता है और फिर मानता है कि यही भक्ति है, साधना है और मोक्षकी सीढ़ी है।

किसी भी प्रतापी सत्त्वमें वही परमात्मा है, अिस तरहकी श्रद्धा रखनेसे जो भक्तिमार्ग पैदा हुआ है, अुसमें बहुत ही कृत्रिमता आ गअी है, और कअी बार तो वह बहुत भद्दा रूप धारण कर बैठता है। पुराने समयमें हुअे कृष्णके नामके साथ गोपियोंके व्यवहारको बाते निर्दोष बालक्रीडाअें थीं या शृंगार रससे रंगे हुअे कोअी रूपक थे या प्रताप और विलास दोनों भावोंको अेकसाथ रखनेवाले किसी राष्ट्र-पुरुषका सच्चा जीवन था, अिसका हमें निश्चित पता नहीं है। संभव है ये तीनों रंग अिन बातोंमें हों? परन्तु जो अेक संस्कार अवतार-भक्त या गुरुभक्त संप्रदायोंमें स्थिर हुआ है, वह यह है कि जिस किसीमें अिस प्रकारकी श्रद्धा हो, अुसके कार्यों और व्यवहारोंकी विवेक-दृष्टिसे जांच की ही नहीं जा सकती और अुसकी किसी भी मांगको पूरा करना ही सच्ची भक्तिका लक्षण है। स्त्रियां अपना शील तक अर्पण कर दें, अिस हद तककी श्रद्धा अिसमें आ गअी है, और अुसके शरीर या मूर्तिको तरह तरहके भोग चढ़ानेमें ही सारी भक्ति समा गअी है।

अिस तरहकी भक्तिने अंधश्रद्धाको, पंगुताको और पुरुषार्थ-हीनताको बहुत बढ़ाया है। अवतार या गुरु परमात्माका ही स्वरूप है, यह सिद्धान्त अितने अंशमें ही सत्य है कि विश्वमें जो कुछ है वह परमात्माका ही स्वरूप है। अिसलिअे जिसे अवतार या गुरु मानते हैं, वह भी अिसका अपवाद नहीं हो सकता। परन्तु जिस तरह हम दूसरे सत्त्वोंका आश्रय लेकर परमात्माकी अुपासना नहीं करते, अुसी तरह कोअी पुरुष कितना ही प्रतापी, विभूति–अैश्वर्य–पराक्रम आदि अनेक गुणोंवाला तथा ज्ञानी और तत्त्वदर्शी क्यों न हो, अुसके आश्रयसे परमात्माकी अुपासना — भक्ति करना अयोग्य है। यहां आश्रयका अर्थ अुसकी मदद नहीं, बल्कि अुसे अुपास्य मानना है।

अिसका यह मतलब नहीं कि अिन विचारों द्वारा मैं सगुण भक्तिका निषेध करता हूं। अवतार या गुरुरूप अीश्वरमें श्रद्धा न

रखते हुअे भी अिस्लाम, अीसाअी अित्यादि धर्मोंमें सामान्य लोगों
परमात्माकी दृष्टि मनुष्यसे परे नहीं गयी है। मुसलमान, अीसाअी,
जैन, बौद्ध, सिक्ख वगैरा अपने अपने पैगम्बर, मसीहा, तीर्थंकर, गुरु
अित्यादिमें अवतार या सद्गुरुवादी हिन्दूके जितनी ही श्रद्धा, भक्ति
और तारकबुद्धि रखते हैं, फिर भी अुनको अैसा नहीं लगता कि वे
अपने पैगम्बर आदिको परमात्मा समझकर अुनका ध्यान — अुपासना
करते हैं। कोअी अैसा तो हरगिज नहीं कहेगा कि सामान्य
मुसलमान या सिक्खकी अपेक्षा सामान्य हिन्दू अधिक मंदबुद्धिवाला
या 'गामर' होता है, और अिसलिअे अन्यधर्मी सामान्य मनुष्य जो
कुछ कर सकता है यह हिन्दू नहीं कर सकता।

परन्तु हिन्दू धर्मके प्रवर्तक ज्ञानी होने पर भी प्रायः बड़े कल्पना-प्रधान कवि हो गये हैं। रम्य कल्पनाओं, रूपकों और रससे भरपूर वर्णनोंके बिना तथा सूक्ष्म अमूर्त तत्त्वोंको मूर्तरूप दिये बिना अुन्हें चैन नहीं पड़ता था। कल्पनाविलास अुनका स्वभाव ही बन गया था। अुन्होंने धर्मग्रन्थोंके नामसे तरह तरहके अुपन्यासोंकी रचना की। अैसी कथाअें लोगोंका मनोरंजन करनेवाली हों तो अिसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। अिसलिअे वे अिन कथाओं द्वारा लोगोंके मन आकर्षित करनेमें सफल हुअे। परन्तु लोगों पर अिसका क्या असर हुआ? लोगोंने कल्पनाओं और रूपकों अित्यादिको अितिहास — सच्ची घटनाओंके वर्णन — माना। राहुका ग्रहण बलिका पातालवास, रावणके दस सिर और बीस भुजाअें, नरसिंहका मनुष्य और सिंहका मिश्ररूप, कृष्णका चतुर्भुज स्वरूप आदिको वे अैसी ही सच्ची घटनाअें समझते हैं, जैसी कि वर्तमान युद्धकी किसी घटनाको। अिस संस्कारने हिन्दू जनताकी बुद्धिका विकास करनेके बदले अुसे कल्पनासेवी बना दिया है।

अिस कारणसे मैं किसी भी सत्त्वकी परमात्माके नामसे अुपासना — भक्ति करनेकी प्रथाका निषेध करता हूं। यह सच्चा मानवधर्म नहीं है।

सेवाग्राम, ११–८–'४५ ('प्रस्थान', १९४५)

२

दो दृष्टियां

मैं तीसरे दर्जेके अेक डिब्बेमें बैठा हुआ था। नीचे दी हुअी कतारके मुताबिक आदमी बैठे हुअे थे :

१ २	१ – २ मुसलमान मां – बेटा
३ ४	३ अेक पण्डित, ४ मैं
५	५ अेक वयोवृद्ध मुसलमान

अिसके अलावा दूसरे बहुतसे मुसाफिर थे। लेकिन अुनका अिस बातसे कोअी संबंध नहीं।

मां-बेटेके बीच शायद कुछ तकरार चल रही होगी। मेरा ध्यान जब अुस तरफ गया तब पंडित बेटेसे कह रहा था :

"देखो भाअी! खुदा-खुदा तो सब करते हैं, पर क्या कोअी खुदाको देख सकता है? वह तो अगोचर है। अिसलिअे जिसे हम देख सकें, पूज सकें अैसे खुदाका विचार करना चाहिये। बेटेके लिअे अैसा खुदा अुसकी मां है, और स्त्रीके लिअे अुसका पति है। अिसलिअे माकी ओर तुम्हें खुदाकी दृष्टि रखनी चाहिये।"

यह मैंने संक्षेपमें लिखा है। अुसने तो अच्छी तरह विस्तारसे अुपदेश किया था, और अैसा मालूम होता था कि मां और बेटेको यह बात अच्छी लग रही थी। अुन्हें अिस बातसे चोट पहुंची हो, अैसा नहीं दिखाअी दिया।

परंतु अुनके पीछे बैठे हुअे वृद्ध मुसलमानको यह निरूपण बहुत विचित्र लगा। थोड़ी देर तक तो वह सुनता रहा। पर बादमें वह चुप नहीं रह सका और कुछ रोषपूर्वक अुसने पण्डितको फट-कारना शुरू किया :

"तुमने कभी कोओी खुदाओी किताब पढ़ी भी है या सिर्फ बकवास करना ही आता है। क्या खुदा किसी भाजी-बाजारकी शाक-मूली है कि अुसके विषयमें जिसके मनमें जो आवे वैसा वह बोल सकता है? खुदाके मानी क्या हैं? जो सारे आलमको बना सकता है और तोड़ सकता है, जिसमें जान पैदा करनेकी तथा मारनेकी ताकत है, वह खुदा है। जिसमें पैदा करनेकी और नाश करनेकी शक्ति नहीं है, अुसे खुदा कैसे कह सकते हैं? बच्चेके लिअे मां और औरतके लिअे अुसका खाविंद खुदा है — यह कैसी बेहूदी, कितनी नादानीकी बात तुम करते हो?"

अिस चर्चामें कुछ तीखापन आ जानेका डर था। पर अेक विनोदी मुसाफिरने समय-सूचकताका प्रयोग करके मियां साहबको कुछ अुलटी-सुलटी दलीलोंमें फंसा कर चुप कर दिया और अुनका स्टेशन आने तक अुन्हें खुश करके बिदा कर दिया। अिस तरह वह चर्चा वहीं रुक गयी।

चर्चा तो बन्द हुओी। परन्तु यह छोटीसी बात मुझे रहस्यमय मालूम हुओी और मैं विचारमें पड़ गया। किसी हिन्दूको गुरु, माता, पिता, पति वगैरामें अीश्वरबुद्धि रखनेका विचार जितना सहज और सीधा लगता है कि वह अुसे बिना किसी दलीलके स्वीकार कर लेता है। परन्तु मुस्लिम-बुद्धिको यह नास्तिकताके वचन जैसा चोट पहुंचानेवाला लगता है। मां, बाप, गुरु, पति अित्यादिके प्रति मनुष्यकी चाहे जितनी भक्ति हो, अुनके प्रति चाहे जितने फर्ज अदा करने हों; फिर भी वे अीश्वर हैं या अीश्वरके प्रत्यक्ष स्वरूप हैं अैसा कहना सत्य, सनातन, सर्वकर्ता-हर्ता परमेश्वरकी कितनी बड़ी अवज्ञा है!

अिन दोनों दृष्टियोंमें कहां भूल होती है? अथवा दोनों सत्य हों, तो अेकको दूसरेके विचार सुनकर चोट क्यों पहुंचती है?

कदाचित् वेदान्ती हिन्दू अिसका यह जवाब देगा कि मुसलमानको अुसकी अज्ञानके कारण चोट पहुंचती है; दूसरा कोओी कारण नहीं है। अुसे परमात्माके स्वरूपका सच्चा ज्ञान नहीं है, अिसलिअे वह अुल्झनमें

पड़ जाता है। हिन्दू अज्ञानी हो तो अुसे भी अैसी बात सुनकर चोट पहुंचते देखा गया है। तुकारामको जब तक भक्तिमार्गमें ही आनन्द आता था, अुस समय किसी वेदान्तीने अुन्हें 'तत्त्वमसि' का अुपदेश देना शुरू किया। तब अुन्हें भी अुस वृद्ध मुसलमान जैसी ही चोट लगी थी और रोष आया था। पर पिछली अुमरमें वे भी वेदान्तका ही अुच्चारण करते और सर्वत्र परमेश्वरको ही देखने लगे थे। अिसलिअे हिन्दुओंके अिस विचारमें कुछ सुधारने जैसा नहीं लगता।

परन्तु कुछ गहरे अुतर कर अिस प्रश्नका विचार करें। जब हम कहते हैं कि गुरु, माता-पिता, पति वगैरा शिष्य, बालक या पत्नीके परमेश्वर हैं, तब हम यह अक्षरशः सत्य है अैसा कहना चाहते हैं या लाक्षणिक अर्थमें अथवा आलंकारिक भाषामें ही अैसा कहते हैं? यह बात तो साफ है कि हम अिस कथनको अक्षरशः सत्यके रूपमें समझना नहीं चाहते; क्योंकि मेरे गुरु आपके लिअे परमेश्वर नहीं हैं, मेरे माता-पिता आपके परमेश्वर नहीं हैं; मेरी बड़ी बहनके पति छोटी बहनके परमेश्वर नहीं हैं, अितना ही नहीं अुसके लिअे तो वे पर पुरुष होनेसे छोड़ने योग्य हैं। यह बात तो तय है कि जिसे परमेश्वर — अर्थात् प्राणीमात्रके लिअे अेक सर्वसामान्य अीश्वर — कहा जा सकता है, वह ये लोग नहीं हैं। तो फिर जब अुन्हें परमेश्वर कहा जाता है, तब केवल लक्षणासे या अलंकारसे ही कहा जाता है, अैसा मानना चाहिये। लक्षणासे अर्थात् अिस अर्थमें कि वे दिव्यांश हैं, अिसलिअे अंशको पूर्णके नामसे पहचान कराकर; अलंकारसे अर्थात् अुनके और परमेश्वरके बीचमें रूपक, अुपमा, अुत्प्रेक्षा वगैराकी योजना करके। सुननेवालेके मनमें भ्रम पैदा न हो, अिस तरहसे बोलना हो तो हम अधिकसे अधिक अितना ही कहना चाहते हैं कि "अपने गुरु, माता-पिता या पतिका सच्चा भक्त परमेश्वरके भक्त जितना ही पवित्र है;" अथवा "अुनकी भक्तिके द्वारा परमेश्वरकी भक्तिका सम्पूर्ण फल मिल सकता है;" अथवा "गुरु अित्यादिका द्रोह करनेवाला परमेश्वरभक्त नहीं हो सकता है;" अथवा "वह परमेश्वरका भी द्रोह करता है।"

जिस तरहसे यदि कोअी माता-पिता वगैराकी मूर्तियोंकी महिमाका वर्णन करे, तो अुसके खिलाफ कोअी मुसलमान सज्जन अेतराज न अुठायेगा।

२

पर कोअी कहेगा कि

"वेद तो अम कहे, श्रुति-स्मृति शाख दे कनक कुंडल विषे भेद न्होये,
घाट घडिया पछी नाम-रूप जूजवां, अंते तो हेमनुं हेम होये।" *

अर्थात् जैसे कंकण सोना है, कुण्डल सोना है — ये वाक्य अक्षरशः सत्य हैं, वैसे ही गुरु, माता-पिता आदि परमेश्वर हैं अैसा कहना भी अक्षरशः सत्य है, अिसमें लक्षणा या अलंकार है ही नहीं।

परन्तु यह बात या यह दृष्टान्त सम्पूर्ण रूपसे मेल खानेवाला या सही नहीं है। कंकण या कुण्डल सापेक्ष रूपसे सुवर्ण नहीं हैं। अर्थात् अेक आदमीके लिअे तो वह सोना हो, पर दूसरेके लिअे नहीं — अैसा नहीं है। सब लोगोंके लिअे वह सोना ही है। अूपर बताये सम्बन्धियोंके लिअे अैसा बहुतेरा दावा नहीं किया जाता। सार्वजनिक अुपासनामें अिन्हें सबके लिअे समान रूपसे पूज्य मनवानेका प्रयत्न नहीं है। अिसमें कंकण-कुण्डल जैसे रूपभेदके अलावा दूसरे सम्बन्धरूपी भेदोंकी भी कल्पना रही हुअी है। अिसके लिअे कदाचित् कुरते और चोलीका दृष्टान्त दिया जा सकता है। कुरता भी कपड़ा है और चोली भी कपड़ा है। परन्तु अेक पुरुषके लिअे है और दूसरा स्त्रीके लिअे है। पुरुषके लिअे चोली व्यर्थ है, स्त्रीके लिअे कुरता बेकार है। अुसी तरह हरअेक व्यक्ति तत्त्वतः परमेश्वर ही है, फिर भी विशेष सम्बन्धसे बनाया हुआ व्यक्ति अुस सम्बन्धसे बंधे हुअे लोगोंके लिअे ही अिष्ट या पूजनीय होता है, सबके लिअे नहीं।

---

* वेद बताते हैं और श्रुति-स्मृति अुसका अनुमोदन करती हैं कि कनक (सुवर्ण) और कुण्डल (सुवर्णके अलंकार) के बीच कोअी भेद नहीं है। सुवर्णको अलग अलग आकार देने पर ये अलग अलग नाम हो गये हैं। मूलमें तो सिर्फ अेक सुवर्ण ही है।

और कङ्कण तथा कुण्डल दोनों सुवर्ण हैं, अैसा हम कहने तो जरूर हैं; परन्तु अिसमें भी कुछ अध्याहृत (कहना बाकी) रहता है। कङ्कण और कुण्डल दोनों सुवर्ण हैं अैसा कहनेमें हम सोनेके सम्बन्धमें थोड़ा पक्ष ही पेश करते हैं; पूरा नहीं। यदि कोअी अिसका अर्थ अैसा करे कि कङ्कण और कुण्डल ही सोना है, दूसरा सब सोना नहीं है, तो हम तुरन्त कहेंगे कि हमारा कहनेका यह आशय नहीं है। सुवर्ण अुनमें अति अधिक है; कङ्कण-कुण्डल तो अुसकी दो छोटीसी आकृतियाँ ही हैं। अैसी तो सोनेकी असंख्य आकृतियाँ बन सकती हैं, और फिर भी जिनका नाम नहीं दिया जा सकता अैसी आकृतियोंमें रहा हुआ अपार सोना बाकी रहेगा। अिसलिअे कङ्कण और कुण्डलके संपूर्ण रूपसे सुवर्ण होते हुअे भी किसीको हम अैसा खयाल नहीं कराना चाहते कि अिन दोमें ही वह सोनेकी अथ-अिति (आरम्भ और अन्त) मान ले। यही बात व्यक्तियोंको परमेश्वर कहते या मानते समय ध्यानमें रखनी चाहिये। गुरु, माता-पिता, पति वगैरा परमेश्वर हैं, या सूर्य, चन्द्र वगैरा परमेश्वर हैं, अैसा कहने या मानते समय यह नहीं समझना चाहिये कि अिन्हींमें परमेश्वरकी अथ-अिति हो जाती है। अितना ही समझना चाहिये कि ये परमेश्वरके अपार रूपोंमें से कुछ लोगोंको प्रिय या अिष्ट लगनेवाले थोड़ेसे रूप हैं।

सारांश यह है कि समग्रता और तात्त्विक पूर्णता ये दो भिन्न वस्तुअें हैं। परमेश्वर समग्र पूर्ण तत्त्व है; परन्तु अुसके किसी विशिष्ट रूपका विचार करें, तो वह तत्त्वसे भले ही पूर्णरूपमें वही हो परन्तु समग्रताकी दृष्टिसे वह यह वस्तु नहीं है। छोटासा बिन्दु और समुद्र दोनों तत्त्वसे पूर्णतया जल हैं। परन्तु जलकी समग्रता बिन्दुमें नहीं है, समुद्रमें भी नहीं है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो बिन्दु जल है, समुद्र जल है; परन्तु जल न तो केवल बिन्दु है और न केवल समुद्र। सोना, जल वगैराके लिअे हमारे पास अैसे शब्द नहीं हैं, जो अुनकी तात्त्विकता और समग्रता दोनोंके वाचक हों। 'आजन्म' शब्दकी तरह 'आ' (=समग्र) अुपसर्ग लगाकर कहें, तो अैसा कह सकते हैं कि बिन्दु, समुद्र अित्यादि जल हैं, परन्तु आजल नहीं। कङ्कण, कुण्डल आदि

सुवर्ण हैं, परन्तु आसुवर्ण नहीं। अीश्वरके विषयमें हमारे पास अीश्वर परमेश्वर, ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-पुरुषोत्तम, देव-महादेव वगैरा शब्दोंकी जोड़ियां हैं। छोटी वस्तुको बड़ा नाम दिया गया है जब यह मालूम हुआ तब पर और सूक्ष्म वस्तुके लिअे पिछले शब्द अुत्पन्न हुअे अैसा दिखाअी देता है। पहले तो देव ही था। परन्तु जब कोअी अल्प सत्त्व देवके नामसे पहचाना जाने लगा अथवा जिसे देवके नामसे पहचानते, थे अुसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तत्त्वकी खोज हुअी, तब महादेव शब्द अुत्पन्न हुआ। अिसी तरह परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा वगैरा शब्द अुत्पन्न हुअे। अिसका ठीक अुपयोग किया जाय तो अैसा कह सकते हैं कि व्यक्त पदार्थ देव है, महादेव नहीं; अीश्वर है, परमेश्वर नहीं; ब्रह्म है, परब्रह्म नहीं। परन्तु अिस तरह विवेकसे शायद ही अिन सब शब्दोंका प्रयोग होता हो। ये सब पर्यायवाची हों, अिसी तरह प्रायः अिनका प्रयोग होता है। अिसलिअे अिस भूलको अेकबारगी रोकना हो तो अैसा कहना चाहिये कि व्यक्त रूप देव है परन्तु आदेव नहीं; ब्रह्म है पर आब्रह्म नहीं; सत्य है पर आसत्य नहीं; पुरुष है पर आपुरुष नहीं अित्यादि।

अिसके अलावा, अेक दूसरी बात भी स्पष्ट होनी चाहिये। मनुष्यके श्रेयके लिअे गुरु, माता-पिता आदिकी भक्ति चाहे जितनी साधनरूप और आवश्यक हो और अिसलिअे वह अिनके विषयमें चाहे जितनी देवबुद्धि रखता हो, फिर भी आदेव — समग्र देव — में निष्ठा और भक्ति रखे बिना काम चल ही नहीं सकता। अिसलिअे बालक या शिष्यके लिअे माता-पिता या गुरु ही अीश्वर है, अिस कथनमें कुछ अतिशयोक्ति है। अिसमें से अुसे आगे बढ़ना ही पड़ेगा। अिस-लिअे पहलेसे ही अैसा कहना चाहिये कि गुरु, माता-पिता अित्यादिकी भक्ति स्तुत्य है, परन्तु यह आभक्ति — समग्र भक्ति — नहीं है; वह तो आदेवमें ही होनी चाहिये।

अुस वृद्ध मुसलमानकी भाषामें खुदा शब्दका अेक ही अर्थ था: आदेव, आसत्य। अिसलिअे जब हिन्दू पंडितने कहा कि बालकके लिअे माता और स्त्रीके लिअे पति अुसका खुदा है, तब माता और पतिको

यह समग्र सत्य कहना चाहता है अैसा समझकर जिस प्रकारके निन्दात्मक शब्दोंसे अुसे चोट पहुचे तो अिसमें क्या आश्चर्य है?

हिन्दुओंमें अपर पदार्थोके लिअे परतावाचक शब्द लागू कर देनेका अेक दोष है। अिस कारणसे पर शब्दोंके अर्थ अुतरते ही जाते हैं और नये आचार्योंको नये शब्द दाखिल करने पड़ते हैं। देव और स्वर्ग अेक समय परमतत्त्व और परमगतिका निर्देश करते थे; परन्तु अिन शब्दोंके आसपास बंधी हुअी कल्पना बादके विचारकको असंतोष-कारक लगी। अुसने अैसा नही कहा कि देव और स्वर्गके विषयकी प्रचलित कल्पना प्राकृत और स्थूल है, पर यह कहा कि ये कल्पनायें भी सच्ची हैं; परन्तु अिनसे अधिक अूची कल्पनावाले परमतत्त्व और गतियां भी हैं, और अुनके लिअे अुसने अिन्द्र-अिन्द्रलोक, ब्रह्मा-ब्रह्मलोक आदि नये शब्दोंकी रचना की। अुसके बादके विचारकको अिन कल्पनाओंमें भी विचारदोष लगा। अुसने भी सिर्फ कल्पनाको सुधारनेके बदले नये देव और नये लोक बढ़ाये। अिस तरह विष्णु-वैकुण्ठ, महादेव-कैलास, कृष्ण-गोलोक, पुरुषोत्तम-अक्षरधाम वगैरा अुत्तरोत्तर तत्त्वो और गतियोंकी बढ़ती होती ही गअी, और हरअेक पंथवालेके लिअे अलग परमतत्त्व और अलग तरहकी परागति पैदा हुअी। हरअेक पंथवालेकी वेदांत परिभाषामें भी अिस तरह माया-महामाया, प्रकृति-महाप्रकृति, काल-महाकाल, कारण-महाकारण, ब्रह्म-महद्ब्रह्म-परब्रह्म, क्षरपुरुष-अक्षरपुरुष-पुरुषोत्तम और पुरुषोत्तम भी जब अधूरा मालूम हुआ तब पूर्ण पुरुषोत्तम, प्रकट पुरुषोत्तम अित्यादि शब्द अुत्पन्न होते ही गये। अिस तरह अूपर सुझाये हुअे आदेव, आब्रह्म, आसत्य अित्यादि शब्दोंकी भी अैसी ही दशा होनेकी पूरी संभावना है। अिसलिअे ज्यादा सही तो अिस्लामका यह नियम लगता है कि किसी भी नामरूपको खुदा कहना ही नहीं चाहिये। तत्त्वज्ञानी भले तत्त्वसे नामरूप तथा खुदामें अभेद देखें, परन्तु भाषामें वह किसी भी नामरूपका खुदाके रूपमें वर्णन न करे। ज्यादासे ज्यादा अुसे खुदाका नूर, अथवा हिन्दू ग्रन्थोंकी परिभाषामें अुनका अंश कहे; परन्तु मूल शब्दोंमें समग्रताका भाव होनेसे मूल शब्दोंका प्रयोग हरगिज न करे।

आदम खुदा नहीं, खुदा आदम नहीं;
लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।

अर्थात् मनुष्य समग्र देव नहीं, समग्र देव मनुष्य नहीं; परन्तु समग्र देवके तत्त्वसे मनुष्य अलग नहीं है। समग्रताके बगैर देवका विचार किया ही नहीं जा सकता, अैसा समझकर समग्र शब्द निकाल डालें तो अैसा कहना चाहिये कि मनुष्य देव नहीं है, देव मनुष्य नहीं है; परन्तु देवके तत्त्वसे मनुष्य अलग नहीं है।

३

अुस वृद्ध मुसलमानने कहा कि खुदामें तो सृष्टिकी अुत्पत्ति और प्रलय करनेकी शक्ति रही हुअी है। किसी भी मानवके लिअे अिस शब्दका प्रयोग कैसे किया जा सकता है? ब्रह्मसूत्रोंमें भी ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मके बीचके अिस भेदके लिअे 'जगद्व्यापारवर्जम्' (४–४–१७) सूत्र है।

अिसी तरह —

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाऽहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥*
(षट्पदीस्तोत्र – ३)

अैसा कहते समय शंकराचार्यको अिस बातका ध्यान था। परन्तु भक्तिमार्गी सम्प्रदायोंमें अिस विचारको भुला दिया गया है। और अिसके परिणामस्वरूप लगभग सब हिन्दू सम्प्रदाय अिस श्लोकका अुच्चारण करते हैं:

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

और बहुतसे सम्प्रदायोंमें प्रत्यक्ष अथवा अेक समयके गुरु या आचार्य ही परमेश्वरकी जगह लेते हैं। अिस श्लोकको मैंने आज तक स्वीकार किया था। परन्तु अुस वृद्ध मुसलमानको पहुंची हुअी चोट पर विचार करनेके बाद मुझे लगा कि अपने ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके प्रति हमारी चाहे जैसी अुत्कट भक्ति हो, फिर भी अिस श्लोकमें बताअी हुअी भावना रखना

* हे नाथ, भेदका नाश हो जाने पर भी मैं आपका हूं, आप मेरे नहीं। तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र कभी तरंगका नहीं होता।

ठीक नहीं है। विद्वानोंकी सूक्ष्म तार्किक वुद्धिकी अपेक्षा अुस वृद्धके
अुलटा-सुलटा कर सोचनेके लिअे मना करनेवाली सहज अेकमार्ग
वृद्धि अधिक सच्ची है।

जो विचार गुरुको लागू होता है, वह माता-पिता-पतिको विशे
रूपसे लागू होता है, जिसमें तो समझाने जैसी कोअी बात नहीं है
क्योंकि अुनके सम्बन्धमें तो मानवी गुणोंकी पूर्णताका भी दावा नहीं किय
जाता। अुन्हें हमेशा नरोत्तम भी नहीं कह सकते, तो फिर परमेश्व
तो कैसे कह सकते हैं? वे सिर्फ अुत्कट प्रेमके दावेसे ही आराध्य बनत
हैं। परन्तु जो न्याय गुरुको लागू होता है, वही अवतारों, पैगम्बरों
तीर्थंकरों, बुद्धों अित्यादिको भी लागू होता है। किसीको भी — घास
तिनकेको भी — समग्रदेवका अवतार — अुसका 'तेजोऽशसंभव' व्यक
रूप — कह सकते हैं, परन्तु समग्रदेव — आदेव नहीं कह सकते
परमात्मा राम, कृष्ण आदि हैं; परन्तु राम, कृष्ण परमात्मा नहीं हैं

हिन्दू अुपासना और विचारमें अितनी शुद्धि होनेकी जरूरत है

४

हिन्दू धर्ममें परस्पर-विरोधी मालूम होनेवाले अनेक सम्प्रदायों
अुत्पन्न होनेका अेक कारण अूपरका कुतर्क है। मैं हिमालय हूं,
गंगा हूं, मैं राम हूं, शंकर हूं, अर्जुन हूं वगैरा हम गीतामें पढ़ते हैं
परन्तु हिमालय परमात्मा है, गंगा परमात्मा है, राम, कृष्ण, शंकर, अर्जु
वगैरा परमात्मा हैं, अैसा गीतामें भी नहीं कहा है।* यह वेदान्तने —
अर्थात् भिन्न भिन्न मतके वेदांती गुरुओंने सिखाया है। पहले सम्प्रदाय
अिष्टदेवके विषयमें सिखाया और आगे चलकर अपने विषयमें अैस
मानना सिखाया। अिस तरह घर घरके अलग परमेश्वर मानने
सिलसिला पैदा हुआ। अिसमें मायावादीने मायावादकी, लीलावादी
लीलावादकी, अनुग्रहवादीने अनुग्रहवादकी सहायता ली। अिसमें को

* समुद्र कहता है कि मैं तरंग हूं, बुदबुदा हूं, तो वह अेक बा
है; वह ठीक है। परन्तु तरंग या बुदबुदा कहे कि मैं समुद्र हूं तो व
ठीक नहीं है। यह भेद यहां सूचित किया गया है। (८-९-'४७)

किसे झूठा कहे? अिसलिअे सर्वधर्म-समभावके दुरुपयोगसे जिनका स्या
जम गया हो वे सभी सच्चे हैं, अैसा समाधान निकाला गया।

यह कुतर्क ही साम्प्रदायिक पाखण्डोंका मूल है। अतः विचारशी
मनुष्यको समझना चाहिये कि परमेश्वरके सब रूप हैं; परन्तु अे
रूप या सब रूप मिलकर परमेश्वर नहीं बनता। अिसलिअे राम य
कृष्ण या क्षको परमेश्वरके रूप, विभूति या अंश कहें, भले अुन
विषयमें पूज्यभाव रखें, परन्तु अैसा नहीं कहना या मानना चाहि
कि राम या कृष्ण या क्ष परमेश्वर है। ये सब अिकट्ठे मिलकर भ
परमेश्वर नहीं हैं। परमेश्वर सब नाम-रूपोंसे हरअेक बातमें औ
हरअेक दृष्टिसे अनंत गुना अधिक है। वह किसी अेक रूपमें अपनेको
समग्र रूपमें समा सके, अैसा नहीं है। सर्वशक्तिमानकी यह अशक्ति
है, अैसा कहें तो भी कोअी हर्ज नहीं है। अिसलिअे अमुक व्यक्ति
पूर्णावतार है, अमुकमें परमात्माकी सोलहों कलायें हैं, अमुक प्रकट पुरुषो-
त्तम है, अमुक अवतारोंका अवतारी है, वगैरा भाषा शब्दजाल — साम्प्र-
दायिक माया है। विश्वमें अभी तक अैसा कोअी व्यक्ति प्रकट नहीं
हुआ, और भविष्यमें भी प्रकट नहीं होगा, जिसे समग्रदेव कह सकें।

माता, पिता, गुरु वगैरा सब वंदनीय, पूजनीय, सेवनीय हैं, अुनकी
धर्मयुक्त आज्ञाओंका पालन करनेमें कल्याण है। परन्तु यह भाषा
अतिशयोक्तिपूर्ण है कि वे अपने बालक या शिष्यके लिअे परमेश्वर
हैं। अर्थात् अज्ञानपनमें भी असत्य वचन है। अिस भाषाको और अैसे
शब्दोंको छोड़ देना चाहिये।

अिस समग्रदेवको नाम-रूपमें लाना और साकाररूपसे अुसके
ध्यानका प्रयत्न करना ठीक नहीं है। जो भी प्रयत्न किया जायगा,
वह अुसे मर्यादित करनेवाला होगा। नीचेके श्लोकोंके द्वारा अुसकी
कल्पना या ध्यान करना हो तो कर सकते हैं:

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥
(गीता १३, १२-१७)

(वह अनादि परब्रह्म है। अुसे न सत् कह सकते हैं, न असत्। सब ओर अुसके हाथ और पैर हैं, सब ओर आंख, कान, मुंह, सिर आदि हैं, और सबको अपनेमें समाकर वह विद्यमान है। अुसमें सब अिन्द्रियोंके गुण भासमान होते हैं, फिर भी वह सर्व अिन्द्रियोंसे रहित है। वह किसीसे — कहीं भी लिप्त नहीं, फिर भी सबका भरण-पोषण करनेवाला है। वह निर्गुण है, फिर भी सब गुणोंका भोक्ता है। वह सर्व भूतोंके बाहर भी है, भीतर भी है। वह अचर-स्थिर भी है, और चर-जंगम भी है। अति सूक्ष्म होनेसे अुसका विज्ञान नहीं किया जा सकता। वह दूर भी है, नजदीक भी है। अुसके भाग नहीं हो सकते, फिर भी वह भूतोंमें जिस तरह विद्यमान है, मानो अुसके भाग हो गये हैं। अुसे सर्वभूतोंका भर्ता-पालक-पति, सबका ग्रास करनेवाला और सब पर प्रभाव रखनेवाला समझा जाय। वह सूर्य-चंद्र-नक्षत्र आदि सब प्रकाशमान ज्योतियोंको प्रकाश देनेवाला है, और अंधकारसे भी परे है। यही ज्ञान है, यही ज्ञेय है, यही ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है। वह हरअेकके हृदयमें बसा हुआ है।)

अुसके किसी प्रिय रूप, मूर्ति या विभूतिका भले आप वदन-कीर्तन कीजिये; भले अुसका और अुसके चरित्रोंका बार बार स्मरण करके मनको पवित्र रखने और अुन्नत करनेकी कोशिश कीजिये। परंतु अिसके लिअे अुसे परमेश्वर कहनेकी जरूरत नहीं है; अिसलिअे अैसा

न बढ़ें। वे परमेश्वर हासिल नहीं है। अुनका आधार लेकर कदाचित् आप अमुक हद तक अूंचे चढ़ सकेंगे; परन्तु अुसके बाद तो अुन्हें छोड़कर ही आगे बढ़ सकेंगे।

('प्रस्थान', जुलाअी-अगस्त १९३७)

३

अुपासना-शुद्धि*

मेरी रायमें जीवनको धार्मिक बनानेके लिअे अनेक धर्मग्रन्थोंका अथवा अपने अिष्ट धर्मग्रन्थका भी अतिशय पाण्डित्यपूर्ण अभ्यास करनेकी जरूरत नहीं है। नामदेव, तुकाराम, नरसिंह महेता अित्यादि सन्तोंके जीवनको देखें, तो अैसा नहीं मालूम होता कि वे बहुत विद्वता प्राप्त करके धार्मिक बने थे अथवा विशेष प्रकारकी धार्मिक दृष्टि प्राप्त कर सके थे। कमसे कम मेरी धार्मिक प्रगति तो अिस तरहसे नहीं हुअी।

मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है कि मैंने धार्मिक ग्रन्थोंका और विभिन्न धर्मोंके ग्रन्थोंका बिलकुल ही अभ्यास नहीं किया। परंतु अेक भी धर्मोंका — हिन्दू धर्मके ग्रन्थोंका भी — मैंने पाण्डित्यपूर्ण अभ्यास नहीं किया। मैं सत्याग्रहाश्रममें रहने गया, तब मेरी अुमर २७-२८ वर्षकी थी। १७ वें या १८ वें वर्षमें मैंने पहली बार गीता पढ़ी। मिशनरी संस्थाओंमें पढ़नेके कारण मैंने बाअिबलके कितने ही भाग लाजिमी तौर पर पढ़े थे। परंतु अिन दो पुस्तकोंको छोड दें, तो जिस संप्रदायमें मेरा जन्म हुआ था अुस संप्रदायके ग्रंथोंके सिवाय अनेक धर्मग्रंथोंको देखनेका आश्रममें रहने आया तब तक मुझमें कोअी अुत्साह ही नहीं था। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके ग्रंथ मेरे पास थे जरूर; परतु अुनमें से दो-चार व्याख्यानोंसे ज्यादा मैंने पढ़े

* वर्धाके कुछ ग्रामसेवकोंके सामने दिया हुआ व्याख्यान।

हो अैसा मुझे याद नहीं आता। 'गीता-रहस्य' के प्रकाशित होने ही मैंने अुसे खरीद लिया था और अुसी समय पढ़ भी डाला था, परन्तु अुसे पढ़कर 'निकाल दिया' था, 'पचाया' था अैसा नहीं कह सकता। अुस समय अुसे पचाने जितनी मुझमें ताकत भी नहीं थी। आश्रममें आनेके बाद वहां लिये जाते वर्गोंमें मुझे अनायास ही अुपनिषद्, ब्रह्मसूत्र वगैरा ग्रन्थोंका परिचय हुआ।

सारांश यह है कि अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करके मेरी वृत्ति धार्मिक नहीं हुआी है, और आज भी मुझे अैसा लगता है कि धार्मिक वृत्तिके पोषणके लिअे अनेक ग्रंथोंका और अनेक धर्मोंका विद्वत्तापूर्ण अध्ययन आवश्यक नहीं है। अितना ही नहीं, परन्तु बहुत बार अैसे अध्ययनका शौक धार्मिक वृत्तिके लिअे बाधक भी होता है। संगीतशास्त्रके विषयमें मेरी जो राय है वही धर्मशास्त्रके विषयमें है। अेकाध भजन या धुन शास्त्रीय संगीतके अनेक प्रकारके आलाप वगैराके साथ बोली जाय, तो अिकट्ठा हुआ जनसमूह नाचने और झूमने लगता है, यह मैंने अनेक बार देखा है। अिससे भजनमण्डली गानलीन जरूर होती है; परंतु भक्तिलीन भी होती ही है, अैसा विश्वासके साथ नहीं कहा जा सकता। 'अंखियां हरिदर्शनकी प्यासी' भजन बहुत अच्छी तरहसे गाया जाय, तो करुणरसका आनंद अवश्य अुत्पन्न होता है, परन्तु यह रस न तो हरिदर्शनकी प्यास पैदा कर सकता है और न अुसे बुझा सकता है। अिससे अुलटे, जिसको यह प्यास लगी हो, अुसके गानेमें संगीतका खून होता दीखे, फिर भी वह अिस भजनमें लीन हो सकता है। अिसी तरह धार्मिक जीवनके लिअे अूपर बतायी हुआी व्याकुलता हो, तो अेक-दो ग्रन्थोंका नित्य अनुशीलन अुसके लिअे जरूरी है; परन्तु अैसे अेक-दो ग्रन्थ अुसके लिअे पर्याप्त हैं। अैसी व्याकुलता न हो तो धार्मिक ग्रंथोंका अभ्यास करनेकी रुचि सिर्फ अेक तरहका बौद्धिक रस बन जाती है, धर्मकी प्यास नहीं होती।

मैं हिन्दू हूं अैसा आपसे कहनेकी जरूरत है क्या? अेक संयम-प्रधान वैष्णव संप्रदायमें मेरा जन्म हुआ है, अिसलिअे अुमरका बहुत

बड़ा हिस्सा मैंने अुसमें निष्ठापूर्वक बिताया है। करीब दस सालसे ही मैंने अिस संप्रदायका अभिमान छोड़ा है। परंतु संप्रदायका अभिमान छोड़ देने पर भी मैंने अिस सप्रदायसे प्राप्त हुअे बहुतसे आचार, विचार तथा संस्कारोंको नहीं छोड़ा है। और आश्रममें जो आचार-विचार पाले जाते हैं अुनकी अपेक्षा भी मेरे अपने वैयक्तिक आचार, विचार, सस्कार आज भी ज्यादा सनातनी और मर्यादावाले हैं। फिर भी आज मैं अपनेको सनातनी हिन्दू कहलवानेके लिअे तैयार नहीं हूं। आजके हिन्दू धर्मके विषयमें तथा हिन्दू धर्माभिमानी शास्त्री, पंडित, वेदांती वगैराके बारेमें मुझे कठोर भाषामें बोलनेकी अिच्छा होती है। अिस कठोर भाषाके मूलमें हिन्दू समाजकी सेवा करनेकी मेरी अिच्छा है, हिन्दू जनताके साथ मेरा आत्मभाव है, हिन्दुत्वके विषयमें तिरस्कार या द्वेष नहीं।

हिन्दू धर्ममें चलते-फिरते सत्य और ब्रह्मचर्यकी जितनी महिमा गाअी जाती है, अुतनी दूसरे धर्मोंमें शायद नहीं गाअी जाती। कभी-कभी मुझे अैसा भी लगता है कि हमारे धर्मके संतोंको हमारे समाजमें दूसरे समाजोंकी अपेक्षा अिन गुणोंका अस्तित्व कम लगा होगा, अिसीलिअे अुन्हें अिन पर बारंबार भार देना पड़ा होगा। जो गुण समाजमें अच्छी तरहसे विकसित होते हैं, अुन पर बोलनेकी जरूरत नहीं होती। जो गुण होने चाहिये, पर दिखाअी नहीं देते, अुनका ही प्रतिपादन करना पड़ता है।

परंतु हिन्दू धर्ममें सत्य और ब्रह्मचर्य पर चाहे *जितना भार दिया* गया हो, फिर भी मुझे लगता है — और दुःखपूर्वक लगता है कि हिन्दू धर्मकी अीश्वरोपासना बहुत हद तक असत्यनिष्ठ और व्यभिचारी है। ये शब्द आपको तीखे लगेंगे। परन्तु मैं अिनका प्रयोग आवेशमें आकर नहीं कर रहा हूं। दीयेकी ज्योति कभी कभी अैसी स्थितिमें होती है कि यह जलता है या बुझ गया है, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। अिसी तरह हमारे धर्ममें सत्योपासना बुझ गअी है या मंद पड़ कर भी जाग्रत है, यह कहना मुश्किल है।

'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' अिस सूत्रकी रचना शंकराचार्यने की। अुनका यह प्रामाणिक मत होगा, अैसा माननेमें कोअी हर्ज नहीं। परंतु 'जगत् मिथ्या' के अिस पाण्डित्यका हमारे देशमें विचित्र रूपमें ही विकास हुआ है। जहां सारे जगत्को ही मिथ्या ठहराया गया हो, वहां जगत्के व्यवहारमें या औश्वरकी अुपासनामें भी सत्या-सत्यका विवेक करनेके लिअे स्थान कहां है? अिसलिअे जगत्के किसी भी पदार्थ, भावना, नीति अथवा व्यवहारको सुविधाके अनुसार असत्य मानकर अुसका खण्डन करनेमें या सत्य मानकर अुसका मण्डन करनेमें या अुसमें सत्यासत्यका मिश्रण करनेमें किसी भी तरहकी बाधा नहीं आती। जिसको जैसी पुस्तक अच्छी लगे वैसी लिखे, चाहे जिसके नामसे अुसे प्रकाशित करे, अुसमें चाहे जिस तरहसे संकलना करे, चाहे जैसे विधान रखे और सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करे, अुनके लिअे चाहे जैसी कथाअें गढ़ ले, तथा चाहे जिन पुस्तकोंमें क्षेपक डाले; और यह सब समाजके कल्याणके लिअे, धर्मके अुत्कर्षके लिअे है, अैसा कह कर वह आत्मसंतोष मान सकता है! और जिस ग्रंथके विषयमें हमारा यह पक्का निश्चय हो कि *अिसमें अैसी गडबड हुअी है, तथा जिस अुपासनाके* लिअे हमारा यह मत हो कि यह कपोलकल्पित है, अुसका भी हमें गुणगान करते रहना चाहिये! अवतारी या सत्पुरुषोंके चरित्रोंमें भी बिना सिर-पैरकी गलत बातें दाखिल करनेमें साधुकी ख्याति प्राप्त लेखकोंको भी शायद ही दोष लगा है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण, तुलसी रामायण, मनुस्मृति, पुराण चाहे जो ग्रन्थ लीजिये। अेक भी ग्रंथ अैसा नहीं होगा, जिसमें क्षेपक न हो। सारी भगवद्गीता भी अेक ही व्यक्तिकी रचना होगी या नहीं, अैसी शंका पैदा होनेके कारण भी हैं। योगवासिष्ठ जैसे कुछ ग्रन्थ तो किसी सम्प्रदाय-प्रवर्तकने लिखकर किसी दूसरे प्रसिद्ध मुनिके नाम पर चढ़ा दिये हैं। अिस जगद्रूपी मायाकी अपेक्षा धर्म-प्रचारकोंकी माया अितनी बलवान है कि प्रकृतिगत असत्यकी अपेक्षा शास्त्रोंके असत्योंमें से सत्यकी ओर ले जानेके लिअे भगवानसे यह प्रार्थना करनेका मन होता है — 'असत्योंमें से प्रभु! परम सत्यकी ओर तू ले जा'।

हमारी बहुमान्य बनी हुअी गीताको ही लीजिये। पता नहीं किस कारणसे अुसके लेखककी कविकल्पनाको यह लगा कि अुसे अपना आध्यात्मिक मत धृतराष्ट्र-संजयके संवादमें कृष्णार्जुनका अुपसंवाद रख कर समझाना चाहिये। आगे आकर अितिहास-संशोधकोंने अनुमान निकाला कि कौरव-पाण्डवोंका युद्ध किसी वर्षकी मार्गशीर्ष शुक्ल अेकादशीके दिन हुआ होगा। फिर तो अिन दोकी कड़ी जोड़ देनेमें कौनसी बाधा आ सकती थी? लोगोंकी यह मान्यता तो है ही कि कृष्ण और अर्जुनका संवाद अेक अैतिहासिक घटना है। अिस मान्यताका अुपयोग करके मार्गशीर्ष शुक्ल अेकादशीके दिन गीताजयन्तीका त्योहार मनानेका कार्यक्रम तैयार किया गया। भले यह काल्पनिक हो पर अिसके बहाने गीताकी महिमा तो बढ़ती है, अैसे विचारोंसे हम काम लेते हैं। हिन्दू धर्मकी बहुत बड़ी जनसंख्याके लिअे मान्य अथवा आदरणीय जो भगवद्गीता जैसा अेक धर्मग्रन्थ बाकी रहा है, अुसके साथ भी हम अैसा बरताव करते हैं, तो दूसरे ग्रन्थोंके बारेमें तो कहना ही क्या?

जिस तरह धर्मके अितिहासमें हमारे देशमें गड़बड़ बहुत हुअी है। [illegible]

भिन्न चरित्र, भिन्न कर्मकाण्ड रखनेवाला देव है ही। और यदि अिस सारी अुपासनाको योग्य मानते हैं तो बेचारे भंगियोंकी 'मेलडी माता' या रानीपरज (अेक आदिम जाति) के खेतकी सीमा पर तथा झाड़ोंके नीचे रहनेवाले देवोंका निषेध क्यों करना चाहिये? जिस वेदांत-विचारसे गणपति, लक्ष्मी, पार्वती, शंकर, इन्द्र, वरुण आदि देवोंका समन्वय किया जा सकता है, वह हरअेक खेत और झाड़में रहनेवाले देव, भूत, प्रेत वगैराका समन्वय करनेमें भी समर्थ है। 'सब काल्पनिक, मायिक, झूठ, असत्य होने पर भी सब शिव और सुन्दर है' यह कैसा सुन्दर और सुविधाजनक समन्वय है!

अैसा समन्वय भले ही किया जा सके। परन्तु अुपासना, भक्ति अथवा श्रद्धाका अैसा प्रकार किसी भी साधक या समाजको अूंचा नहीं अुठा सकेगा। कुछ वैष्णव सम्प्रदायोंमें कहे अनुसार यह सचमुच व्यभिचारी भक्ति है, अनन्य अव्यभिचारी भक्ति नहीं, और ब्रह्मचारिणी भक्ति तो बिलकुल ही नहीं है।

जो दंपती परस्पर मन, वचन, कर्मसे अव्यभिचारी और अेकनिष्ठ रहते हैं, अुन्हें हम सज्जन और सती — अर्थात् सत्ययुक्त पुरुष तथा स्त्री — कहते हैं। ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणीकी भूमिका अिनसे अूंची है। अिसमें पुरुष तथा स्त्री दोनों निरालम्ब होते हैं। अुपासनामें हमारा पहले अेकनिष्ठ और अव्यभिचारी होना जरूरी है। आपको सगुण — अथवा केवल सगुण ही नहीं परन्तु साकार सगुण — के अवलम्बनकी जरूरत महसूस होती हो तो भी कोअी हर्ज नहीं है। परंतु अनेक देवी-देवताओंके पीछे लगकर और अुनकी पूजा-विधिके आडंबरमें पड़ कर आपका कभी भी कल्याण नहीं हो सकेगा, अिससे हमारा धर्म कभी भी शुद्ध या प्राणवान नहीं हो सकेगा।

अमेरिकाके अेक कारखानेका मालिक अेक बार विलायतका अेक कारखाना देखने गया था। अंग्रेज व्यवस्थापक अुसे कारखाना दिखा रहा था। अेक यंत्र देखकर अमेरिकनको कुतूहल हुआ और अुसके बारेमें अुसने पूछताछ की। व्यवस्थापकने कहा कि यह यंत्र बहुत सालोंका पुराना है; यद्यपि बहुत अच्छा काम नहीं देता, फिर भी पुराना होनेसे

अुसे हटाया नहीं। 'हमारे कारखानेमें बहुतसे यंत्र पुराने हैं', अैसा अुसने अभिमानसे कहा। अमेरिकनने अुतने ही अभिमानसे जवाब दिया, 'हमारे कारखानोंमें शायद ही कोअी यंत्र दो तीन सालसे ज्यादा पुराना होगा। हम तो नअी शोध होते ही पुराने यंत्रोंको कबाड़ा समझ कर फेंक देते हैं।' हम हिन्दू लोगोंकी वृत्ति बहुत कुछ अिस अंग्रेज व्यापारी जैसी ही है। हिन्दू धर्मको हमने प्राचीन नमूनोंके संग्रहालय जैसा बना रखा है।

पर यह विषयान्तर होगा। मेरे कहनेका मतलब यह है कि यदि आपको साकार सगुणोपासनाकी जरूरत मालूम होती हो तो भले कीजिये। पर आखिरमें किसी अेक ही देव पर अनन्य निष्ठा रखिये। अैसी सच्चारिणी भक्तिमें से ही आप ब्रह्मचारिणी — ब्रह्ममें विचरनेवाली — निरालंब भक्तिकी ओर मुड सकेंगे।

मैं निश्चित रूपसे मानता हूं कि जीवनमें मुझे जो अेक प्रकारका संतोष है, अुसका कारण यह नहीं है कि मैंने धर्मग्रन्थोंका बहुत गहरा अध्ययन किया है। परंतु बचपनसे ही मुझ पर अनन्य — अव्यभिचारी भक्तिके संस्कार पड़े थे। अनेक देव-देवियोंके प्रति मुझमें कभी भक्ति पैदा नहीं हुअी। राम, कृष्ण वगैरा सब अेक ही अीश्वरके अवतार हैं, अैसी साम्प्रदायिक मान्यता होने पर भी मुझे कुटुम्बमें से जिस अेक देवकी अुपासना मिली थी अुसके सिवाय दूसरे किसी अवतारके प्रति भी मेरी बहुत रुचि नहीं थी, धर्मग्रन्थोंके प्रति भी नहीं थी। मैंने जब गीताका अनुवाद किया, तब श्री विनोबाकी 'गीताअी' की तरह अिसका नाम 'गीतामाता' रखना चाहिये, अैसी अेक मित्रने मुझे सलाह दी। परंतु मैंने कहा कि श्री विनोबाने जो नाम दिया है वह अुनके लिअे योग्य है, मेरे लिअे योग्य नहीं है। मेरे जीवनमें गीताने माताका काम नहीं किया है। मैं अैसा नाम रखूंगा तो वह असत्य होगा। अिसलिअे संस्कृत गीताकी अिसमें ध्वनि है अैसा सूचित करनेवाला सादा 'गीताध्वनि' नाम मैंने पसंद किया।

मेरा कहना यह नहीं है कि धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन जरूरी नहीं। अपना कोअी प्रिय ग्रन्थ होना चाहिये। अुसका निरंतर वाचन-चिंतन

नये भाष्यकी रचना नहीं है, पुराने वृक्ष पर नयी कलम बैठानेकी कला नहीं है। बुद्ध और मुहम्मदने जो धर्म स्थापित किये, अुनके परिणाम-स्वरूप पहलेके धर्मशास्त्र व्यर्थ और निःशेष हो गये। जिस तरह किसी पराक्रमी पुरुषसे नये वंशकी स्थापना मानी जाती है और अैसा लगने लगता है मानों अुसके कोओ पूर्वज थे ही नहीं, अुसी तरह जब स्वतंत्र दृष्टिको प्राप्त करनेवाला कोओ पुरुष अुत्पन्न होता है तब नवधर्मकी स्थापना होती है। अुसके धर्ममें पहलेके धर्मोंके तत्त्व होते ही नहीं, अैसा नहीं; परंतु वह पुराने ग्रंथोंसे नहीं, बल्कि अुस पुरुषके अपने वचनसे — अनुभवसे प्रमाणभूत माना जाता है। महाराष्ट्रके संत ज्ञानेश्वरने 'अमृतानुभव' में कहा है अुस तरह, "यही मत शिवने शिवसूत्रमें और कृष्णने गीतामें प्रकट किया है; परंतु शिवने या कृष्णने यह मत प्रकट किया है, अिसलिअे में अुसे नहीं कहता, बल्कि यह मेरा अपना अनुभव है अिसलिअे कहता हूं।" आपने अेक राजाकी बात सुनी होगी। अुसने अेक दूसरे राजाकी पुत्रीके लिअे मांग की। पुत्रीके पिताने अुसकी वंशावली पूछी। राजाने कहला भेजा, "मे अपनी तलवारमें से अुत्पन्न हुआ हू। मेरी तलवार मेरा आदिपुरुष है।" नवधर्मकी स्थापना अिस तरह होती है। जिस तरह किसी संपूर्ण कायदे (code) के पास हो जानेके बाद अुसके पहलेके छुटपुट कायदे नहीं देखने पड़ते, अुसी तरह नवधर्म-स्थापकका निर्माण होनेके बाद वेद, कुरान, बाअिबल वगैरा सब धर्मशास्त्रोंको निरुपयोगी बना देनेवाले शास्त्रका निर्माण होगा। अैसे स्थापककी मैं आशा करता हू।

मेरा यह कहना आज आपके गले अुतर ही जायगा, अैसा मुझे विश्वास नहीं है। अिसका दूसरा पहलू पेश करके अैसी दलीलें करना असंभव नहीं है जो आपको अच्छी तरह गड़बड़ीमें डाल दें। परंतु मैं आपको अितना तो विश्वास दिलाता हू कि मैं जो कहता हू वह जब तक आपके गले नहीं अुतरेगा, तब तक आपके चित्तका मोक्ष नहीं होनेवाला है। फिर "नाऽहं चित्त बंधमोक्षौ कुतो मे?" कह कर भले [illegible] मान लें।

[illegible], अक्तूबर १९३५)

४

ओीश्वर-निष्ठाका बल*

भाषामें अैसे बहुतसे शब्द है, जिनका हरअेक व्यक्ति अुपयोग करता है, फिर भी अुनके अर्थके विषयमे किन्ही दो दर्शनो, सप्रदायो या व्यक्तियोंका भी कभी अेकमत नही होता। 'ओीश्वर' शब्द अैसे कठिन शब्दोंमें से अेक है। कुछ समय पहले जब गाधीजीने यह कहा कि 'सत्याग्रहीकी ओीश्वरमें श्रद्धा होनी ही चाहिये', तब बहुतसे राजनीतिक कार्यकर्ताओंके मनमें दुविधा पैदा हुअी थी। ओीश्वरके अस्तित्वके विषयमें या अुसको अपना आधार माननेके विषयमे कुछ लोग शकाशील है; कुछ सिर्फ शकाशील ही नही है, बल्कि निश्चयपूर्वक ओीश्वरका अिनकार करते हैं, फिर भी सत्याग्रहका अुत्साह और लगन रखते हैं। अुन्हें गांधीजीके ये शब्द अखरते हैं। और यदि सत्याग्रही होनेके लिअे ओीश्वरनिष्ठा जरूरी हो, तो यह सवाल भी खडा होता है कि किसके अथवा कौनसे ओीश्वरमें? ज्ञानी — सूफियोंके? स्मार्तके? वैष्णवके? आर्यसमाजके? मुसलमानके? ओीसाओीके? पारसीके? सगुणमें? निर्गुणमें? या गांधीजीके 'सत्यरूपी ओीश्वर' को समझकर अुसीमें? और फिर निरीश्वरवादी साख्यो, जैनो, बौद्धोका क्या होगा? क्या अुनके लिअे सत्याग्रहका मार्ग बद समझना चाहिये?

यह वस्तु समझनेके लिअे धर्म और तत्त्वज्ञानकी सूक्ष्म चर्चाअें की जाती हैं। परतु ये चर्चाअें विषयको स्पष्ट करनेकी अपेक्षा अुलझन ही पैदा करती है। मेरी दृष्टिसे विचारने योग्य वस्तु यह है

दुनियाके अितिहासमें हमें सैकडो अुदाहरण अैसे मिलते हैं, जिनमें अकेला व्यक्ति — किसी समय बालक जैसा छोटा व्यक्ति भी — किसीकी मददके बिना जबरदस्त शक्तियोका निडरता और दृढतासे सामना करनेके लिअे खडा होता है। अिन शक्तियोंके सामने थोडा

* १९३९ के 'हरिजनबधु' में छपे अेक लेखके आधार पर।

झुक जानेसे जीवन बच सकता हो तथा लाभ भी हो सकता हो, तो भी वह झुकनेकी अपेक्षा टूटना या नष्ट हो जाना अधिक पसंद करता है। अैसे व्यक्तिके हृदयमें अैसी किस वस्तुका अनुभव होता है, जो अुसे अैसा बल देती है? प्रह्लाद अैसी किस वस्तुका अपने हृदयमें अनुभव करता था, जिसके बलपर वह अपने पिताकी कठोर यातनाओंकी अवगणना कर सका? या सुधन्वा तेलमें भुने जानेकी, गुरु गोविन्दसिंहके छोटे छोटे पुत्र दीवालमें जीवित चुने जानेकी और रोमका तरुण जलती हुआी मशालमें अपना हाथ रख देनेकी यातना संतोषपूर्वक सहन कर सके थे? प्राणों और जीवनके सुखोंके विषयमें अैसी लापरवाही बनानेका बल देनेवाली तथा शारीरिक जीवनकी अपेक्षा किसी अशरीरी वस्तुके साथ अधिक आत्मीयताका अनुभव करानेवाली आखिर कौनसी वस्तु है?

अिस तरह बरतनेके लिअे किसी जबरदस्त 'भावना' का अनुभव होना चाहिये, अैसा अनीश्वरवादीको भी स्वीकार किये बिना चारा नहीं है। यह भावना सामान्य अिन्द्रियोंके विषयोंकी या संकल्प-विकल्पोंकी नहीं है। परंतु यह अेक अैसा अनुभव है, जिसके कारण अुस मनुष्यका यह विश्वास होता है कि अुसमें कोअी अैसी शक्तिशाली प्रेरणा काम कर रही है, जो दुनियाकी दूसरी सब शक्तियोंसे अधिक बलवान है, अपने शरीर और प्राणोंकी अपेक्षा अपने अधिक समीप है।

अिस शक्तिको कोअी 'अीश्वरनिष्ठाका बल' कहना पसंद करता है, कोअी 'अध्यात्मबल' (spiritual force), कोअी 'आत्मबल' (soul-force) कहता है, कोअी 'नैतिक बल' (moral force) कहता है, कोअी 'प्रतीतिबल' (strength of conviction) कहता है। परंतु अिस बलकी परीक्षा यह है: क्या आपको अैसा कोअी बलवान अनुभव होता है, जो कसौटीके समय आपके मनमें अैसी कमजोरी पैदा न करे कि 'मुझे कोअी बचा ले तो अच्छा', अथवा 'जरा संभल कर चलूं'? आपकी भयवृत्ति पर प्रभुत्व रखनेवाले अिस अनुभवको आप चाहे जिस नामसे पहचानें, परन्तु यदि अुसका बल आपको अपने नेक मार्ग और काममें दृढ़ रहनेके

५

परोक्ष पूजा

"हमें तो अैसा लगता है कि (जिसे) पूर्वजन्मका संस्कार होगा, वह सत्पुरुषके समागमसे प्राप्त हुआ होगा; और आज भी जिसे संस्कार होता है, वह सत्पुरुषके समागमसे ही होता है। अिसलिअे अैसे सत्पुरुषका संग प्राप्त होने पर भी जिसको सत्य समझमें नहीं आता, अुसे अतिशय मंद बुद्धिवाला समझना चाहिये। क्योंकि जैसी श्वेतद्वीपमें . . . और जैसी गोलोक वैकुंठलोकमें . . . और जैसी बदरिकाश्रममें सभा है, अुसमें भी मैं अिस सत्संगीकी सभाको अधिक मानता हूं। . . . अिसमें यदि रत्ती मात्र भी मिथ्या कहता होअू, तो अिस संतसभाकी शपथ है। यह शपथ किसलिअे लेनी पड़ती है? अिसलिअे कि अैसी अलौकिकता सब कोअी समझ तथा देख नहीं सकते हैं. . . और . . . जैसी परोक्ष देवके विषयमें जीवकी प्रतीति होनी है वैसी यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरिके विषयमें हो, तो जितने अर्थ प्राप्त होनेके लिअे कहा गया है अुतने सब अर्थ अुसे प्राप्त होते हैं।"

(सहजानंदस्वामीके वचनामृत : ग० म० २)

स्वामीनारायण सम्प्रदायने मुझ पर जो अनेक शुभसंस्कार डाले हैं, अुनमें से अेक महत्वपूर्ण संस्कार मुझे यह लगा है कि अुसने मुझे परोक्षकी तरह ही प्रत्यक्षकी महिमा समझना सिखाया। मनुष्यकी अेक बड़ी कमजोरी और बेसमझी यह है कि अुसे भूतकालके पुरुष, अुनके काम, अुपदेश और ग्रन्थ बहुत ही दिव्य, भव्य, कीमती और रहस्यसे भरे हुअे लगते हैं; और जैसे जैसे वे प्राचीन होते जाते हैं, वैसे वैसे अुनके प्रति अुसका आदर बढ़ता जाता है। और जैसे जैसे कालकी तहें वे बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे अुन्हें बचा लेनेकी और अुनकी प्राचीनता मानवेकी अुसकी प्रवृत्ति तीव्र होती जाती है। सामान्य रूपसे मनुष्यको भूतकालमें सत्ययुग और सुवर्णयुग बीता हुआ लगता है, और वर्तमानकाल सदैव कलियुग ही लगता है। अिस कारणसे वह अपने समयके बुद्धिमान, विद्वान, वीर्यवान, ज्ञानवान, या चारित्र्यवान

पुरुषोंकी महत्ता समझनेमें हमेशा पीछे ही रहता है, अथवा कभी कभी तो बिलकुल समझ ही नहीं सकता। अुनके जीवन-कालमें अुनका विरोध भी करता है, परंतु अुनके मरनेके बाद अुनकी पूजा करने लगता है। यही भूल अुसके बादकी पीढ़ी करती है। अर्थात् दूसरी पीढ़ी अुन मरे हुअे पुरुषोंकी पूजा करना शुरू करती है, और अपने सामने विचरण करनेवाले अुसके बादके नये महापुरुषकी अवगणना करती है। यह बुद्धि वैसी ही है जैसे कोअी आदमी अुसकी निगाहके सामनेसे हाथी जाता हो, अुस समय तो अुसे हाथी माननेसे अिनकार करे और बादमें अुसके पदचिह्न देखकर कहे कि "अहो! अभी जो गया वह तो हाथी ही था।"

जिस तरह मनुष्य ५–६ हजार वर्ष पहलेके वेदों और वेदर्षियो तथा रामकृष्णादि 'अवतारों', २–३ हजार वर्ष पहले हो गये बुद्ध, महावीर, हजरत अीसा वगैरा धर्मसंस्थापको, डेढ हजार वर्ष पहलेके मुहम्मद वगैरा पैगम्बरों, हजार वर्ष पहलेके शंकर, रामानुज वगैरा आचार्यों, तीन सौ-चार सौ वर्ष पहलेके नानक, रामदास, चैतन्य, वल्लभाचार्य वगैरा और अभी अभी हो गये परंतु जीवितावस्थाकी अपेक्षा मरनेके बाद अधिक पूजा पाये हुअे सहजानदस्वामी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद वगैराकी अितनी महिमा समझते हैं कि अुनके साथ हमारे समयके किसी भी पुरुषकी तुलना करनेकी कल्पना भी सामान्य रूपसे अुन्हें सहन नहीं होती। जिस मनुष्य या प्रजाको अपनी अुन्नति करनी हो, अुसे यह कमजोरी और नासमझी छोड़नी चाहिये।

प्राचीन कालमें हो गये महापुरुषोंके जीवनको तथा अुनके ग्रंथोंको मूलरहित समझनेका कारण बहुत कुछ माता-पिता-गुरु वगैरा पर रहनेवाली श्रद्धा और अुनके समागमसे बंधी हुअी श्रद्धा होनी है। यदि अुस श्रद्धाकी मददसे हम अपनी आंखोंके सामने विचरनेवाले प्रत्यक्ष महापुरुषोंकी कदर करनेकी शक्तिका विकास कर सकें, तो वह अेक शुभ संस्कार है। यदि अैसा न हो सके, और हम यही मानें कि दिव्य पुरुष तथा दिव्य ग्रन्थ केवल भूतकालमें ही थे, वर्तमानमें तो कलियुग ही है, तो यह सात्त्विक दिखाअी देनेवाला जड़ताका ही संस्कार है।

स्वामी मुक्तानंद अेक पदमें जो कहते हैं, वह मनन करने योग्य है :

"स्वामिनारायणनुं समरण करतां, अगम वात ओळखाणी रे;
निगम निरंतर नेति कही गावे प्रगटने परमाणी रे।
मंगलरूप प्रगटने मेली, परोक्षने भजे जे प्राणी रे;
तप-तीरथ करे देवदेरां, मन न टळे मसाणी रे।
कथा कीर्तन कहेतां फरे छे, कर्मतणी जे कहाणी रे;
श्रोता ने वक्ता बेय समज्या विना, पेटने अर्थे पुराणी रे।
काशी, केदार के दुवारका दोडी, जोगनी जुगती न जाणी रे;
ते पाछो घरनो घरमांही, गोधो जोडाणो जेम घाणी रे।
पीधा विना प्यास नव भांगे, पंड अुपर ढोळो मर पाणी रे;
मुक्तानद मोहन संग मळना मोज अमुलख माणी रे।"*

प्राचीन ग्रंथोंका पांडित्य अत्यंत अुपयोगी या बिलकुल आवश्यक ही है, सो बात नहीं। तत्त्वकी सच्ची समझ तत्त्वज्ञानीके प्रत्यक्ष और जीते जागते परिचयके बिना अुत्पन्न नहीं होती। अैसा परिचय किसी अकथनीय रूपसे चिनगारीका काम करता है। अुसी तरह वर्तमान जीवनके कर्तव्योंके बारेमें भी समाजके प्रत्यक्ष पुरुष ही मार्गदर्शन करा सकते है। किसी बातके लिअे पुराने महापुरुषोंका और ग्रंथोंका समर्थन मिलना ही चाहिये, अैसा आग्रह बुद्धिमें जड़ता पैदा करता है।

---

* स्वामीनारायणका स्मरण करते करते अेक अगम्य बात समझमें आओ; निगम हमेशा प्रगटको सच्चा मानकर नेति कहकर अुसका वर्णन करते हैं। जो प्राणी मंगलरूप प्रगटको छोड़कर परोक्षकी भक्ति-पूजा करता है, वह चाहे तप-तीर्थ करे, देवमंदिर जाय, लेकिन अुसके मनकी दीनता दूर नहीं होती। कथा और कीर्तन जो कर्मकी कहानी है अुसे पुराणिक लोग अपने पेटके लिअे कहते फिरते हैं, परंतु कहनेवाला और सुननेवाला दोनों अुसे समझते नहीं। काशी, केदार और द्वारिका जा कर भी जो योगकी खूबीको नहीं समझे, वे तो घानीके बैलकी तरह घर आकर फिर माया-मोहमें फंस जाते हैं। पानी चाहे जितना शरीर पर डालो, लेकिन पिये बिना प्यास नहीं बुझेगी। मुक्तानंद कहते हैं, मोहनका संग मिलने पर मैंने तो अमूल्य आनंदका अुपभोग किया।

६

गलत भावुकता

अेक दिन अेक किसान कार्यकर्ता मिलने आये। प्रणाम करके सामने बिछी हुआी चटाआी पर बैठ गये। कहांसे आये, कैसे आये, क्या करते हैं, वगैरा मैंने पूछा। जवाबमें वे अपना नाम, स्थान आदि बता कर बोले: "पवनारमें विनोबा भगवानके दर्शन किये। अुनके पास कुछ दिन ठहरा, और भगवानसे खूब लाभ अुठाया। अब (मेरी ओर अिशारा करके) भगवानके दर्शनकी अिच्छासे आया हूं।"

अिस भाषासे मुझे अचरज हुआ, दुःख भी हुआ। लेकिन दुःखको दबाकर मैंने पूछा: "तब आपके कितने भगवान हैं?"

सवाल अुन्हें कुछ विचित्र-सा मालूम हुआ। अुन्होंने शायद सोचा होगा कि यह तो बोलनेकी सभ्य रीति ही है, अुस पर मुझे क्यों अेतराज अुठाना चाहिये? वे बोले:

"जी, . . . भगवान तो वैसे सबका अेक ही है। लेकिन जो कुछ है, वह भी तो सब भगवान ही के रूप हैं अैसा मैं समझता हूं। अिसलिअे आप जैसे महानुभावोंके लिअे भगवान शब्दका प्रयोग करना मैं ठीक ही समझता हूं।"

"सब भगवानके रूप हैं, अैसा कहनेमें तो कुत्ता भी भगवान होता है, और स्वयं आप भी भगवान हो जाते हैं। क्या कुत्तेके लिअे और खुद अपने लिअे भी आप 'कुत्ता भगवान' और 'मैं भगवान' अैसी भाषा काममें लेते हैं?"

"जी, . . . लेकिन अुसमें पामर प्राणी और साधु-महात्माका भेद तो करना ही चाहिये। मैं अपने जैसे पामर मनुष्यको किस तरह भगवान कह सकता हूं? कुत्ता है तो भगवानका ही रूप, लेकिन वह तो अभी हीन दशामें है, अुसे भी भगवान कहना और आपके जैसोंके लिअे भी वही शब्द काममें लेना तो अनुचित होगा।"

"तब तो दुनियामें कोअी छोटा है, कोअी बड़ा है, अिस भेद-भावका आपको अच्छी तरह खयाल है। अिसलिअे जो सबसे बड़ा

और श्रेष्ठ अेक परमात्मा है, अुनके लिअे भी भगवान शब्द बरत
और छोटी-मोटी योग्यताके आदमियोंके लिये भी वही शब्द काममें ले
क्या अनुचित नहीं? परमात्मा भगवान, गांधी भगवान, विनोबा भगवा
जाजूजी भगवान, मशरूवाला भगवान, राजेंद्रबाबू भगवान, जवाहरला
भगवान आदि सभीको अेकसा भगवान शब्द लगा सकते हैं?"

"जी, नहीं नहीं! मैंने जवाहरलालजीके लिअे कभी भगवा शब्द नहीं बरता। वे हमारे बड़े नेता हैं। और पू० बापूजी कहते हैं कि वे अुनके बाद देशके नेता होंगे, और हमारे शिक्षित लोग कहते हैं कि जयप्रकाश होंगे। लेकिन मैं अुन्हें भगवान नहीं समझता। मेरी तो बापूजी और विनोबा भगवान और आप भगवानमें ही श्रद्धा है। मैं तो विनोबा भगवानको ही बापूजीका वारिस समझता हूं। आपको सुनकर अचरज होगा कि जयप्रकाशजी हमारे गांवके नजदीक कभी बार आये हैं, और अुन्होंने भाषण दिये हैं। पर मैंने अभी तक अुन्हें देखा नहीं, फोटोमें ही देखा है। कभी सुना नहीं। मैं तो अेक गांधीजीको ही मानता हूं और विनोबा भगवानको और आप भगवानको!"

"माफ कीजिये, मुझे आपकी श्रद्धा और भावुकता अच्छी मालूम नहीं होती। और अैसा शब्द न गांधीजीके लिअे, न विनोबाजीके लिअे, और न मेरे या और किसी आदमीके लिअे लगाअिये। पहले आपने कहा कि सब कोअी भगवानके ही रूप हैं। अब जवाहरलालजी और जयप्रकाशजी जैसे बड़े और बलवान नेताओंको तो आप अुस शब्दके योग्य नहीं समझते, और मेरे जैसे अेक मामूली लेखकको भगवानकी बराबरीमें बिठाते हैं। आपको गांधीजीमें जो श्रद्धा है, वह अिसलिअे नहीं है कि वे बुद्धिकी बातें बताते हैं। लेकिन अिसलिअे है कि वे अेक पवित्र महात्मा पुरुष हैं, गरीबोंकी भलाअी चाहते हैं और अुनमें श्रद्धा रखनेसे जीवका कल्याण होगा। लेकिन आपको यह डर भी है कि गांधीजीकी बातें बुद्धियुक्त न भी हों, और आपमें बुद्धि तो है। कहीं जयप्रकाशजीकी बातें आपकी बुद्धिको जंच जायं और गांधीजी परकी आपकी श्रद्धा कम हो जाय, तो फिर जीवका कल्याण कैसे

भी डरते हैं। और यहां हम, धर्मवाले, गांधीजीकी बातोंको तरह तरहसे बदलकर या बढ़ा कर समझाते हैं। अिसलिअे यहांके छोटे-मोटे सबमें कल्पनासे भगवानका खयाल करके आप अपनी श्रद्धाको मजबूत बनाये रखना चाहते हैं।"

यह बात अुस वक्त तो यहीं पूरी हुअी। जैसी हुअी वैसी ही सब यहाँ नहीं लिखी, केवल अुसका मतलब ही लिखा है। लेकिन अिस सज्जनकी भावुकता और श्रद्धा पर मुझे जितना रंज हुआ, अुतना ही अिस विषयमें हमारे सत्पुरुषोंकी कायम की हुअी विवेकहीन और गैर-जिम्मेदार परंपराका भी हुआ। हमारे देशके सद्गुरुओं, महात्माओं, साधु संतों, आचार्यों और सम्प्रदाय-प्रवर्तकोंने लोगोंको श्रद्धाके नाम पर कितने दुर्बल, नम्रताके नाम पर बिना कारण पामर, वेदांतके नाम पर विवेकहीन और अुल्टी-सुल्टी दलील करनेमें होशियार, और सगुण भक्तिके नाम पर अनुचित ढंगसे मनुष्य-पूजक बना दिया है! "गुरु: साक्षात्परब्रह्म" अिस सूत्रकी हमने अिस प्रकारकी स्थूल व्याख्या कर दी है, और जिसका हमें अब अितना मुहावरा हो गया है कि अपने शिष्यों और लोगों द्वारा 'भगवान' शब्दसे पुकारे जानेमें, मन्दिरकी मूर्तिकी तरह पूजा-अर्चा पानेमें, परमेश्वरवाचक संज्ञायें और महिमा अपने नामके साथ जोड़े जानेमें, अपनी मूर्तिपूजा भी कायम करनेमें हमें कुछ बुरा — आघात पहुंचानेवाला मालूम ही नहीं होता, बल्कि वही मोक्षका सच्चा रास्ता समझा जाता है! परिश्रम करके शिष्योंके गुणोंको बढ़ाने, अुनकी बुद्धिको पैनी करने, अुनकी विवेक-शक्तिको तेज करने, और अुनको स्वतंत्र, स्वाधीन मानव बनानेके बदले हम अुन्हें पराश्रयी पामर रखकर गुरु-भक्तिमें ही मोक्ष पानेकी श्रद्धा रखनेवाले बना छोड़ते हैं। स्वयं अपने अहंकारको तो 'ब्रह्म' — बहुत बड़ा — बनाते रहते हैं, और शिष्यके अहंकारको दिन दिन क्षुद्र। खुद पुरुषोत्तमके पद पर आरूढ़ होते हैं और शिष्योंको मनुष्य — पुरुषार्थहीन बनाते हैं।

अिसमें भगवानका द्रोह — यानी गुनाह है, मायाका द्रोह — यानी अविवेक है, और स्वयं अपने मनुष्यत्वका द्रोह — यानी

अपमान है। ज्ञानी महात्मा ब्रह्मनिष्ठ हुआ हो, तो भी हमें केवल अेक परमात्माको ही भगवान कहना चाहिये। दूसरे किन्हींको भी— वे कितने ही बड़े और पवित्र क्यों न हों— यह शब्द न लगाना चाहिये। वे सब मनुष्य ही हैं।

मनुष्योंमें श्रम, ज्ञान, पैसा, विद्वत्ता, सद्गुण, अधिकार वगैराकी कमी-बेशीके कारण छोटे-मोटेके भेद हो सकते हैं, और असके कारण कम-ज्यादा आदर-अदब भी दिखाया जाना अस्वाभाविक नहीं। लेकिन असकी भी अेक हद होनी चाहिये। कुछ शब्द अैसे हैं जो छोटे-मोटे सबके लिअे अेकसे लगाये जा सकते हैं; जैसे — 'जी'। गांधीजी, जवाहरलालजी, विनोबाजी, जाजूजी, मौलवीजी, पंडितजी, गुरुजी, रामचंद्रजी, कृष्णजी, भाअीजी, बहनजी वगैरा चाहे जिस स्त्री-पुरुषके प्रति आदर बतानेके लिअे असे लगा सकते हैं। लेकिन असे हम परमात्माके लिअे लगाकर परमात्माजी, परमेश्वरजी, अल्लाहजी नहीं कहते और न जानवरोंको लगाकर गायजी, घोड़ाजी, कुत्ताजी कहते हैं। यानी, हमने असे मनुष्यके अदबके लिअे ही रखा है।

लेकिन मनुष्योंमें आदरके और भी बहुतसे शब्द हैं, जो सभी मनुष्योंके लिअे नहीं लगाये जाते, न भगवानके लिअे ही। जैसे, गांधीजीको 'महात्मा' कहनेकी तो अब अेक रूढ़ि हो गअी है। लेकिन अगर महात्मा नेहरू, महात्मा विनोबा, महात्मा सुभाषचंद्र, महात्मा जिन्ना वगैरा कहने लगें, तो अुन व्यक्तियोंके प्रति आदर होते हुअे भी वह बेढंगा मालूम होगा, और अगर वैसी रूढ़ि चल पड़े तो असका मतलब अितना ही हो जायगा कि हमने 'महात्मा' शब्दको 'मिस्टर', 'जनाब' या 'श्रीमान्' का पर्यायवाची बना डाला है। फिर बहुत बड़े आदमीके लिअे और कोअी शब्द ढूंढ़ा जायगा। और वैसा हुआ भी है। किसी जमानेमें शायद महात्माका अर्थ भगवान, परमेश्वर ही होता होगा। और महाभारतसे मालूम होता है कि अेक अैसा भी जमाना था, जब महात्मा शब्द किसी भी बड़े आदमीके लिअे बरता जाता था। जैसे, दुर्योधन और कर्णके लिअे भी महात्मा शब्द लगाया गया है और व्यास, कृष्ण, भीष्म धर्मराज, अर्जुन, सात्यकि आदिके

लिये भी। वैसे ही हम गांधी भगवान, विनोबा भगवान वगैरा कहने लगें, तो अुसका अितना ही मतलब हो जायगा कि 'भगवान' शब्दको हमने 'साहब' या 'महाशय' का अर्थ दे दिया है। अिस तरह हम कितने ही शब्दोंको अपनी अूचाओीसे फिजूल ही गिराते रहते हैं, और फिर आदरके नये नये शब्द ढूंढते रहते हैं।

मनुष्य जिसे अपनेसे ज्यादा मानता होगा, अुसका आदर करेगा ही। सेवा भी करेगा। लेकिन अगर वह आदर और सेवा खुदको कमीना — क्षुद्र महसूस करानेवाली और अुस बड़ेको 'देव' मनवानेवाली हो जाय, तो वह अुसे अूचा अुठानेवाली नहीं रहती। गुरुओंका और बड़े लोगोंका फर्ज है कि वे अपने अूपर श्रद्धा रखनेवालोंके 'देव' न बन जायं। क्योंकि अुनके मनुष्यरूपमें होते हुअे देवपद स्वीकार करनेके मानी होते हैं, शिष्योंमें मनुष्यत्व होते हुअे पामरता व लघुताका संस्कार पैदा करना।

सेवाग्राम, २५-५-'१९४६

७

ओश्वर विषयक कुछ भ्रम

आजकल दरिद्र समाजका दर्शन करानेवाले छोटे-बड़े अुपन्यास अच्छी संख्यामें लिखे जाने लगे हैं। हमारे देशकी अत्यन्त दुःखी, दरिद्री, अन्याय-पीड़ित जनता अेवं स्त्रियोंकी शोचनीय दशाके प्रति लेखकोंका —विशेषकर तरुण लेखकोंका— समभावयुक्त ध्यान आकर्षित हो रहा है, और पढ़े-लिखे लोगोंका हृदय अिस अुपेक्षित मानव-सागरके प्रति हिलनेका प्रयत्न हो रहा है, यह अेक शुभचिह्न है।

परंतु अिन अुपन्यासोंके द्वारा भी अेक दो अुद्देश्य नजर आते हैं। अेक तो अुपन्यासके चित्रको अिस तरह खींचना, जिससे पूंजी-वाद और पूंजीपतियोंके प्रति घृणा अुत्पन्न हो। अर्थात् अिस अुद्देश्यके लिये आलेखित अुपन्यासोंमें यदि यही बताया जाय कि जहां जहां

दुःख-दारिद्रय-अन्याय है, वहां वहां अुसके कारणस्वरूप पूंजीवाद या पूंजी-पति ही है, तो कोअी आश्चर्य नहीं है। परंतु अिस प्रयत्नके साथ साथ अैसा अुपदेश भी मिलाया जाता है, जिससे अीश्वरके प्रति भी घृणा अुत्पन्न हो और अुसके अस्तित्वमें अविश्वास हो।

जब मनुष्य किसी भी वस्तुकी केवल आसक्तिसे ही नहीं, बल्कि पूर्वग्रह और रोषसे भी जांच करता है, तब न तो वह न्यायपूर्ण दृष्टिसे निरीक्षण कर सकता है और न स्वयं भ्रम-मुक्त हो सकता है। अिस कारणसे अिन अुपन्यासोंमें अीश्वरके विषयमें बहुत ही अपूर्ण और भ्रमयुक्त विचार दीख पड़ते हैं, और अुसमें जिस अीश्वरकी लेखक निन्दा करना चाहते हैं, अुस शक्तिके विषयमें स्वयं अुनका ही अज्ञान प्रकट होता है।

मार्क्स आदि युरोपीय लेखकोंने जिस विचारका प्रचार किया है कि अीश्वर और धर्ममत (religion, church, अनुगम) सब सत्ताधारियों द्वारा अपनी सत्ताको मजबूत करनेके लिअे निर्माण की हुअी कपोल-कल्पित माया है। हमारे देशके अनेक तरुणोंने अुस विचारको जैसेका तैसा अपना लिया है और भिन्न भिन्न प्रकारसे अुसको वे हमारे साहित्यमें फैला रहे हैं। परन्तु यह बात अुनके ध्यानमें आअी हुअी मालूम नहीं होती कि यहूदी, अीसाअी, मुस्लिम आदि किसी विशेष व्यक्ति द्वारा स्थापित किये हुअे, अर्थात् पौरुषेय अथवा दूतप्रकाशित (revealed) धर्ममतोंमें और हिंदू, जैन, बौद्ध आदि किसी विशेष व्यक्ति द्वारा स्थापित न किये हुअे, अर्थात् अपौरुषेय अथवा अनुभूत (realized) धर्ममतोंमें अीश्वरके स्वरूपकी समझमें अेक बड़ा महत्त्वका अन्तर है। वह अन्तर यह है कि दूत-प्रकाशित धर्ममतोंमें अीश्वरको आकाशके पार और निराकार होते हुअे भी बुद्धि और भावनायुक्त अेक तत्त्वविशेष माना गया है, और यह माना गया है कि जिस तरह अेक कुम्हार मिट्टीसे अपनी अिच्छानुसार बर्तन बनाता है, परंतु मिट्टी और बर्तन दोनोंसे भिन्न रहता है, वैसे ही अीश्वरने सब सृष्टि बनाअी है, अेवं जिस तरह मिट्टीसे किस स्वरूपका कैसा बर्तन बनाना है अिसका सोच-विचार और निर्णय करके कुम्हार

अुसे बनाता है, अुसी तरह औीश्वरने जगत्के प्रत्येक जड पदार्थ तथा चेतन प्राणियोंके विषयमें पहले सोच-विचार और निर्णय करके फिर अुसे बनाया है। अर्थात्, जिसे अुसने जैसा चाहा वैसा बनाया। अुसमें अुस प्राणीके बलाबल या अिच्छा-अनिच्छाका कोअी संबंध नहीं है। बादमें मनुष्यको यह धर्म समझाया गया है कि वह औीश्वर सर्वज्ञ, न्यायी और दयावान है। अिसलिअे अुसने जो कुछ किया होगा वह ठीक ही किया होगा, अिस श्रद्धासे अुसकी निर्माण की हुअी परिस्थितिमें संतोष मानना और अुसकी शरणमें रहना यही अुद्धारका मार्ग है। यह हुआ अुनका औीश्वर-विचार। फिर औीश्वरकी अिच्छाओंको जाननेवाले पैगंबरोंकी कल्पना की गअी है, और अुन्होंने अपने अपने काल और देशमें जो कुछ धार्मिक विधियां और सामाजिक रूढ़ियां कायम कीं तथा प्रणालिकायें और सदाचारके नियम बांध दिये, वे सब दूतों द्वारा औीश्वरदत्त ही थे, यह श्रद्धा रखी गअी है। अर्थात् वे सब रूढ़ियां, प्रणालिकायें और नियम मिलकर अेक-अेक धर्ममत (religion) – अनुगम – हो गया है।

यद्यपि हमारे देशके भी धार्मिक साहित्य और लोकवाणीमें अुपरके विचार बारबार प्राप्त होते हैं, और वर्णाश्रम-व्यवस्था औीश्वरकी बनाअी हुअी है, वेद औीश्वरदत्त हैं आदि विधान किये जाते हैं, तथापि यह केवल भाषाशैथिल्य है। अिसमें अपौरुषेयका अनुवाद औीश्वर शब्दमें कर दिया जाता है। वास्तवमें हमारे देशके किसी भी धर्ममत या अुसके किसी भी पंथमें औीश्वर-स्वरूप, समाज-धर्म तथा विधि-धर्मकी तात्त्विक नींव अुपरोक्त नींवसे बिलकुल भिन्न प्रकारकी है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, सेश्वर, निरीश्वर, वैदिक, जैन, बौद्ध चाहे जिस मतका मनुष्य हो, हिन्दू धर्म-विचारमें औीश्वरको सृष्टिका कुम्हार जैसा कर्ता नहीं समझा गया है। अिसके अतिरिक्त हिन्दू धर्मोंमें औीश्वरके साथ साथ अेक दूसरी शक्तिका भी अस्तित्व माना गया है। अुसे हम 'कर्म'के [illegible] ६ कहनेमें हरकत नहीं कि सेश्वर मतोंमें [illegible] न किसी प्रकारका द्विराजकत्व [illegible] ५८ अेक

स्वेच्छाचारी सर्वाधिकारी (autocrat or dictator) है और न कर्म ही संपूर्णतया स्वाधीन है। अिसी कारणसे अीश्वरको केवल कर्मफल-प्रदाता कहते हैं, अथवा साक्षीमात्र और अकर्ता भी कहते हैं। निरीश्वरमतोंमें अीश्वरको स्थान ही न होनेसे अीश्वर पर दोषारोपण करनेवाली भाषा निरर्थक हो जाती है।

सारांश यह है कि हिंदू धर्ममें कोअी कितना भी महान् अीश्वर-भक्त हो और अीश्वरको अधिकसे अधिक सर्वाधिकार — कर्मोंको नाश करनेका भी अधिकार — देता हो, तो भी वह अीश्वरका सर्वाधिकारित्व अुसके अनन्य भावसे शरणमें गये हुअे भक्तोंके लिअे ही मानता है। जो अुसके अनन्य भक्त नहीं हैं, अुनके अूपर तो भक्तके मतसे भी कर्मोंका ही आधिपत्य होता है, और अुसके लिअे अीश्वर केवल फलप्रदाता ही माना जाता है।

अिसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुओंके विचारसे हमारे सुख-दुःखोंके लिअे मुख्य जवाबदारी कर्मकी मानी गअी है, न कि अीश्वरकी। वह कर्म चाहे आजका हो, कलका हो, या बहुत पहलेका हो; वैयक्तिक हो, पूर्वजोंका हो या समग्र समाजका हो; अिस जन्मका हो या पूर्वजन्म पर आरोपित किया गया हो — किसी न किसी प्रकारके कर्मके कारण ही हमारी वर्तमान अवस्था है, और अुसीके कारण अुसमें परिवर्तन होगा। भक्त अिस मान्यतामें अितनी बात बढ़ा देता है कि यदि मनुष्य अुसके साथ अनन्यभावसे अीश्वरकी शरण ले तो यह परिवर्तन अधिक शीघ्र हो सकता है; वैसा न हो तो कर्मके नियमोंके अनुसार ही अुसकी प्रगति हो सकती है। यह विचार ठीक है या नहीं, अथवा कहां तक ठीक है, अिसकी चर्चा यहां करनेकी जरूरत नहीं है। यहां केवल अितना ही बताना है कि हिंदुओंके विचारसे व्यक्ति या समाजकी आज जो भी अवस्था है, वह वर्तमान या भूतकालके वैयक्तिक अथवा सामाजिक कर्मोंके परिणामस्वरूप है, और वर्तमान तथा भविष्य कालमें वैयक्तिक और सामाजिक कर्म द्वारा ही अुसमें अच्छा या बुरा परिवर्तन होगा। हमारी आजकी अवस्था कोअी स्वेच्छाचारी अीश्वरके खेलका परिणाम नहीं है।

अब मेरी दृष्टिसे अिस कर्मके विषयमें जो भूल हमारे विचारोंमें आ गअी है, वह यह है कि हम आम तौर पर केवल वैयक्तिक कर्मोंके अूपर ही सुख-दुःखका अुत्तरदायित्व आरोपित करते हैं, और अुसमें भी बहुत ही जल्दी अेकदम पूर्वजन्मके कर्मोंका तर्क दौड़ाते हैं। यह विचार कुछ गलत है। सृष्टिके सब प्राणी और पदार्थ शरीरके अवयवोंकी तरह अेक-दूसरेसे संबंधित हैं, तथा अनादि भूतकालसे भी अुनका सम्बन्ध है। अेक दूसरेसे बिलकुल ही स्वतंत्र और भिन्न और नया अिस जगत्‌में कुछ नहीं है। यदि यह विधान सच है, तो किसीके सुख-दुःखका कारण केवल अुसके वैयक्तिक कर्म ही नहीं, दूसरोंके कर्म भी हो सकते हैं। अुसके पूर्वजोंके कर्म भी हो सकते हैं तथा अुसके अैसे दूसरे समाजोंके कर्म भी हो सकते हैं और सृष्टिकी प्राकृतिक शक्तियाँ भी हो सकती हैं। अर्थात्, यदि अेक छोटी बच्ची विधवा हो तो अुसके वैधव्यका कारण अुसीका कर्म है, यह मानना गलत है। अुसमें अुसके माता-पिता और आप्तजन, जिस समाजमें अुसका जन्म हुआ अुस समाजकी रूढ़ियाँ तथा अुस रूढ़िको अुत्पन्न करनेवाली सारी कर्म-परंपरा ही विशेष कारणभूत है। जब वह रूढ़ि बदल जाती है, तब छोटी लड़कियोंको वैधव्य प्राप्त होना असंभव हो जाता है। अर्थात्, समाजकी कर्म-परंपरा बदल जाने से वैयक्तिक दुःख टल जाता है। यही बात हरिजन आदि दलित और दारिद्र्य-पीड़ित वर्ग, स्त्री-वर्ग, रियासतोंकी जनता और गाय, बैल वगैरा पशुओंके दुःखोंके विषय में भी कही जा सकती है। अेक जीवको स्त्रीत्व या पुरुषत्व प्राप्त होनेमें और अमुकके घर पैदा होनेमें अुसका पूर्व कर्म भले ही मान लिया जाय। परन्तु यदि वह स्त्री हो तो अुस पर विशेष बंधन डालने, अथवा अुसके घरको अस्पृश्य मानकर अुस पर विशेष प्रतिबंध रखने, अथवा वह दारिद्र्य-पीड़ित हो अैसी परिस्थिति निर्माण करनेमें अुसके पूर्व कर्मकी अपेक्षा अुसके माता-पिताके कर्म या अुसकी सामाजिक कर्म-परंपरा विशेष कारणभूत है।

परंतु कर्म-सिद्धान्तकी शुद्ध दृष्टिका विचार करना अिस लेखका अुद्देश्य नहीं है, और न अीश्वरके विषयमें समुचित दृष्टि कौनसी है,

अिसका पूर्ण विवेचन करना ही अिसका अुद्देश्य है। अिस लेखका अुद्देश्य सिर्फ अितना ही है कि अीश्वरके प्रति नास्तिक भाव पैदा करनेके लिअे जिन अुपन्यासोंमें अीश्वर-विषयक जो विचार और निन्दात्मक विधान किये जाते हैं, वे हमारे समाजके लिअे बड़े ही भ्रमसे भरे हुअे होते हैं। वे हमें अपनी दशा सुधारनेमें किसी प्रकारकी सहायता देनेकी जगह केवल हममें निराशा, निर्बलता, और पुरुषार्थशून्य असंतोष निर्माण करनेका ही काम कर सकते हैं। हिंदू जनताकी भावनामें अीश्वर या तो केवल साक्षीरूप, अकर्ता और कर्मफल-प्रदाता है, अथवा यदि वह भक्तोंकी दृष्टिमें कर्ता है, तो अुसका कर्तृत्व किसीको पीड़ा पहुंचाने, पीड़ित रखने, या पाप अथवा नरकमें ढकेलनेके लिअे प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु जो अुसकी अनन्य शरण लेता है अुसके कष्ट और पापोंको हटाने और अुसके ज्ञान, बल, बुद्धि तथा सात्त्विक संपत्तिको बढ़ानेके लिअे ही प्रवृत्त होता है। जो अीश्वरकी अनन्य भावसे शरण नहीं लेता अुसके लिअे अीश्वर नहीं-सा ही है, कर्म ही विशेष साधन है; फिर वह स्वकर्म हो या परकर्म हो। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मनुष्यकी शुभवृत्तियोंको जागरित, प्रेरित और बलवती करनेवाले अुसके गूढ़ तत्त्वका ही नाम अीश्वर है, और वह अेक बड़ी बलवान शक्ति है। यदि अपने अज्ञानयुक्त विधानोंसे हम जनताकी अिस शक्तिको कुण्ठित करें, तो अैसा ही कहना होगा कि जिस डाल पर हम बैठे हुअे हैं, अुसीको काटना चाहते हैं। अिससे जनतामें बल पैदा न होगा, नवजीवनका सचार नहीं होगा, बल्कि अुसका विनाश होगा।

'नवराजस्थान', वसंत पंचमी, १९३६

संसार और धर्म

तीसरा भाग

धर्म

१

धर्मका नवनिर्माण

धारा-सभामें जब किसी विषयमें नया कायदा बनाया जाता है, तब अुस विषयके पुराने कायदे और कलमें रद कर दी जाती हैं; बादमें अुस नये कायदेका ही आधार दिया जा सकता है और पुराना निकम्मा हो जाता है। अिसका अर्थ यह नहीं है कि पुराने कायदेकी हरअेक कलममें परिवर्तन किया जाता है और नयेमें अुसका कोअी अंश नहीं दिखाअी देता। परतु किसी भी नियमकी प्राचीनताका महत्त्व नहीं रहता। अुसकी कीमत तो अिसीलिअे है कि अुसे नये कानूनमें स्थान मिल गया।

हिन्दू धर्ममें अेक बड़ा दोष यह रहा है कि यद्यपि हर जमानेमें नये सद्‌गुरु, स्मृतिकार, आचार्य तथा सुधारक हुअे हैं, तो भी अिनमें से किसीने पुरानी श्रुति-स्मृतियों, भाष्यों और रूढ़ियोंको आगेके लिअे अप्रमाणित — रद्दी नहीं ठहराया। अथवा यह कहा जाय कि किसीको अितनी मान्यता नहीं मिली कि जिससे अुसके अुपदेश या शिक्षणसे भिन्न अथवा विरोधी शिक्षण देनेवाले ग्रंथों, वाक्यों अथवा रूढ़ियोंको अप्रमाणित माना जाय। अिसके विपरीत, पुराना और नया शिक्षण अेक-दूसरेसे विरुद्ध हो, तो भी दोनोंको अेक समान महत्त्व देनेकी और हठपूर्वक दोनोंमें से अेक ही अर्थ निकालनेका प्रयत्न करनेकी परंपरा चली आअी है। अिसका नतीजा यह हुआ है कि हरअेक विषयमें अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रमाण दिये जा सकते हैं, और 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' (हरअेक मुनिका अलग अलग मत) जैसी बात होती है।

कदाचित् अिस्लाममें ही यह बात पहले-पहल हुअी है। वहां कुरानने अरबस्तानके सारे पुराने ग्रन्थों तथा रूढ़ियोंको अप्रमाणित ठहरा दिया। अुनमें से जो कुछ स्वीकार करने योग्य लगा होगा, अुसका कुरानमें समावेश करके प्राचीन शास्त्रोंको डूबने और अुन पर

विचार करनेकी जरूरत नहीं रहने दी; बल्कि वैसा करना दोषपूर्ण माना गया। सिक्ख धर्ममें ग्रन्थसाहबने भी धर्मके अेक क्षेत्रमें अैसा ही कुछ किया, परंतु मेरा खयाल है कि अुसने जीवनके सब अंगोंके विषयमें अपनी नअी स्मृति नहीं बनाअी।

मानव-जीवनका, भारतवर्षके जीवनका, कौटुम्बिक जीवनका, व्यक्तिगत जीवनका अथवा आसपासके समाजसे संबंधित किसी भी सवालका जब जब मैं गहरा विचार करता हूं, तब तब मैं आखिरमें अिस निर्णय पर पहुंचता हूं कि दुनियाके आजकलके धर्मसंप्रदायोंमें से किसीमें भी अिन प्रश्नोंको सुलझानेका सामर्थ्य नहीं रहा है। मनुष्यों पर अुनका अंकुश अब ढीला हो गया है। सर्वधर्म-समभावकी दृष्टिसे सब धर्मोंमें से थोड़े थोड़े अंश लेकर अेक नया मिश्र संप्रदाय बनावें, तो अुसमें भी यह सामर्थ्य अथवा शक्ति नहीं आ सकती। मनुष्यके लिअे परमात्मा और परमात्मासे अभिन्न अैसे अिस विश्वव्यापी जीवनका नया दर्शन और नया भाष्य (interpretation) प्राप्त होनेकी और अुसके आधार पर मानव-जीवनके हरअेक क्षेत्रमें आवश्यक संशोधन या नअी रचना करनेकी अब जरूरत है।

यह मैं नहीं कह सकता कि यह कौन करेगा, किस तरहसे किया जा सकेगा और अुसमें कितना समय लगेगा। मैं यह भी नहीं कह सकता कि अिस नवदर्शन और नवभाष्यमें कुछ भी त्रुटि नहीं रहेगी अथवा वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ चलनेवाली रचना होगी। जिसमें कभी भी कोअी क्रान्तिकारक संशोधन न करना पड़े, जो कभी भी नाश, ह्रास या जीर्णताका शिकार न हो, या जिसमें कुछ भी अशुभ तत्त्व न हो, अैसी कोअी रचना दुनियामें हो ही नहीं सकती। परमात्मा सदैव अेकरूप और सनातन है, फिर भी हर युगमें अुसके दर्शनमें नवीनता होती है और नवदर्शनमें से नया धर्म और नया जीवन पैदा होता है। जब नया दर्शन होता है, तब प्राचीन दर्शन और अुस पर गढ़ी धर्मरचनाको पकड़ रखना दोष है। अुस नयेमें भी दोष तो होंगे ही, फिर भी नये युगमें वही काम दे सकता है, प्राचीन नहीं। अुस नयेमें प्राचीनका सारा स्वरूप नाश नहीं हो सकता; परंतु अुनका

ाब, व्यभिचार, चोरी, रिश्वत, धोखेबाजी, झूठ, आलस
योंसे मुक्त रहना।

लोगोंकी सेवा करनी है, अुनका नैतिक स्तर जब तक
ठता, तब तक बड़े पैमाने पर अुनकी आर्थिक अुन्नतिको
ा चाहिये। अगर जनताको जीवनका अेक नया संदेश
और वह अपने नैतिक सुधारकी जरूरत समझ जाय,
लेने, साफ आदतें डालने, कुछ बातोंमें कोरकसर करने
अुदार होने, मेहनती और अीमानदार रहते हुअे भी
मान (स्टॅन्डर्ड) अूंचा करने और पूरा मेहनताना मांगनेका
के लिअे अुसकी मिन्नत करनेकी जरूरत न रहेगी। नयी
ने ही मनमें बसा हुआ हीनग्रह (inferiority complex)
गा।

२

समझके साथ नयी तरहके कामोंको अुठाने तथा तालीम,
। वगैराकी जरूरत तो होगी ही। सब चीजों और
मत नये ढंगसे आंकी जायगी।

। जीवन-व्यवस्थामें मनुष्योंकी कीमत अुनकी जाति,
, धन-दौलत, अधिकार आदिसे की जाती है। कामकी
। मिनेवालेकी ताकत और काम करनेवालेकी मुश्किलसे
, और चीजोंकी कीमत अुनकी कमी और लुभावनेपनसे
है।

जीवन-व्यवस्थामें मनुष्यकी कीमत अुसके चरित्र और
दूराअी मानी चाहिये, तथा कामकी कीमत वह जीवनकी
पूरी करनेमें कितना हिस्सा देता है, अिस परसे कायम
र; और वस्तुओंकी कीमत ठहरानेके लिअे वह देखना

धर्मका निर्माण हुअे बिना मुझे कल्याणकी
कोअी आशा नहीं दीखती।

८२ ('शिक्षण अने साहित्य')

२

नयी समझ

१

अनुभव यह है कि किसी कौमकी अुन्नति होनेसे
धर्म, यानी जिंदगीके बारेमें अेक नयी समझ
है। जब तक जीवनमें आशा पैदा करनेवाला
को नजर नहीं आता, तब तक लोकसेवाकी सारी
दुरुस्तियां ही हो सकती हैं। अपने-आप आगे
से पैदा नहीं होती।

समझके अंग ये हैं:

अुसके अन्त और अुसके ध्येयको अेक नये अर्थमें
करना;

नयी नियमावली बनाना। यह नियमावली अेक
रोंसे ज्यादा व्यापक पैमाने पर बनी हुअी होगी,
अुसमें संयम, सादगी, शरीर और अिर्दगिर्दकी
पवित्रताका खयाल ज्यादा सख्त होगा;

को अपनानेवालोंमें भाअीचारेकी स्थापना;

और सामूहिक तौर पर कुछ कामोंमें सभीका

३. अवतारों, पैगम्बरों, गुरुओं तथा अुनकी तस्वीरों वगैराके लिअे आदर हो सकता है, परंतु औश्वरके बदले या औश्वरके प्रतिनिधिके रूपमें या औश्वरकी तरह ही अुनकी अुपासना नहीं हो सकती। जो पूजा औश्वरके ही लिअे ठीक हो, वह अुन्हें — भले वे कितने ही पूर्ण और बड़े महात्मा क्यों न हों — अर्पण नहीं की जा सकती।

४. जिनके लिअे हमारे दिलमें आदर हो, अुनके पास हम आदरभावसे जायें और अुनकी सेवा भी करें, लेकिन अुस आदर और सेवामें यह भाव न होना चाहिये कि हम अुनके आगे नीच, पामर, छोटे और नाचीज आदमी हैं।

४

तत्त्वज्ञानकी भाषा छोड़कर आलंकारिक भाषामें कहूं, तो औश्वर और शैतानके बीच अैसी दुश्मनी नहीं है, जैसी दुश्मनीकी शास्त्रोंसे हमें कल्पना होती है। कओी बार वे दोनों अेक ही ध्येयके लिअे काम करते पाये जाते हैं। दोनोंके बीच फर्क सिर्फ साधनोंका होता है। शैतानको अच्छे साधनोंसे ही काम लेनेका आग्रह नहीं होता। अैसा देखा गया है कि वह बहुत बार बुरे साधनोंसे अच्छी चीज पैदा करता है। अिसलिअे साधारण आदमीके दिलमें अुस पर भी गहरी श्रद्धा होती है। दीर्घदृष्टिसे विचारने पर ही शैतानके सयानपन और दृष्टिकी विशालताके बारेमें शक पैदा होता है।

लेकिन दीर्घदृष्टिकी भी अपनी अेक हद होती है। परीक्षाके समय दीर्घदृष्टिवाला मनुष्य भी फिसल जाता है। तुरन्त फलकी नीतिसे समझौता करनेके लिअे तैयार हो जाता है। शैतानके कामोंका निषेध करनेकी अुसमें हिम्मत नहीं होती।

किन्हीं भी तरीकोंसे काम लेनेके लालचको भी जिन्दगीकी लड़ाओीका अेक हिस्सा ही समझना चाहिये। अुसमें कभी कभी भूल कर बैठें, तो भी बार बार हमें औश्वरके पक्षमें ही जानेका प्रयत्न करना चाहिये।

सेवाग्राम, १४-८-'४५ ('कोडियुं')

३

शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा

मैंने अपनी 'व्यवहार्य अहिंसा' शीर्षक लेखमालामें यह लिखा था कि "दुनियाके सब देशों और धर्मोंमें 'भद्र' और 'सन्त' अैसी दो बुनियादी संस्कृतियां प्राचीन कालसे चली आती हैं। हमारा देश भी अिस बारेमें अपवादरूप नहीं है।"* जहां तक मुझे पता है, भद्र शब्द किसी भी भाषामें अनादरसूचक नहीं है। मैंने जिस संस्कृतिका भद्र नामसे परिचय कराया है, अुसके लिअे मेरे दिलमें अनादर नहीं है। यह प्रकट करनेके लिअे ही मैंने अुसे भद्र कहा है। भद्र संस्कृतिने भी मानव-समाजमें बहुत बड़े बड़े काम किये हैं, यह बात भी मैंने अपनी लेखमालामें स्वीकार की है। फिर भी भद्र संस्कृतिकी अेक मर्यादा है, जिससे अूपर वह अुठ नहीं सकती। यदि वह अुस मर्यादासे अूपर अुठ जाय, तो सन्त संस्कृतिमें परिणत हो जायगी। भद्र संस्कृतिसे जो अूपर अुठते हैं, वे ही सन्त हैं।

मेरे अिस कथन पर 'सिद्धान्त' साप्ताहिकके विद्वान् संपादकने आपत्ति अुठाअी है। १० जून १९४१ के अंकमें वे लिखते हैं, "जिन्हें दो बुनियादी संस्कृतियां बतलाया गया है, वे वास्तवमें परस्पर-विरोधी नहीं हैं। अिन दोनोंका मूल, अिन दोनोंका आधार, अेक ही है और वह है धर्मशास्त्र।"

दुनियाके सभी धर्मोंके शास्त्रियोंकी रायमें अुनका अपना धर्मशास्त्र ही परम और अंतिम प्रमाण होता है। 'नामूलं लिख्यते किंचित्' यह अुनकी प्रतिज्ञा होती है। यानी अुनका यह आग्रह होता है कि किसी भी वस्तुको अुचित या अनुचित ठहरानेके लिअे अपने धर्मशास्त्रमें कोअी-न-कोअी प्रमाण खोजकर निकालना ही चाहिये। अगर अैसा आधार न मिले, तो वह वस्तु मान्य नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही बुद्धिग्राह्य और हृदयग्राह्य क्यों न हो।

---

* 'अहिंसा विवेचन', भाग २, लेख २२।

लेकिन अैसी परिस्थितिमें बुद्धि अपनी हार मजूर करना ज्यादा वक्त तक बरदाश्त नहीं करती। वह कोअी-न-कोअी रास्ता निकालनेकी फिक्रमें रहती है। शास्त्रसे जकड़ी हुअी बुद्धि अुसके बंधनको तोड़कर आगे बढ़नेकी हिम्मत नहीं करती। लेकिन शास्त्रवचनके नये नये भाष्य लिखनेकी हिम्मत कर लेती है। किसी-न-किसी तरहसे पुराने वाक्योंमें से अपने अनुकूल नये अर्थ निकाल लेती है और फिर अैसा प्रतिपादन करती है कि वह चीज शास्त्र-समत ही है।

अिस प्रकार वे ही श्रुतिवचन और स्मृतिवचन निरीश्वरवादी सांख्यों तथा अद्वैत, द्वैत अेवं विशिष्टाद्वैतवादी वेदांतियों और मीमासकोंके लिये आधारभूत होते हैं। वे ही श्रुति-स्मृतियां अस्पृश्यताके स्वीकार और निवारण, दोनों मतोंके विद्वान् शास्त्रियोंके लिये प्रमाणभूत होती हैं। यावज्जीवन वैधव्य और विधवा-विवाह, स्थायी विवाह और तलाक, मासाहार और मास-निषेध, पशुयज्ञ और औषधि-यज्ञ, आदि परस्पर-विरोधी विचार रखनेवाले शास्त्री धर्मशास्त्रोंके आधार पर ही अपने अपने मतोका समर्थन करते हैं।

कोअी अैसा न समझे कि यह बात हमारे ही देशमें या सिर्फ हिन्दू धर्ममें ही होती है। कुरान या बाअिबलवादी शास्त्रियोंका भी यही रवैया है। बाअिबलका हवाला देकर गुलामीकी प्रथाका समर्थन और विरोध करनेवाले बड़े बड़े पादरी थे। किसी मौलवीकी क्या मजाल है कि वह कुरानसे परे होकर विचार करनेकी गुस्ताखी करे? अैसी हालतमें अगर किसी बातका समर्थन या निषेध करना हो तो कुरान वगैरा धर्मशास्त्रोंके वचनोंकी अपने अनुकूल व्याख्या करके ही किया जा सकता है।

अिस विचारधाराको माननेवाले धर्मशास्त्रीकी दृष्टिमें कोअी व्यक्ति सिर्फ अिसलिअे सन्त नहीं माना जा सकता कि हमने अपने अनुभवसे अुसे बहुत ही नेक पाया है; बल्कि अिसलिअे कि अैसे पुरुषको सन्त माननेके लिअे धर्मशास्त्रमें प्रमाण मौजूद है। नतीजा यह है कि वैदिक धर्मके शास्त्रियोंकी दृष्टिमें अेक जैन महात्मा सन्तपुरुष नहीं हो सकता; क्योंकि वह नास्तिक है। अुसी तरह वेद-धर्ममें पला हुआ

अेक व्यक्ति कितना ही साधु-स्वभाव क्यों न हो, जैन दृष्टिमें वह सन्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह मिथ्या दृष्टिमें पला हुआ है। और न कोअी हिन्दू महात्मा अिस्लाम या अीसाअी धर्मकी दृष्टिमें सत्पुरुष हो सकता है; क्योंकि वह अुनके पैगम्बरोंका अनुगामी नहीं है।

जब शास्त्रोंका आश्रय लेनेकी दृष्टि अिस हद तक पहुंच जाती है, तब मेरी नम्र रायमें शास्त्रसे दृष्टि प्राप्त होनेके बदले अन्धत्व प्राप्त होता है, ठीक अुसी तरह जिस तरह कि प्रखर सूर्यकी किरणोंकी तरफ ताकते रहनेसे अन्धत्व प्राप्त होता है।

कअी शास्त्रग्रंथ अवश्य ही बड़े आदरणीय हैं, लेकिन वे अिसलिअे आदरणीय नहीं हैं कि *शास्त्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, बल्कि अिसलिअे* कि वे किसी न किसी सत्पुरुष द्वारा लिखे हुअे माने जाते हैं।

आदि सत्पुरुषका निर्माण किसी शास्त्र द्वारा नहीं हुआ है, बल्कि आदि सत्पुरुषने ही किसी-न-किसी शास्त्रका निर्माण किया है। और दुनियाके सभी शास्त्रग्रन्थ नष्ट हो जायं, तो भी दुनियामें सत्पुरुष होते ही रहेंगे और नये नये शास्त्रोंका निर्माण होता रहेगा। यदि किसी शास्त्रने किसी सत्पुरुषका बहुमान किया हो या अुसके व्यवहारोंको मान्य किया हो, तो अैसा करके अुसने अुस सत्पुरुष पर मेहरबानी नहीं की, बल्कि अपनी ही कीमत बढ़ाअी है।

किसी शास्त्रको माननेवाला व्यक्ति अुस शास्त्रसे बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। सर जगदीशचंद्र बसु या सर चंद्रशेखर रामन जैसा कोअी प्रथम श्रेणीका वैज्ञानिक जब किसी दूसरे वैज्ञानिक ग्रन्थका आदर करे या अुसका हवाला दे, तब वह अिस बुद्धिसे हवाला नहीं देता कि वह अुस ग्रन्थमें लिखी हुअी बातको अिसीलिअे सही मानता है कि वह अुस ग्रन्थमें पाअी जाती है, बल्कि अिस बुद्धिसे कि दूसरे वैज्ञानिकोंका अनुभव भी अुनके अपने अनुभवकी ताअीद करता है। लेकिन विज्ञानके साधारण पंडित, जिन्हें अपना *निजका कोअी अनुभव नहीं है, केवल अुस ग्रंथके आधार पर ही अुस* ... स्वीकार करते हैं अिसलिअे अुसका प्रमाण देते हैं। यही बात ... पर भी लागू होती है। श्री ज्ञानेश्वरने 'अमृतानुभव' में अेक

जगह अपना मत बतलाकर आगे लिखा है — "और यही शिवगीता तथा भगवद्गीताका भी मत है। लेकिन अैसा न माना जाय कि शिव और श्रीकृष्णके वचनोंके आधार पर ही मैंने अपना मत बनाया है। अुनके अैसे वचन न होते तो भी मैं यही कहता।"

तुलसीदास और रामदास, नामदेव और तुकाराम, नानक और कबीर ये सभी असलमें वैदिक परंपरामें पले हुअे सन्त थे। लेकिन तुलसीदास और रामदासने शास्त्रोंको जितना माना, अुतना नामदेव और तुकारामने नहीं माना और नानक और कबीर तो अुन्हें पार ही कर गये। सन्तोंकी पहली जोड़ी भद्र संस्कृतिमें पली हुआी थी और आखिर तक किसी-न-किसी रूपमें अुससे संलग्न रही। फिर भी तुलसीदासजीके राम और वाल्मीकिके राममें कितना अंतर है? तुलसीदासजी अपने रामके द्वारा शम्बूकका वध न करा सके और न अुनसे अस्पृश्यता तथा पंक्तिभेदके नियमोंका पालन करा सके रामदास जिस अूंचाआी तक नहीं पहुंच सके। नामदेव और तुकाराम तो भद्रेतर ही थे। नानक और कबीरने साम्प्रदायिक शास्त्रोंका सहारा ही छोड़ दिया; केवल अुनके सारको ही अपनाया।

और शास्त्रोंको अन्तिम प्रमाण मानने पर भी मनुष्य अपनी विवेकबुद्धि चलानेसे कहां मुक्त होता है? अेक ही शास्त्रके तीन भाष्यकार तीन अर्थ निकालें, जो परस्पर विरोधी हों, तो हरअेक आदमीको अपनी निजकी या किसी गुरुकी विवेकबुद्धिसे काम लेकर अेकको स्वीकार और दूसरेका त्याग करना ही पड़ता है। मांसाहार और मूर्तिपूजाको भी शास्त्र-प्रमाण मिल जाता है तथा मांस-वर्जन और मूर्तिनिषेधके लिअे भी प्रमाण मौजूद हैं। हरअेक अपनी अपनी रुचि, संस्कार या विवेकबुद्धिके अनुसार अपने लिअे अेक चीजको ग्राह्य और दूसरीको अग्राह्य मानता है। मतलब यह कि हमारी अपनी या हमारे माने हुअे किसी गुरु अथवा सत्पुरुषकी विवेकबुद्धि ही अमुक शास्त्रको स्वीकार और अमुकको अस्वीकार या कम स्वीकार करती है।

सारांश यह कि विद्वान या सन्त शास्त्रके निर्माता होते हैं, शास्त्र विद्वान या सन्तके निर्माता नहीं होते। विद्वान अपनी बुद्धिकी कुशलताके

सन्त पर विराजा है; सन्त अपने हृदयकी अुन्नत अवस्थाके कारण सन्त है। सन्तको देखनेके बाद ही किसी शास्त्रकारने सन्तके लक्षण बतलाये हैं। मूल आधार पुरुष है, न कि ग्रंथ। शास्त्रोंकी अिस मर्यादाको समझकर अगर हम अुनका अध्ययन करें, तो वे हमारे जीवनमें सहायक हो सकते हैं; नहीं तो वे जीवन पर भाररूप हो जाते हैं और फिर न केवल कबीर जैसोंको ही, वरन् ज्ञानेश्वर सरीखोंको भी अुनकी अल्पता बतलानी पड़ती है।

('सर्वोदय', सितम्बर १९४१)

४

शास्त्र-विवेक

[मेरे 'शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा' शीर्षक लेखको लेकर 'सिद्धान्त' साप्ताहिकने कुछ चर्चा की और 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' अिस न्यायसे यह चर्चा जारी रखी जाय, अैसी मुझसे अपेक्षा भी की। मेरी अिच्छा अिस तरह चर्चा जारी रखनेकी नहीं थी। फिर भी अपने विचार स्पष्ट कर देना जरूरी था। अिसलिअे मैंने 'सिद्धान्त' में अेक लेख लिख दिया था। अुसीका आवश्यक अंश यहां दिया जाता है।]

"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः", अिस सुभाषितमें अर्धसत्य है। श्रीसमर्थ रामदासने अिसका दूसरा अर्धसत्य अिन शब्दोंमें कहा है — "तुटे वाद, संवाद तेथें करावा।" यानी जहां विवाद मिटकर संवाद अुत्पन्न हो, वहीं चर्चा करनी चाहिये। मतलब यह कि वाद किस प्रकारका, किनके बीच, किस वृत्तिसे और किस समय होता है, अिस पर भी अुसमें से तत्त्वबोधका अुत्पन्न होना न होना अवलम्बित है। बुद्धि कितनी ही कुशाग्र क्यों न हो, कुछ सिद्धान्तोंका बोध और चर्चाओंका निर्णय वादसे नहीं होता, अनुभवसे ही होता है; और

अनुभव होने पर ही बाद समझमें आता है। अितना ही नही बल्कि कओी बार अनुभव अुस समय नही हो सकता, कालान्तरमें होता है। जैसे यदि कोओी मनुष्य फागुनके प्रारभमें कच्चे आमको चखकर कहे कि अितना खट्टा फल क्या कभी मीठा हो सकता है, तो अुसका यह कहना बुद्धिके विरुद्ध है। लेकिन अुससे चर्चा करनेसे फायदा नही होता। अुसे वैशाख या ज्येष्ठ तक मुल्तवी ही रखना होगा। अिसी तरह कओी सिद्धान्त और मत, जिनका प्रारभमें तीव्र विरोध हुआ पाया जाता है, कुछ वर्षोके बाद स्वयंसिद्ध सत्योकी तरह सर्वस्वीकृत हो जाते हैं और आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि अुनके बारेमें भूतकालमें क्यों बहस हुओी होगी। अस्तु।

अिसलिअे शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमान-प्रमाणोंके बारेमें मैं जो कुछ सही-गलत राय रखता हू, अुसे पाठकोंके सामने रखकर ही मै संतोष मानूगा। जिस नीरक्षीर न्यायको मै मानता हूं अुस नीर-क्षीर न्यायसे पाठक अुसमें से जो योग्य मालूम हो, अुतना मान्य कर लें और शेष छोड़ दें।

(१) अनुभव ही अंतिम प्रमाण है। 'प्रत्यक्ष' शब्दके वास्तविक अर्थको यदि अच्छी तरह समझ लिया जाय, तो अनुभवको प्रत्यक्ष प्रमाण कहनेमें आपत्ति नहीं। 'प्रत्यक्ष' मे सिर्फ 'अिन्द्रिय-प्रत्यक्ष' ही नही समझना चाहिये। 'अन्तःकरण-प्रत्यक्ष' का भी अुसमें समावेश होता है और वह अिन्द्रिय या अन्तःकरण योग्य तालीम पाया हुआ, अविकल और अक्लिष्ट होना चाहिये। तथा विपर्यय, विकल्प, अजागृति (अमनस्कता) की वृत्तियोसे परे होना चाहिये।

(२) अनुभवको मददके लिअे शास्त्र वाक्य, आप्तवाक्य और अनुमान-प्रमाणके लिअे स्थान है। वे या तो साक्षीका अथवा पथ-प्रदर्शकका काम करते हैं। यानी अुनके जरिये या तो हमारे अपने अनुभवके विषयमें निःशकता पैदा होती है अथवा अनुभवकी दिशामें हम प्रयाण कर सकते है।

(३) जब तक हमें अनुभव नहीं हुआ होता अथवा स्वयं अनुभव करके सिद्ध करनेकी किसी भी कारणसे हमारी तैयारी नहीं होती,

तब तक किसी शास्त्र, आप्तवाक्य और 'कुछ अंशमें' अनुमानको प्रमाण मानकर चलनेमें सलामती मालूम होती है।

(४) अिसलिअे सत्यके बोधमें शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमानका महत्त्वका हिस्सा है और अिसीलिअे वे आदरके योग्य हैं।

(५) फिर भी, वे तीनों ही गलत भी हो सकते हैं। गलती दो प्रकारकी हो सकती है: (क) जिन्हें हमने अनुमान माना हो, वे कोरी कल्पनाअें ही हो और अुनका आधार जो शास्त्र अेवं आप्तवाक्य हो वह भी किसीका अनुभव नहीं, बल्कि केवल कल्पना ही हो। (ख) अथवा अनुभव तो सही हो, पर अुसे भाषा द्वारा प्रकट करनेमें अथवा अुसकी अुपपत्ति लगानेमें दोष हो।

(६) यह संभव है कि कभी कभी अेक ही प्रकारके अनुभवको समझानेके लिअे भिन्न भिन्न अुपपत्तियां दी जायं। सांख्य, वेदान्त, जैन अित्यादि दर्शनभेद, द्वैत, अद्वैत आदि मतभेद, स्मार्त, वैष्णव, अिस्लाम आदि सम्प्रदायभेदके निर्माणका अुपरोक्त गलतियोंके अलावा यह भी अेक कारण है। यह कहना गलत है कि 'शास्त्रके अर्थ और धर्ममें भेदका कारण अुच्छृंखल बुद्धि ही है।'

(७) कोअी शास्त्र या आप्तवाक्य अैसा नहीं, जिसमें नीर-क्षीर-न्याय करनेकी जरूरत न हो।

(८) अिसलिअे हरअेक प्रमाण और हरअेक अुपपत्तिकी जांच अपनी विवेकबुद्धिसे करना सत्यशोधकका कर्तव्य है। 'अमुक अेक *मन्तव्यको मैं विवेकबुद्धिके क्षेत्रसे दूर ही रखूंगा', अैसी प्रतिज्ञा करनेवालेकी* श्रद्धा सद्भाग्यसे सत्य पर ही हो, तो भी वह अमुक नहीं हो सकता। अुसकी बुद्धि अेक हद तक पहुंच कर कुण्ठित हो जाती है। वह भ्रम-मुक्त और साम्प्रदायिक संकीर्णतासे परे नहीं हो सकता। 'अीसामसीहको स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिलेगा' अथवा 'मोहम्मद पैगम्बरको स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिलता' अथवा 'अमुक अिष्टदेव, गुरु या ग्रन्थकी शरण लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता'— आदि मान्यताअें और अभिमान अिस तरह बुद्धिको कुण्ठित कर देनेका ही परिणाम

हैं। जिनसे ऊपर उठे बिना कोओी पुरुष सत्यको सिद्ध नही कर सकता।

(९) विवेकबुद्धिको पैनी — कुशाग्र — करनेके लिअे तर्कशास्त्रके ज्ञानकी अपेक्षा चित्तशुद्धिकी विशेष जरूरत है। वह अनिवार्य ही है — "नैपा तर्केण मतिरापनेया।"

सारांश यह कि अनुभव ही किसी सिद्धान्त या मतका अन्तिम प्रमाण है। विशुद्ध की हुअी विवेकबुद्धि अुसका अनिवार्य शस्त्र है। शास्त्र, आप्तवाक्य, अनुमान आदि अुसके सहायक अुपकरण हो सकते हैं।

('सर्वोदय', दिसम्बर १९४१)

५

धर्म-सम्मेलनकी मर्यादा*

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय तेजसे ॥'
(भर्तृहरि, वैराग्यशतक – १)

सन्नारियो और सज्जनो,

भिन्न भिन्न धर्ममतोंमें श्रद्धा रखनेवाले विचारक स्त्री-पुरुषोंका यह सम्मेलन है। अिस प्रकार अेकत्र होकर मित्रभावसे अेक-दूसरेसे धार्मिक संवाद करनेके लिअे आपकी मनोवृत्ति पहले ही से तैयार हो चुकी है। अिसलिअे आपके सामने यह साबित करनेकी जरूरत नहीं रहती कि भिन्न भिन्न धर्मावलंबियोंमें समभाव हो सकता है और होना चाहिये। वैसे समभावका अनुभव करके ही आप यहां आये हुअे हैं।

* वर्धाकी धर्म-परिषद्में दिया हुआ व्याख्यान।

अब हमारे सामने विचार करने योग्य यह सवाल नहीं कि हम स्वयं किस तरह दूसरोंके धर्मोंके प्रति समभाव रखें, बल्कि यह है कि जिस तरह हम सर्वधर्म-समभाव अनुभव कर रहे हैं, वैसे ही हरअेक धर्मका व्यक्ति दूसरे धर्मवालोंके मतोंके प्रति समभाव किस तरह अनुभव कर सकता है?

"किसी भी धर्मको समझनेकी कुंजी अुसके ग्रंथोंमें नहीं, अुसके संतोंके पास होती है। किसी भी धर्मका परिपक्व फल अुसके द्वारा निर्माण किया हुआ सत्पुरुष है, और वही अुस धर्मके विषयमें प्रमाण-रूप है, न कि अुसके ग्रंथ या अुन ग्रंथोंका अध्ययन करनेवाले विद्वान्। अैसे संतपुरुषकी पहिचान अुसके हृदयसे होती है, न कि अुसके शास्त्राभ्यास, कर्मकांड या प्रचार-कार्यसे।" अैसा श्री जाजूजी ने कहा है।

जब हम भिन्न भिन्न धर्मों द्वारा पैदा किये हुअे संतोंके हृदयकी ओर देखते हैं, तो हम अनुभव करते हैं कि सब धर्मोंका परिपक्व फल मोटे तौरसे समान ही होता है।

"वैष्णव जन तो तेने कहीअे जे पीड पराअी जाणे रे;
परदुःखे अुपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे. ध्रुव०
सकल लोकमां सहुने वदे, निन्दा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे. १
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे. २
मोह माया व्यापे नही जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनाम शुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे. ३
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैंयो तेनुं दरशन करतां, कुल अेकोतेर तार्यां रे." ४

* * *

"जे कां रंजले गांजले, त्यांसि म्हणे जो आपुले।।
तोचि साधु ओळखावा, देव तेथेंचि जाणावा।।
मृदु सबाह्य नवनीत, तैसें सज्जनाचें चित्त।।
ज्यासि आपंगिता नाही, त्यासी धरीं जो हृदयीं।।

दया करणें जे पुत्रासी, तेचि दासा आणि दासी ।।
तुका म्हणे सांगू किती, तोचि भगवंताची मूर्ति ।।"

* * *

"दया राखि धर्मको पालै, जगसों रहै अुदासी।
अपना-सा जीव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहे कुशब्द वादको त्यागे, छाडे गर्व गुमाना।
संत नाम ताहिको मिलिहै, कहे कबीर सुजाना।"

मतलब यह है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण अेव च' आदि जो लक्षण गीताके १२ वें अध्यायमें बताये गये हैं, अुनके अनुरूप जगत्‌में आचार-व्यवहार होना यह धार्मिकताका परिपक्व फल है। जिस पर सब धर्म सहमत हैं और अैसा कोअी देश या राष्ट्र नहीं है, जिसमें अैसे सत्पुरुष पैदा न हुअे हों या नहीं हो सकते। वे बिना अपना धर्म छोड़े अुसका अत्यन्त दृढ़ता और आस्थाके साथ पालन करके ही अैसी साधुताको पाते हैं। और अिस साधुतामें से अेक अैसी ज्ञाननिष्ठा पैदा होती जाती है, जिसकी बदौलत अुनमें यह भाव नहीं रहने पाता कि अुनका ही देश, जाति, धर्म, सभ्यता, भाषा, रीति-रिवाज आदि सबसे श्रेष्ठ है; वे ही सत्य या सम्पूर्णता तक पहुंचे हुअे हैं; सबके लिअे अुनका स्वीकार अपरिहार्य है; वे ही अीश्वरको अधिक मान्य या प्रिय हैं तथा अुनमें कहीं पर भी सुधारके लिअे गुंजाअिश नहीं है; और दूसरे सब देश, जाति, धर्म आदि अुनसे न्यून हैं। जिस समाजमें वे बसते हैं, अुसमें अुत्पन्न हुअे अपने कर्तव्योंका और अुस समाजके निर्दोष रीति-रिवाजोंका वे बराबर पालन करते हैं। फिर भी अुनके मनमें यह अभिमान नहीं अुठता कि अितर समाजोंकी अपेक्षा अुनका समाज और अुसकी सब बातें कुछ अलौकिक और दिव्य हैं। सच तो यह है कि मानव-समाजकी धर्म-रूप सब नदियां अेक ही पहाड़से निकली हुअी हैं, और सब अेक ही समुद्रकी ओर बह रही हैं। अेक नदी मार्गमें कहीं छिछली मालूम होती है, कहीं निर्मल होती है, तो कहीं गदी भी होती है। दूसरी नदियोंका भी यही हाल है, लेकिन कुछ दूसरे ढंगसे। फिर भी साधारण तौर पर सबका पानी

अकसा है, अुपयोग अेकसा है और अन्त भी अेकसा है। गंगा और नाअिल, टेम्स और राअिन, युफ्रेटिस और मिसिसिपी सभी विशाल महासागरमें मिलती हैं। अिसलिअे अुनमें से किसी अेकको पवित्र और पाप धोनेवाला तीर्थ समझना और दूसरीको पानीका मामूली प्रवाह समझना — अिस तरहके भेद-भावको गत-हृदयमें स्थान नहीं मिलता। बल्कि —

"अिक नदिया अिक नार कहावत, मैलो हि नीर भरो।
जब दोअु मिलकर अिक बरन भये, सुरसरि नाम परो।।"

अैसा माननेकी ओर अुनके मनका झुकाव रहता है। यानी थोड़ा-बहुत मैल है, अैसा देखकर भी अुनके मनमें यह भाव नहीं अुठता कि वह घृणापात्र ही है। तब वे किसीसे यह कैसे कहें कि तुम गंगाजी द्वारा ही समुद्र तक पहुंच सकोगे, और नाअिल या युफ्रेटिस द्वारा बीचमें ही डूब जाओगे? वे कहते हैं कि जिसको धर्मकी नदियों द्वारा समुद्रको पाना है, अुसके लिअे गंगा या टेम्स बड़े महत्त्वकी चीज नहीं हैं; अुसकी अपनी नाव ही महत्त्वकी चीज है। वह नाव मजबूत हो तब तो सब कुशल है, नहीं तो सभी नदियां खतरनाक हैं। वह नाव है अुसका अपना अेकनिष्ठ भावबल और आत्मशुद्धि। यह भावबल और आत्मशुद्धि अुसके पास हो, तो फिर अिसकी कोअी फिक्र नहीं कि अुसने गीता पढ़ी है या सिर्फ कुरान या बाअिबल। सिर्फ रामका ही नाम लिया है, या सिर्फ बुद्ध, तीर्थंकर, अीसा या पैगम्बरका। अितना ही नहीं, अुसने गीता, कुरान या कुछ भी न पढ़ा हो, न रामका या किसी तीर्थंकर, पैगम्बर, या मसीहका ही नाम सुना हो, तो भी चिन्ता नहीं। और अगर वह बहिरा और गूंगा होनेके कारण अीश्वरको कोअी नाम देने और या अुसका नाम लेनेमें और कोअी धर्मग्रंथ पढ़ने और सुननेमें असमर्थ हो, तब भी अगर अुसके पास अेकनिष्ठ भावबल और आत्मशुद्धिकी प्रबल अिच्छारूपी नाव है, तो अुसके लिअे फिक्रका कोअी कारण नहीं है। दूजके चांदको कभी कभी हम स्वयं ढूंढ़ नहीं सकते, लेकिन जिसने अुसे किसी तरहसे या अित्तिफाकसे ही देख लिया है, वह हमें अुसे बताता है। लेकिन यह बात तो नहीं है कि अुस

सहायकने चद्रको वहां लाकर रख दिया है। अगर अैसा सहायक न मिले, तो हमारे लिअे चंद्र-दर्शन करना असंभव है अैसा तो हम कह ही नहीं सकते। अिसी तरह तीर्थंकर, पैगंबर, मसीह, आत्मज्ञानी, सद्गुरु और अुनके धर्मग्रंथ ओीश्वरको पानेमें सहायक होते हैं। लेकिन यह बात तो नहीं कि अुन महात्माओंने या अुनके धर्म-ग्रंथोंने ओीश्वरको पैदा किया है, और अिसलिअे जिसे वे किसी कारणसे अलभ्य हैं अुसे ओीश्वरप्राप्ति हो ही नहीं सकती। जब सत्पुरुष सब धर्मोंके विषयमें समभाव प्रकट करते हैं, तब अुनके कहनेका वही मतलब होता है, जैसा कबीरजीने कहा है —

> "मो को कहां ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पासमें॥
> ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबे कैलासमें।
> ना तो कोअी क्रिया कर्ममें, नहीं जोग बैरागमें॥
> खोजी होय तो तुरते मिलिहै पलभर की तलाशमें।
> कहे कबीर सुनो भाअी साधो, सब सासोंकी सांसमें॥"

अेक भक्तने गाया है —

> "अजब तेरा कानून देखा खुदाया!
> जहां दिल दिया फिर वहीं तुझको पाया॥
> न यहां देखा जाता है मंदिर औ' मसजिद।
> फकत यह कि तालिब[1] सिदक[2] दिलसे आया॥
> जो तुझ पै फिदा दिल हुआ अेक बारी।
> अुसे प्रेमका तूने जलवा[3] दिखाया॥
> तेरी पाक सीरत[4] का आशिक हुआ जो॥
> वही रंग रंगा फिर जो तूने रंगाया।
> है गुमराह जिस दिलमें बाकी खुदी है।
> मिला तुझसे जिसने खुदीको गंवाया॥
> हुआ तेरे विश्वासीको तेरा दरसन।
> गदा[5]को दुरे[6] बे-बहा[7] हाथ आया॥"

---

१. शोधनेवाला, २. सच्चा, ३. वैभव, ४. स्वभाव, ५. फकीर, ६. मोती, ७. कीमती

और जिस दृष्टिसे संतोंने बार बार दृष्टान्त देकर गाया है कि —

"चरणस्पर्श परम पद पायो गौतम ऋषिकी नारी
गणिका शबरी जिन गति पाओी बैठ विमान सिधारी।"

* * *

"गज अरु गीध तारि है गणिका कुटिल अजामिल कामी
यही साख श्रवणे सुनि आयो चरण शरण सुखधामी।
मैं तो बिरद भरोसे बहुनामी।।"

* * *

"किव सच्यारा होअिये किव कूड़ै तुटै पालि?
हुकम रजाअी चलणा, नानक लिखिया नालि।"

मतलब यह है कि अगर औीश्वरकी पहचान ही जीवनका साध्य हो, तब तो अनन्य भावसे शरणागति और आत्मशुद्धिको छोड़कर धर्मकी दूसरी सब बातें गौण हो जाती हैं। और अगर वह (औीश्वरकी पहचान) जीवनका साध्य नहीं है, तो धर्मके नामसे प्रचलित मंतव्य, विधियां, रीति-रिवाज आदिका अुसी तरह विचार करना चाहिये, जैसे मनुष्योंकी राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक वगैरह संस्थाओंके बारेमें किया जाता है। यानी यह नहीं कहा जा सकता कि कोअी खास संस्था, मंतव्य, विधि, रीति-रिवाज आदि औीश्वरप्रणीत हैं और अुनमें कभी कुछ परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

यदि हम जगत्के संतोंकी ओर देखें, तो हमें अुनमें दो प्रकारके व्यक्ति दिखाअी देंगे। अेक तो वे, जिन्होंने अपने जीवनका साध्य सिर्फ औीश्वर-प्राप्तिको ही बना लिया और अुसे अपने लिअे सिद्ध कर लेनेके बाद केवल अुन्हींके जीवनमें रस लिया, जो अुनकी तरह सिर्फ औीश्वर-प्राप्तिके ही कायल थे। अिन्होंने धार्मिक मंतव्योंमें या दूसरे प्रकारके मंतव्योंमें संशोधन करनेकी बहुत प्रवृत्ति नहीं की। और कुछ की भी, तो अेक-दो छोटी छोटी बातोंमें। अिन मन्तव्यों, विधियों आदिके विषयमें अुन्होंने कभी तो अुपेक्षाका भाव दिखाया अथवा अुनको महत्त्व देनेवालोंको फटकार भी सुनाअी और कभी

अुनको ज्योंका त्यों आदरपूर्वक निभाया। साधारणतया, जिन्हें हम संत के नामसे पहचानते हैं, अुनमें से अधिकतर अिस प्रकारके थे। अुदा० तुकाराम, अेकनाथ, नरसिंह मेहता, मीराबाअी आदि। अैसे ही सन्त दूसरे धर्मोंमें भी हो गये हैं।

लेकिन, अेक दूसरे प्रकारके भी सन्त हो गये हैं, जिन्होंने केवल अनन्य साधकोंके जीवनमें ही रस नहीं लिया, बल्कि अपने समाजके दूसरे पामर और पुण्यशाली दोनों तरहके मनुष्योंके जीवनकी ओर ध्यान दिया। मालूम होता है कि अुन्होंने यह सोचा कि यद्यपि अीश्वर-प्राप्ति ही जीवनका अेकमात्र साध्य है, और जाने-अनजाने सब मानव अुसीकी तरफ बढ़े जा रहे हैं (क्योंकि अुसीमें तो अुनका जीवन है), फिर भी अधिकांश मानवोंको यह समुद्र अितना दूर प्रतीत होता है कि वह मानो अुनके जीवनका ध्येय ही न हो, और अुनका संसारी जीवन यानी अुनके धर्म, अर्थ और काम ही ध्येय हो। अिसलिये अिन महापुरुषोंने अपने समाज और कालकी धार्मिक, आर्थिक, राजकीय, सामाजिक आदि सब संस्थाओं तथा मंतव्यों, विधियों, रीति-रिवाजों आदिका भी संशोधन करनेके लिये अुनमें हस्तक्षेप किया। परिणाम यह हुआ कि ये लोग नये नये समाजोंके आदि पुरुष बन गये। बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस, मूसा, अीसा, मुहम्मद, गोविंदसिंह, ल्यूथर आदि अिसी प्रकारके महापुरुष हो गये। और गांधीजी भी वर्तमान कालमें अिसी श्रेणीके युग-प्रवर्तक हैं। अलबत्ता यहां पर अेक अैतिहासिक सत्य कहनेका अथवा अिन सबकी तुलना करनेका या समानता बतानेका दावा मैं नहीं करता। संभव है कि अिनमें से कअी महापुरुष पहले प्रकारके ही संत हों, और अुनके शिष्योंने काम अुनके नाम चढ़ा दिये गये हों। लेकिन यह तभी हो सकता है, जब अुनके कुछ अैसे शिष्य भी रहे हों, जो केवल अीश्वराभिलाषी नहीं थे बल्कि धर्म, अर्थ, कामके अभिलाषी भी थे और अुन्हें सुनाये हुअे अुपदेशोंमें भिन्न समाज-रचनाका कुछ बीज डाला गया हो। मतलब, अिन पुरुषोंके और अुनके शिष्योंके द्वारा जिन नदियोंके जरिये मानव-जाति समुद्रकी ओर जाती है, अुन नदियोंके प्रवाह और पानीको सुधारने अथवा अुनमें से नहरें निकालनेका

जितना बलवान प्रयत्न हुआ कि कओी बार बिलकुल नओी नदियां या वेगवान नहरें बहने लग गओी। अनेक धर्मों, अेक अेक धर्ममें विविध पंथों, अनेक प्रकारकी सभ्यताओं तथा राजकीय, आर्थिक, सामाजिक संस्थाओं, छोटे-मोटे भेद रखनेवाले विविध कर्मकांडों, रीति-रिवाजों आदिकी अुत्पत्ति अिसी तरह हुओी है।

जहां किसी धर्मकी अनेक बातोंको प्रमाण मान कर, कुछ विषयोंमें ही परिवर्तन किया जाता है अुसे हम 'पंथ' कहेंगे। जहां किसी पुराने धर्मके प्रमाणको अमान्य करके नया मार्ग चलानेका प्रयत्न हो, अुसे हम 'नया धर्म' कहेंगे।

अिन सबके अुत्पादन तथा संचालनमें विविध स्वभाव और रुचिके लोगोंने हाथ बटाया है। यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब शुभ वृत्तिके ही आदमी होंगे। अिसलिअे अिस नतीजे पर आना पड़ता है कि किसी भी धर्मको परिपूर्ण, शुद्ध और केवल मोक्षदायी नहीं कहा जा सकता। सबमें अनेक दोष पैठे हुअे हैं। कुछ दोष मामूली और अुपेक्षा करने लायक हैं। कुछ बड़े गंभीर हैं। सब धर्मोंमें धर्मके ही नाम पर दक्षिण और वाममार्ग भी बन गये हैं।

साथ ही साधारण मनुष्य-स्वभावकी यह अेक मर्यादा है कि वह अपने देश, धर्म, जाति, भाषा आदिके गुणोंको ही देख सकता है। अुसके अवगुण या तो अुसे दीखते ही नहीं, अथवा गुणरूप ही प्रतीत होते हैं, अथवा बहुत अुपेक्ष्य लगते हैं, अथवा वे कुछ नासमझ लोगोंकी त्रुटियां हैं, अैसा समझकर वह सतोष मान लेता है। लेकिन दूसरोंके देश, धर्म आदिके दोषों पर ही अुसकी नजर पड़ती है और वे अुसको पहाड़से मालूम होते हैं, जिनकी अंधेरी छायामें अुनके गुण नहींके बराबर हो जाते हैं।

अैसी अवस्थामें सर्व-धर्म-समभावके मानी क्या हो सकते हैं? अुदाहरणार्थ, प्राय मिशनरी लोग और बहुतसे मुसलमान, तथा हिन्दू सम्प्रदायोंके भी कुछ अनुयायी पूछते हैं कि जिस धर्म या पंथमें अनेक देव-देवियोंकी पूजा की जाती है, डरावने आकारके यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत-पिशाच-महामारी-शीतला आदिमें श्रद्धा रखी जाती है, निर्दोष प्राणियोंकी

बलि चढ़ाअी जाती है, या पंच मकारका भी धर्मके नाम पर सेवन किया जाता है, या दूसरे धर्मवालोंके साथ दुष्ट व्यवहार करनेका अुपदेश अीश्वरके नाम पर दिया जाता है, अुसके प्रति हम अुतना ही आदर किस तरह अनुभव करें, जितना कि हम अपने धर्मके लिअे रख सकते हैं — जो अेकेश्वर भक्ति, अहिंसा या पवित्र चरित्रके अूपर स्थित है? और अगर हमारा अुस धर्मके प्रति समभाव न रख सकना दोष न हो, तो क्या हमारा यह अेक स्वाभाविक कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम अुन मान्यताओंमें जकड़े हुअे लोगोंको अुच्चतर धर्मका अुपदेश दें?

धार्मिक राग-द्वेष और धर्मान्तरकी प्रवृत्तिके मूलमें ये दो प्रश्न हैं।

अिस विषयमें मेरे विचार अिस प्रकार हैं: —

जिस व्यक्तिका अेकमेव स्थिर अुद्देश्य अीश्वर-समुद्रको ही पानेका है, अुसके रास्तेमें अुसका जन्मप्राप्त धर्म या पथ, फिर वह कोअी भी क्यों न हो — रुकावट नहीं डालता। क्योंकि अुसकी सिद्धिके लिअे अेकनिष्ठ भावबल ही अनिवार्य शर्त है। अगर वह नहीं है तो किसी भी धर्म या पंथके द्वारा अुस साध्यको नहीं पहुंचा जा सकता। जिसे प्राणियोंकी बलि चढ़ाअी जाती है, अुस दुर्गा-कालीकी अुपासना द्वारा अेकनिष्ठ भावबलयुक्त श्री रामकृष्ण परमहंसको या रास्तेसे पत्थर अुठाकर सिंदूरसे अुसकी पूजा करनेवाले किसी अेकनिष्ठ भीलको भी मोक्ष मिल सकता है। लेकिन अैसी अेकनिष्ठाके बिना हरी पत्तीको भी न तोड़नेवाला अहिंसक भिक्षु अज्ञानमें भटकता रह सकता है। अिसकी वजह यह है कि जो अेकनिष्ठ भक्त है वह अपने भावबलसे सब अशुद्ध मान्यताओं और कर्मकाण्डोंसे आप ही परे हो जाता है। 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (गीता ६–४४)। और जब अुसमें न्यूनता होती है, तब वह बाह्य कर्मकाण्डोंमें ही चक्कर काटता रहता है, और आगे नहीं बढ़ पाता।

फिर भी धर्म या पथके संस्कारोंका मनुष्यमें अेकनिष्ठ भाव पैदा करनेमें तथा अेकनिष्ठ भक्तमें भी अनेक मनुष्योचित सद्गुणोंका विकास

करने और अुन्हें पोषनेमें महत्त्वका हिस्सा होता है। अिसलिअे अुन
गुण-दोषोंका विचार अप्रस्तुत नहीं है। अिन गुण-दोषोंका परिणा
धीरे धीरे ध्यानमें आता है और कम या ज्यादा समयके बाद वे ब
व्यापक और महत्त्वके बन जाते हैं। अिसलिअे किसी भी धर्म औ
पंथके आचार, विचार आदि संशोधनसे परे कभी नहीं हो सकते
यही वजह है कि दुनियामें हरअेक धर्ममें नये नये पंथ और कभ
कभी नये नये धर्म भी पैदा होते आये हैं। यह क्रिया रोकी नहीं ज
सकती। और जब अुसे रोका नहीं जा सकता, तब अैसे संशोधनकी
जरूरत समझनेवाले और न समझनेवालोंके बीच कुछ न कुछ संघर्ष
पैदा हो ही जाता है। अिन दो दलोंके आचार-विचारोंके बीच
जितना अधिक अन्तर होगा, अुतना ही संघर्षका भी ज्यादा तीव्र होना
संभव है। यह भी नामुमकिन है कि जो संशोधनकी जरूरत महसूस
करते हैं, वे अुसका प्रचार न करें। यहीं धर्मान्तर या परिवर्तनकी
प्रवृत्ति शुरू हो जाती है। क्या हिन्दू-धर्ममें पैठी हुआी अूच-नीचकी
वर्णभावना, अस्पृश्यभावना आदिको हटानेके आन्दोलनसे गांधीजीको
रोका जा सकता है? अगर नहीं रोका जा सकता, तब तो जो अिस
संशोधनकी जरूरत महसूस नहीं करते, अुनकी तरफसे विरोध होगा
ही। अैसे प्रसंगोंमें अगर सुधारक मजबूत हो, तो धीरे धीरे पुराना मत
मिटता जाता है। अगर वह अुतना मजबूत न हो, तो दो पंथ अुत्पन्न
हो जाते हैं। और अगर वह निर्बल ही हो, तो स्वयं मिट जाता है।
अिस्लाम शायद पहले प्रकारके संशोधनका अुदाहरण है। अरबस्तान,
औरान आदि देशोंमें अुसने वहांके पुराने धर्मोंको नामशेष कर दिया।
कबीर, स्वामी दयानन्द आदिके संशोधन दूसरे प्रकारके हैं। वे हिन्दू-
धर्मके सुधारक पंथ बनकर रह गये। अिसी तरह प्रोटेस्टेंट आदि पंथ
रोमन कैथोलिक पंथको नामशेष नहीं कर सके — अीसाअी धर्मको
सिर्फ पंथोंमें विभक्त करके रह गये। जब नये पंथका बल अधूरा होता
है, तब पुरातनी और नूतनियोंका संघर्ष रेलके मुसाफिरों जैसा होता
है। नया मुसाफिर डिब्बेमें आने लगता है, तब अुसका सब पुराने
मुसाफिर तीव्र विरोध करते हैं; लेकिन अगर वह किसी तरह घुस

ही जाता है, तो फिर पहले यात्री अपने दिलको मना लेते हैं। अितना ही नहीं, बल्कि अुसके लिअे जगह भी कर देते हैं। अिसी तरह जब सुधारक बलवान प्रतीत होता है तब अुसका पंथ भी भले ही चले, अिस वृत्तिसे पुरातनी अुससे समझौता कर लेते हैं और अेक-दूसरेसे झगड़ते नहीं। अिस तरह आज कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, सुन्नी और शिया, स्मार्त और वैष्णव, सनातनी और आर्य-समाजी अेक-दूसरेसे क्वचित् ही लड़ते झगड़ते हैं।

मानव-स्वभाव और धर्म वगैरह मानवी संस्थाओंकी अैसी त्रुटि-पूर्ण दशामें जो जो लोग हमारी तरह मनुष्य-मनुष्यके बीच शांति, प्रेम, समझौता और साथ ही संस्थाओंका सुधार भी चाहते हैं, अुनकी कैसी मनोवृत्ति और क्या फर्ज होना चाहिये? मेरे विचारसे अगर हम नीचे बताये हुअे विचारों पर अेकमत हों, तो हम सर्व-धर्म-समभावके साथ साथ धर्मोंकी संशुद्धिका प्रयत्न भी कर सकते हैं :—

१. मनुष्य जाति जिन विविध धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं-वाले समाजोंमें विभक्त हो गअी है, अुन सबका किसी न किसी प्रकारकी वास्तविक या काल्पनिक आवश्यकताओंमें से अुद्भव हुआ है। संभव है कि अिनमें से कुछ संस्थाओंकी पूर्णरूपमें अथवा किसी अंशमें आज अुपयुक्तता न रही हो और अुनका परस्पर मेल भी टूट गया हो। फिर भी जिन विविध परिस्थितियोंमें मानव-जीवन निर्माण हुआ है और सकलित है, अुनको वजहसे लोगोंकी स्वाभाविक मनोवृत्ति अुन संस्थाओंको छोड़ने और अुनमें परिवर्तन करनेके बारेमें मंद होती है। अगर प्रचलित संस्थाओंका थोड़ा भी अुपयोग वे महसूस करते हैं, तो अुतने ही से संतोष माननेकी लोक-वृत्ति होती है। अिसलिअे जहां हमें अपनेसे अत्यंत भिन्न प्रकारके आचार-विचार दीख पड़ते हैं, वहां हमें अपनी दृष्टिसे नहीं लेकिन अुन लोगोंकी दृष्टिसे अुन आचार-विचारोंकी तरफ देखना चाहिये और जिन वास्तविक या काल्पनिक जरूरतोंको वे पूरी करते हैं अथवा करते थे, अुनको खोजना चाहिये। वैसी ही वास्तविक या काल्पनिक जरूरत हम किन आचार-विचारों द्वारा पूरी करते हैं, यह भी देखना चाहिये। अपने आचार-विचारोंको

निष्पक्ष बुद्धिसे और दूसरेके आचार-विचारोंको सहानुभूतिपूर्वक समझनेके प्रयत्नसे हम दोनोंका वास्तविक मूल्य आंक सकेंगे। और अक्सर अिस खोजमें से पता चलेगा कि अुभय पक्षोंमें कुछ गुण हैं, कुछ दोष हैं, कुछ वास्तविक महत्त्व है, और कुछ काल्पनिक हों तो भी संतोषदायी लक्षण हैं। जहां यह मालूम होगा, वहां अपने ही आचार-विचारोंको सर्वश्रेष्ठ समझने या अुन्हींको प्रस्थापित करनेका हमारा आग्रह शिथिल हो जायगा।

२. जब अैसी समालोचनामें हमको यह साफ दिख पड़े कि हमारे और दूसरोंके कुछ आचार-विचारोंमें परस्पर विरोध ही है और अगर अेक सत्य हो तो दूसरा असत्य ही हो सकता है, तब हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम शुद्ध सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे छानबीन करें कि अिनमें कौनसे आचार-विचार सत्य हैं? और कौनसे सर्वथा असत्य ही हैं? अगर हमारे ही पक्षमें असत्य हो, तो हम स्वयं तो अैसे आचार-विचारोंको छोड़ ही दें। हमारे आचार-विचार असत्यकी बुनियाद पर रचे गये हों तो खुद अुनका त्याग करनेके बाद और यदि दूसरेके हों तो पहलेसे ही हम अुनपर ज्यादा गहराअीसे विचार करके हम अिस बातकी खोज करें कि अुन आचार-विचारोंमें किस प्रकारका और किसका नुकसान होता है, और किसको अनुचित लाभ होता है? हमारी तारतम्य बुद्धि भी अिसमें काम करेगी ही। जब तक हम यह न देखें कि हमने अपने जिन आचार-विचारोंको असत्य पाया है, अुनसे किसी मनुष्यको या प्राणीको पीड़ा या नुकसान पहुंच रहा है, तब तक हम अुन विषयों पर मनुष्य-मनुष्यमें कलह पैदा करनेवाली कोअी प्रवृत्तिको न करें। सिर्फ जब ठीक मौका मिले तब अत्यन्त सहृदयता और साम्यभावसे जनताकी बुद्धि और हृदय पर अुन आचार-विचारोंके संस्कार डालें जो हमें सत्य या शुद्ध प्रतीत होते हों।

३. लेकिन जब हम स्पष्ट रूपसे यह देखें कि हमारे या दूसरोंके आचार-विचार न केवल अशुद्ध या असत्य ही हैं, बल्कि अुनके कारण हमारे या दूसरे समाजके मनुष्य या प्राणियोंको पीड़ा या नुकसान पहुंचता है, जो कि हमारी सहृदयताके लिअे असह्य हैं, तब सब

सत्याग्रही साधनों द्वारा अुनका अुन्मूलन करनेकी कोशिश करना हम कर्तव्य हो जाता है। अैसा करनेमें कुछ कलह पैदा होना सम्भव वहां हम निरुपाय हैं। यदि हमारा वर्ताव शुद्ध सत्याग्रहीका हो, अन्तमें समाजके लिअे शुभ परिणाम ही होगा। विरोध-कालमें तकलीफ जरूर होगी। परन्तु सत्याग्रहीको अुसे बरदाश्त ही क होगा।

४. जिस वक्त सत्याग्रही अपने या दूसरोंके असत्य और अ आचार-विचारोंका तीव्र विरोध करता हो, अुस वक्त भी वह अ शयोक्ति न करे, मर्यादाका अुल्लंघन न करे। यानी खास अस आचार-विचारोंका ही खंडन करे, सारी संस्था या समाज पर आ न करे और न अुनका मजाक अुड़ावे और जो कुछ अुसमें सत्य औ शुद्ध हो, अुसके प्रति आदरभाव रखनेमें कसर न करे।

५. सर्व-धर्म-समभावी दूसरोंकी निर्दोष विशिष्टताओंका खंड या अुपहास न करेगा और क्षतव्य त्रुटियों पर झगड़ा पैदा न करेगा अेक ढांचेमें ढले हुअे पदार्थोंकी तरह सारी मानव-संस्थाओंको समान रूप बनानेकी वह मिथ्या अभिलाषा न रखेगा।

६. वह अपने आचार-विचारमें कृत्रिमता भी दाखिल न करेगा। वह अपनी अेकनिष्ठ अुपासना और निरुपद्रवी आचार न छोड़ेगा। सर्व-धर्म-समभाव बताने या सिद्ध करनेके लिअे वह आज हिन्दू, कल मुसलमान और परसों औसाअी बननेका प्रयत्न न करेगा।

राम और कृष्णमें भेद-बुद्धि न रखते हुअे भी तुलसीदासने रामकी ही अुपासना की और सूरदासने कृष्णकी ही। अैसी अेकविध भक्ति सर्व-धर्म-समभावकी विरोधिनी नहीं है।

७. मैं जिस प्रकारके सर्व-धर्म-समभावको नहीं मानता, जिसमें परस्पर प्रशंसा की ही अपेक्षा रखी जाती हो। अिससे परस्पर सच्ची मैत्री निर्माण न होगी। वे दो व्यक्ति सच्चे अर्थमें मित्र नहीं हैं, जो अेक-दूसरेकी त्रुटियोंको देखते हुअे भी अुन्हें साफ साफ कह देनेमें भय महसूस करते हैं, और केवल अेक-दूसरेकी स्तुतिको ही अपना कर्तव्य बना लेते हैं। न वे दो व्यक्ति ही मित्र हो सकते हैं, जो

अेक-दूसरेके गुणोंकी कद्र नहीं कर सकते, और त्रुटियां बताना ही अपना फर्ज मान लेते हैं। मित्रता तभी होती है, जब सामनेवाला हमारे हृदयमें प्रेम और निर्भयताका अनुभव करता है। तब कटु वचन भी मीठे लगते हैं।

सारांश यह है कि —

(१) अीश्वर-प्राप्ति संप्रदायोंसे परे है। वह सम्प्रदायों या पंथोंमें नहीं है, बल्कि अेकनिष्ठ भावबल और चित्त-शुद्धिमें है, जो हृदयकी चीजें हैं।

(२) साम्प्रदायिक प्रणालिकाअें मनुष्यमें अेकनिष्ठ भक्ति और हृदयके विकासके संस्कार डालनेमें अुपयुक्त हो सकती हैं।

(३) लेकिन सब प्रणालिकाअें मानव-निर्मित ही हैं, अिसलिअे वे संपूर्ण शुद्ध न हो पाती हैं और न रहने पाती हैं। अिसलिअे अुनमें हमेशा सुधार होना चाहिये।

(४) वह संशोधन सत्याग्रहसे ही सफलतापूर्वक हो सकता है। सत्याग्रह भी हृदयकी वृत्ति है, न कि बुद्धिकी। क्योंकि बिना समभावके कोअी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता। अिसलिअे सर्व-धर्म-समभाव हृदयोंका मेल है, साम्प्रदायिकोंका समझौता या अिकरार नहीं है।

(५) जहां संशोधनके कर्तव्य और प्रयत्नका स्वीकार है, वहां नया धर्म या पंथ पैदा होना भी संभव है। अगर वह संशोधन और अुसका प्रचार शुद्ध सत्याग्रही पद्धतिसे हो, तो आखिरमें जिनका अुनसे संबंध है अुन सबको अुसे मान्य करना ही होगा। बीचके समयमें कम-ज्यादा संघर्ष हो सकता है। वह अनिवार्य जानकर सत्याग्रही अुसे सहन करेगा। अगर वह सत्याग्रहके तरीकोंको न छोड़ेगा, तो अुससे किसीका अहित न होगा।

(६) सर्व-धर्म-समभावी होते हुअे भी सत्याग्रही चापलूसीमें नहीं पड़ सकता। वह दिखावेके लिअे दूसरे धर्मोंका आचरण न करेगा। जो बातें अुसे मंजूर न हों, अुनका समर्थन करनेकी जिम्मेदारी अपने अूपर न लेगा। कर्तव्य पैदा होने पर अपनी या दूसरेकी जो बातें अुसे असत्य लगती हों अुनका निषेध भी करेगा।

निःशस्त्र बनाया, शिवाजीने स्वराज्यकी स्थापना की, नेपोलियनने यूरोपको कंपाया, सिकन्दरने देशविजय की, शंकराचार्यने ज्ञानविजय की, बुद्धने मोहविजय की, और हजरत अलीने दयाविजय की। अिनके सब महान कार्य, सब पराक्रम, सब बड़ीसे बड़ी सिद्धियां अिन मुट्ठीभर हृदयको चलानेवाली अणु जितनी शक्तिमें से पैदा हुआी हैं। प्राणीका यही श्रेष्ठसे श्रेष्ठ बल है, यही अुत्तमसे अुत्तम आलंबन है। अिस बल और अिस आलंबनको जाननेवाला परतंत्र नहीं हो सकता और दयाका पात्र भी नहीं होता। वह न तो दीन है, न कृपण है और न 'बिचारा' है। वह बाह्य साधनोंका आश्रय लेनेवाला नहीं होता। अुसकी वाटिकामें कल्पतरु अुगता है, अुसके बाड़ेमें कामधेनु रमाती है, अुसकी पगड़ीमें चिन्तामणि चमकती है।

जो अपने हृदयमें रहे हुअे अिस बलको नहीं जानता, वही दूसरेके हृदयमें रहे हुअे बलके अधीन रहता है। वह परतंत्र रहता है, अनुकरण करनेवाला होता है, साधनोंके अधीन रहता है। वह दूसरोंके आधारके बिना नहीं चल सकता। अुसमें आत्मविश्वास और श्रद्धाकी हमेशा कमी रहती है। वह दूसरोंसे डरता है, छिपकर मारता है और दुःख देखकर भागता है। अुसका बड़प्पन दूसरेके अनुग्रहके कारण है, अुसके बलका आधार बाहरी साधन होते हैं।

परन्तु यह बात भी सच है कि सामान्य रूपसे हमें अिस बलका अनुभव नहीं होता। आत्मा सत्यकाम—सत्यसंकल्प है, अैसा हमें नहीं लगता। हम प्रतिदिन देखते हैं कि हमारी कितनी ही अिच्छाअें पूर्ण नहीं होतीं। अुलटे, हमें अैसा लगता है कि अिच्छाअें और संकल्प करना ही हमारे वशकी बात है, अुन्हें पूर्ण करनेकी शक्ति हममें नहीं है। अुपनिषद्में कहे गये वाक्यसे अुलटा अनुभव हमें क्यों होता है? अिसका कारण ढूंढने पर मैं नीचेके नियम जान सका हूं :

(१) प्राणी अेक समयमें अेक ही अिच्छा नहीं करता, परन्तु अुसके हृदयमें अनेक अिच्छाअें और कुछ परस्पर-विरोधी अिच्छाअें भी चक्कर काटती रहती हैं। यदि अुसका सर्व अिच्छाबल अेक ही संकल्पके अूपर दृढ़तासे केन्द्रित हो, तो वह संकल्प अवश्य सिद्ध होता है।

(२) संकल्पकी सिद्धि होनेमें चित्तकी अनन्यता और अेक
सबसे श्रेष्ठ सहायक है, और चित्तकी व्यग्रता अथवा अनेक दिशा
दौड़ना बड़ेसे बड़ा विघ्न है। जिस वस्तुको सिद्ध करना हो, अुसे छोड़
यदि प्राणी अन्य वस्तुओंका चिन्तन या अन्य विषयोंका सेवन क
है, तो वह सत्यकाम-सत्यसंकल्प है या नहीं, अिसका प्रमाण अुसे
मिल सकता है? जिस सकल्पको सिद्ध करना हो, अुसका ही ध्यान
अुसकी ही अुसे लगन लगी हो, अुसीमें ओतप्रोत हुआ हो, तभी
सिद्धिका द्वार देख सकता है। योगाभ्याससे सिद्धियां प्राप्त होती
और योगकलाका कुछ चमत्कार है, अैसा कुछ लोग मानते हैं, अ
दूसरे मानते हैं कि ये दोनो वस्तुअें झूठी हैं। वस्तुत यह संकल्प
तद्रूप होनेका केवल स्वाभाविक परिणाम है।

(३) सकल्प सिद्ध होगा या नहीं, अिस विषयमें संशयवृत्ति
होना सकल्पसिद्धिमें दूसरा विघ्न है। आत्माके विषयमें अश्रद्ध
अविश्वास ही हमारा शत्रु है। सशय प्राणीकी अिच्छाशक्तिक
बलवान नहीं होने देता।

(४) अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना अपने हाथमें
है, बाहरकी वस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना विशेष कठिन
है; और अन्य जनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले संकल्प सिद्ध करना अिससे
भी अधिक कठिन है। अुदाहरणार्थ : मुझमें अहिंसावृत्तिका विकास
होवे, यह संकल्प मैं शीघ्र सिद्ध कर सकता हूं। मुझे खूब धन मिले
अिस संकल्पके सिद्ध होनेमें अधिक देर लगेगी और अिसमें अन्य
प्रयोगों पर अवलंबन होनेसे पूर्ण सिद्धि होनेमें रुकावट भी आ सकती
है। मैं अनेक मनुष्योंको अमुक वस्तु दिलाअू अथवा अमुक प्रकारके
बनाअूं, यह अिससे भी अधिक कष्टसाध्य है, क्योंकि अिसमें समस्त
जाके सकल्पबलकी मदद भी चाहिये।

(५) संकल्पसिद्धिमें दूसरे विघ्न त्रिगुणके वेग हैं। निराशा,
आलस्य, प्रमाद अित्यादि वेग अुत्पन्न होकर हमारे संकल्पको कमजोर
कर डालते हैं। ये तमोगुणी वेग हैं। खाने-पीने तथा देखने-

सुननेकी बलवान वृत्तियां; काम, क्रोध, मान, अीर्षादि भाव हम सकल्पके वलको निःशेप कर डालते हैं। ये रजोगुणी वेग हैं।

यद्यपि संकल्पसिद्धिके लिअे साधी जानेवाली अेकाग्रता खुद सात्वि वेग है, फिर भी दूसरे सात्त्विक वेग अुसमें विघ्नरूप हो सकते हैं बुद्धिका अहंकार यह अेक विघ्नरूप वेग है। कभी कभी मानो हमार संकल्प सिद्ध हो गया हो, अिस तरह हम संकल्पके तरंगोंमें फंस क अुसके बादके विचार करना शुरू कर देते हैं। शेखचिल्लीकी तर चवन्नी मिलनेके पहले चवन्नीकी व्यवस्था और अुसके दूर दूरके परिणामोंकी कल्पना करके सारे संकल्पको ही नष्ट कर डालते हैं। यह मानना भूल है कि अैसे वेग अर्धमूर्ख मनुष्योंमें ही पैदा होते हैं। वडे चतुर आदमी भी अिसमें फंस जाते हैं और अुन्हें अुसका पता भी नही रहता। क्योंकि यह वेग सुखकी भावना अुत्पन्न करनेवाला है, मनोहर स्वप्न जैसा है। अेक तरहसे वह, आत्मा सत्यसंकल्प है— अिस कथनको सिद्ध करनेवाला है, क्योंकि अिसमें काल्पनिक सिद्धि रही हुअी है; और तात्त्विक दृष्टिसे स्थूल सिद्धि या काल्पनिक सिद्धि समान महत्त्ववाली है।

परन्तु जिसे स्थूल सिद्धिकी आकांक्षा हो, अुसे अिस वेगको भी जीतना ही चाहिये।

ये संकल्प-सिद्धिके नियम हैं। अिन नियमोंका अनुसरण किये बिना कोअी भी संकल्प सिद्ध नही हो सकता। स्वराज्यका संकल्प भी अिसी नियमसे सिद्ध होनेवाला है। दूसरी भाषामें अिस नियमको समझना हो, तो अैसा कह सकते हैं कि अिष्ट वस्तुको सिद्ध करनेके लिअे व्याकुलता होनी चाहिये। जैसे पानीके बाहर पड़ी हुअी मछली पानीके लिअे व्याकुल होती है, जिस तरह पतिव्रता स्त्री या माता अत्यन्त बीमार पति या बालकके लिअे व्याकुल होती है, जिस तरह भक्त भगवानके दर्शनके लिअे व्याकुल होता है, अुसी तरह जब स्वराज्यके लिअे सारी प्रजामें व्याकुलता अुत्पन्न होगी, तब स्वराज्य दूर नहीं होगा और अुसे हासिल करनेमें कोअी रुकावट नहीं डाल सकेगा।

('नवजीवन', ५-११-१९२२)

टिप्पणी

अिसमें अेक चेतावनी जोड़ देना जरूरी समझता हू।

आत्मा सत्यकाम-सत्यसंकल्प है, यह विश्वास अिस लेखको लिखने बाद भी अुत्तरोत्तर बढ़ता गया है। यह जैसे अेक अनुभव-सिद्ध श्रद्ध हो गअी है, वैसे ही अिसके साथ अेक दूसरा अनुभव भी लिख देन चाहिये। वह यह है :

प्राणीका संकल्प सिद्ध होता है, अिसका अर्थ यह नहीं है कि वह तत्काल सिद्ध होता है। आज की हुअी कामनाके सिद्ध होनेमें पचीस वर्ष या अिससे भी अधिक समय निकल जाता है। कोअी सकल्प तत्काल सिद्ध होता है। कोअी आमकी तरह बहुत वर्षोंके बाद फल देता है।

अिससे, यह संभव है कि जिस समय वह संकल्प सिद्ध हो, अुस समय या तो अुसके सकल्प बदल गये हो या वह दूसरी कामना-ओंका सेवन करने लगा हो। अिससे पुराने सकल्पकी सिद्धि सभव है अुसे सुखदायक न मालूम हो, बल्कि विपत्तिरूप लगे। स्वय ही अुसने वैसा संकल्प किया था, अिसे वह भूल भी गया हो। अिसलिअे परि-णाम रूपसे जो कुछ आया हो, अुसे वह आपत्ति — दुर्दैवरूप समझे।

और, संकल्प तत्काल सिद्ध हो या कालान्तरमें हो, परन्तु हो सकता है वह जिस रीतिसे सिद्ध हो, अुस रीतिकी अुसने कभी कल्पना भी न की हो। अिससे यह संकल्पसिद्धि अुसके लिअे सकल्प करनेके प्रायश्चित्तका रूप भी ले सकती है।

कुछ अुदाहरणोंसे यह स्पष्ट होगा।

मैं बम्बअीसे साबरमतीके बीच कार्यवश बार बार आता जाता था; परन्तु अेक बार भी मैं बड़ोदा नहीं गया था और वहा जानेकी अिच्छा हुआ करती थी। वह अिच्छा पूर्ण हुअी। परन्तु किस तरह? मेरा अेक छोटा भतीजा अेक मित्रके यहां बड़ोदा गया हुआ था। वहा सीढ़ियों परसे गिर जानेसे अुसे बहुत चोट लगी, अुसका साबरमती तार आया! तुरन्त ही हमें जागरण करके दौड़ना पड़ा, और दूसरे दिन संध्याके पहले ही दौड़ादौड़ करके वापिस आना पड़ा। अिस तरह बहुत

हरअेक मजहबके श्रद्धालु भक्तोंने नामजपकी महिमा गाओी है और गीतामें भी अुसे सबसे श्रेष्ठ यज्ञ बतलाया गया है। दूसरी तरफ तर्कपरायण लोगोंको अैसी बातोंमें श्रद्धा नहीं होती। अुन्हें अिस विषयमें अितना अविश्वास होता है कि अैसी सूचना देनेवालोंको वे पागल ही करार देते हैं।

अिसलिअे जीवनमें जपका क्या स्थान है, अुसकी किस क्षेत्रमें और कितनी अुपयोगिता है, क्या मर्यादा है — अिसका थोड़ा विचार करना अुचित होगा।

अिसे में अेक रूपक द्वारा समझानेकी कोशिश करता हूं:

मान लीजिये कि अेक मनुष्यने अेक बड़ा भारी जंगल खरीद लिया। अुसमें तरह-तरहके असंख्य बड़े-बड़े पेड़ हैं और हजारों किस्मके छोटे-छोटे पौधे भी हैं। अिनमें से कुछ अुपयोगी तथा रखने लायक और दूसरे कओी बेकार और अुखाड़ फेंकने लायक हैं। अनायास बने हुअे अिस जंगलमें कोओी व्यवस्था तो भला कहांसे हो? अुपयोगी वनस्पतियों और वृक्षोंके साथ-साथ अनुपयोगी दरख्त और झुरमुट भी अुगे थे। कओी जगह अनुपयोगी वनस्पतियां अुपयोगी वनस्पतियोंको हटा-हटाकर खुद पनप रही थीं।

अुस मनुष्यके सामने यह सवाल पेश हुआ कि अिस जंगलको किस तरह साफ करके खेतीके लायक बनाया जाय।

पहले तो अुसने कामके और निकम्मे, सभी बड़े-बड़े पेड़ोंको ज्योंके त्यों रखकर छोटे-छोटे तमाम पौधे काटनेका तरीका आजमाया। अुसमें कामके और बेकार पौधोंमें कोओी भेद करना तो मुश्किल था। क्योंकि सब अेक-दूसरेके साथ बुरी तरह अुलझे और गुंथे हुअे थे। अिसीलिअे अुसे सब पौधोंको अेक सिरेसे काट डालना ही आसान मालूम हुआ। अुसने हर दिन अेक-अेक अेकड़ जमीन साफ करना शुरू किया। लेकिन कुछ समयके बाद ही अुसने देखा कि वह अेक तरफसे साफ करता हुआ मुश्किलसे जंगलके मध्य तक पहुंचा था कि अिधर साफ किये हुअे हिस्सेमें नओी-नओी वनस्पतियां फिर अुगने लगी हैं। और फिर वही पुराना दृश्य नजर आने लगा है। अितना

ो नहीं, वरन् छोटे-छोटे पौधोंके टूट जानेके कारण बड़े वृक्ष और ज्यादा पनपने लग गये हैं।

तब अुसे अपना तरीका बदलना पड़ा। अब अुसने बड़े-बड़े दरख्तों पर कुल्हाड़ी चलाना शुरू किया। बड़े वृक्षों पर जब वह ध्यान देने लगा, तो अुनमेंसे कुछ अुसे बहुत ही कीमती और अुपयोगी मालूम हुअे और कुछ बिलकुल निकम्मे या अुखाड़े जाने पर अुपयोगी होनेवाले। अिसलिअे अुसने अिस दूसरे किस्मके पेड़ काटना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि अुसे पैसा भी मिलने लगा और जंगल भी साफ होता हुआ नजर आया। ज्यों-ज्यों अेक-अेक भाग साफ होता गया त्यों-त्यों वहांसे घास-मोथा और झाड़ी-झुरमुट हटाकर खेती करना मुमकिन हुआ।

अथवा अेक दूसरा रूपक लीजिये। अेक बड़ा वस्तुभंडार — स्टोररूम — है। अुसमें सैंकड़ों तरहकी चीजें भरी पड़ी हैं। मगर किसी तरहकी व्यवस्था नहीं है। अेक चीज लेने आअिये, तो दस चीजें लुढ़क पड़ती हैं। पैरोंके नीचे आती हैं। अुन्हें ठोकर लगती है, निकम्मी चीज हाथोंमें आती है और कभी कभी आवश्यक चीज कभी दिन तक खोजनी पड़ती है। चीजोंकी अपेक्षा कमरा बड़ा होते हुअे भी चीजोंकी मानो भीड़-सी लगी रहती है। अुनका हिसाब लगाना तो असम्भव-सा मालूम होता है। मसलन्, रूमालोंमें से कुछ कम्बलोंके नीचे दबे पड़े हैं, कुछ छातोंके ढेरके नीचे पड़े हैं, कुछ दवाअियोंकी अलमारीमें और कुछ पुस्तकोंकी अलमारीमें। हरअेक जगह कअी तरहके रूमाल पड़े हैं। थर्मामीटरका अेक बक्स रूअीकी गाठके नीचे पड़ा हुआ है। दूसरे कोनेमें तेजाब और कागज अेक साथ रखे हुअे हैं। अैसे भंडारमें काम करनेवालोंको भी क्या किसी तरह सुख और शांतिका अनुभव हो सकता है? क्या अिसमें कोअी शक है कि कुछ दिन अुस भंडारको व्यवस्थित करनेके लिअे ही खर्च करने होंगे?

मनुष्यका चित्त भी अिसी तरह अच्छे-बुरे संकल्पों और भावनाओंका अेक घना जंगल अथवा भंडार है। अधिकांश लोगोंका यह जंगल या भंडार बहुत ही अस्तव्यस्त हालतमें होता है। वे जिन चीजोंकी रक्षा

दिनोंका संकल्प सिद्ध तो हुआ; परन्तु असमें से किसी तरहका सुख प्राप्त नहीं हुआ। बड़ोदेमें किसी दर्शनीय स्थानको तो देख ही कैसे सकता था?

असके बहुत वर्ष बाद जल-सम्बन्धके कारण फिर बड़ोदा जाना पड़ा। छ महीने तक वहां रहा। परन्तु छ महीने रहने पर भी बड़ोदा सुखरूप नहीं हुआ। क्योंकि असे निमित्तसे मुझे बड़ोदाका दर्शन हो, असी मैंने अिच्छा नहीं की थी। पहले तो कामका बोझ बहुत ज्यादा रहा और बादमें बीमारीका बोझ बहुत बढ़ गया।

बहुतसे मनुष्य कुंवारे होने पर ब्याह करनेकी अिच्छा करते हैं; और ब्याह करनेके बाद स्त्रीके त्राससे छुटकारा पानेकी अिच्छा करते हैं। परन्तु यह दूसरा संकल्प फले अिस बीच चार-पांच बच्चे हो जाते हैं और युवावस्थाका अन्त होने लगता है। परिणामस्वरूप चालीस वर्षके बाद जब विधुर होनेका संकल्प सिद्ध होता है, तब आधे रास्तेमें गृहस्थी टूटनेका दुःख भोगना पड़ता है।

अिस तरह संकल्पकी सिद्धि और सुखका अनुभव ये दोनों वस्तुअें स्वतंत्र हैं।

लेखमें कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा सत्यसंकल्प है। परन्तु असका अर्थ यह नहीं है कि संकल्पसिद्धिका परिणाम हमेशा सुखदायी ही होता है।

अिसमें से कभी संकल्प करने ही नहीं चाहिये, संकल्प-मात्रका संन्यास करना चाहिये, यह आदर्श अुत्पन्न हुआ है। परन्तु यह आदर्श बलात्कारसे सिद्ध हो जानेवाली वस्तु नहीं है। धीरे धीरे क्रमसे यह स्थिति भी आती है। तब तक संकल्पोंका अुत्तरोत्तर संशोधन साधन मार्ग कहा जा सकता है।

२०-४-'३६

७

जप

पिछले कुछ महीनोंमें जपके विषयमें दो-चार अुल्लेख करने लायक पत्र आये। तीन भाअियोंने अपने काम-विकारके शमनके लिअे और अेकने हस्त-मैथुनके दोषके लिअे अुसे सफल अिलाज पाया। अुनमें से अेक भाअी लिखते हैं :

"मेरी अुम्र पचाससे अूपर है। फिर भी मैं काम-विह्वल रहा करता था। आखिर कुछ दिनके लिअे मैं अेकान्त जंगलमें चला गया। सात दिन तक अुपवास या फलाहार करके रामनामका अनुष्ठान किया। जितने दिनों तक जमीन पर ही सोया। अेक दिन मैंने अतीव शान्तिका अनुभव किया। मुझे निश्चय हो गया कि मेरा काम-विकार अब शान्त हो गया है और मैं दूसरा ही व्यक्ति बन गया हूँ। बस, अितना अनुभव आपसे निवेदन करके समाप्त करता हूँ।"

यह कहना मुश्किल है कि यह शान्ति स्थायी रहेगी या कुछ दिनके बाद फिर अुसके भंग होनेकी संभावना है। लेकिन अिसमें शक नहीं कि जपमें यह शक्ति है और काम-प्रकोप वगैरा कअी दोषोंके शमनके लिअे अिससे बढ़कर दूसरा कोअी अिलाज नहीं है। अिसके मानी यह भी नहीं कि जीवनको सात्त्विक और व्यवस्थित बनानेवाले दूसरे सारे प्रयत्नोंके अभावमें भी यह अुपाय कामयाब हो सकता है। परन्तु अिसके बगैर दूसरे प्रयत्नोंसे ज्यादा सफलता मिलनेकी संभावना नहीं है।

अेक सज्जन, श्री श्रीनिवासदास पोद्दार, आज कअी दिनोंसे गांधीजीको खुली और व्यक्तिगत चिट्ठियां लिखकर आग्रह कर रहे हैं कि हरअेक सत्याग्रही पर किसी न किसी नामका जप करनेकी शर्त लगानी चाहिये। गांधीजीको जपमें श्रद्धा होने हुअे भी वे अुसे सत्याग्रहकी शर्त क्यों नहीं बना सकते, यह समझानेकी कोशिश वे करते रहे हैं। लेकिन गांधीजीके समझाने पर भी अिन सज्जनका समाधान नहीं होता।

हरअेक मजहबके श्रद्धालु भक्तोंने नामजपकी महिमा गा
और गीतामें भी अुसे सबसे श्रेष्ठ यज्ञ बताया गया है। दूसरी त
तर्कपरायण लोगोंको अैसी बातोंमें श्रद्धा नहीं होती। अुन्हें
विषयमें अितना अविश्वास होता है कि अैसी सूचना देनेवालों
पागल ही करार देते हैं।

अिसलिअे जीवनमें जपका क्या स्थान है, अुसकी किस
और कितनी अुपयोगिता है, क्या मर्यादा है — अिसका थोड़ा वि
करना अुचित होगा।

अिसे मैं अेक रूपक द्वारा समझानेकी कोशिश करता

मान लीजिये कि अेक मनुष्यने अेक बड़ा भारी जंगल ख
लिया। अुसमें तरह-तरहके असंख्य बड़े-बड़े पेड़ हैं और हजारों किस्म
छोटे-छोटे पौधे भी हैं। अिनमें से कुछ अुपयोगी तथा रखने लाय
और दूसरे कअी बेकार और अुखाड़ फेंकने लायक हैं। अनाय
बने हुअे अिस जंगलमें कोअी व्यवस्था तो भला कहांसे हो? अुपयो
वनस्पतियों और वृक्षोंके साथ-साथ अनुपयोगी दरख्त और अुरमु
भी अुगे थे। कअी जगह अनुपयोगी वनस्पतियां अुपयोगी वनस्पतियोंक
हटा-हटाकर खुद पनप रही थीं।

अुस मनुष्यके सामने यह सवाल पेश हुआ कि अिस जंगलको
किस तरह साफ करके खेतीके लायक बनाया जाय।

पहले तो अुसने कामके और निकम्मे, सभी बड़े-बड़े पेड़ोंको
ज्योंके त्यों रखकर छोटे-छोटे तमाम पौधे काटनेका तरीका आजमाया।
अुसमें कामके और बेकार पौधोंमें कोअी भेद करना तो मुश्किल
था। क्योंकि सब अेक-दूसरेके साथ बुरी तरह अुलझे और गुंथे हुअे
थे। अिसीलिअे अुसे सब पौधोंको अेक सिरेसे काट डालना ही आसान
मालूम हुआ। अुसने हर दिन अेक-अेक अेकड़ जमीन साफ करना
शुरू किया। लेकिन कुछ समयके बाद ही अुसने देखा कि वह अेक
तरफसे साफ करता हुआ मुश्किलसे जंगलके मध्य तक पहुंचा था कि
अिधर साफ किये हुअे हिस्सेमें नअी-नअी वनस्पतियां फिर अुगने
लगी हैं। और फिर वही पुराना दृश्य नजर आने लगा है। अितना

ी नहीं, वरन् छोटे-छोटे पौधोंके हट जानेके कारण बड़े वृक्ष और
यादा पनपने लग गये हैं।

तब अुसे अपना तरीका बदलना पड़ा। अब अुसने बड़े-बड़े
रख्तों पर कुल्हाड़ी चलाना शुरू किया। बड़े वृक्षों पर जब वह
यान देने लगा, तो अुनमेंसे कुछ अुसे बहुत ही कीमती और अुपयोगी
ालूम हुअे और कुछ बिलकुल निकम्मे या अुखाड़े जाने पर अुपयोगी
ोनेवाले। जिसलिअे अुसने जिस दूसरे किस्मके पेड़ काटना शुरू
िया। नतीजा यह हुआ कि अुसे पैसा भी मिलने लगा और जंगल
ी साफ होता हुआ नजर आया। ज्यों-ज्यों अेक-अेक भाग साफ
ोता गया त्यों-त्यों वहांसे घास-पात और झाड़ी-झुरमुट हटाकर
ेती करना मुमकिन हुआ।

अथवा अेक दूसरा रूपक लीजिये। अेक बड़ा वस्तुभंडार —
टोररूम — है। अुसमें सैंकड़ों तरहकी चीजें भरी पड़ी हैं। मगर
किसी तरहकी व्यवस्था नहीं है। अेक चीज लेने आअिये, तो दस
ीजें लुढ़क पड़ती हैं। पैरोंके नीचे आती हैं। अुन्हें ठोकर लगती
है, निकम्मी चीज हाथोंमें आती है और कभी कभी आवश्यक चीज
कअी दिन तक खोजनी पड़ती है। चीजोंकी अपेक्षा कमरा बड़ा होते
हुअे भी चीजोंकी मानो भीड़-सी लगी रहती है। अुनका हिसाब
लगाना तो असम्भव-सा मालूम होता है। मसलन्, रूमालोंमें से
कुछ कम्बलोंके नीचे दबे पड़े हैं, कुछ छातोंके ढेरके नीचे पड़े हैं, कुछ
दवाअियोंकी अलमारीमें और कुछ पुस्तकोंकी अलमारीमें। हरअेक
जगह कअी तरहके रूमाल पड़े हैं। थर्मामीटरका अेक बक्स रूअीकी
गांठके नीचे पड़ा हुआ है। दूसरे कोनेमें तेजाब और कागज अेक साथ
रखे हुअे हैं। अैसे भंडारमें काम करनेवालोंको भी क्या किसी तरह सुख
और शांतिका अनुभव हो सकता है? क्या अिसमें कोअी शक है कि
कुछ दिन अुस भंडारको व्यवस्थित करनेके लिअे ही खर्च करने होंगे?

मनुष्यका चित्त भी अिसी तरह अच्छे-बुरे संकल्पों और भावनाओंका
अेक घना जंगल अथवा भंडार है। अधिकांश लोगोंका यह जंगल या
भंडार बहुत ही अस्तव्यस्त हालतमें होता है। वे जिन चीजोंकी रक्षा

और वृद्धि करना चाहते हैं, वे टिकने नहीं पाती। और जिन्हें ह
चाहते हैं, वे वहींकी वहीं बनी रहती हैं। जिन चीजोंको याद र
चाहते हैं, अुन्हें बार बार कोशिश करने पर भी भूल जाते हैं।
चीज भूलना चाहते हैं, वह बिना प्रयत्नके बरबस याद आती है
किसी विचार या संकल्प पर देर तक स्थिर नहीं रह सकते। f
संकल्पको पूरा करनेमें सफलता अनुभव नहीं कर सकते। क्योंकि
अव्यवस्थित जिसमें वे जिस संकल्पको पकड़ना चाहते हैं, वह
दब जाता है और दूसरे संकल्प-विचार दिलमें चक्कर काटते रहते
क्या अिसमें शक है कि कभी न कभी आवश्यक समय देकर f
भंडारको व्यवस्थित किये बिना अुन्हें सुख और संतोषका अनुभव
हो सकता ?

अिसे किस तरह व्यवस्थित किया जाय? तर्कपरायण लोगों
खयाल है कि अगर हम अपने हरअेक भाव और संकल्पकी बुनिय
तथा औचित्य और अनौचित्यकी बुद्धिसे परखकर निश्चित निर्णय
लें, तो चित्तमें व्यवस्था आ जायगी। परंतु जीवनका अनुभव बता
है कि अिसमें न तो प्रकाण्ड विद्वत्ता, न दर्शनोंका अध्ययन, न सूक्ष
तर्क-कुशलता काम आ सकती है और न भावनाकी प्रबलता
कामयाब हो सकती है। धार्मिक ग्रंथोंके नित्य पाठ और अध्ययन
तथा मंदिरों और आश्रमों, मठों या वन-अुपवनोंमें रहनेसे
कोअी स्थायी लाभ होता नजर नहीं आता। अुलटे आद
पड़ जाने पर अिन बातोंके लिअे शुरूमें जो पवित्रताकी भावना रहत
है, वह भी क्षीण हो जाती है। जिस तरह भंडारमें कौन-कौनसी औ
कितनी चीजें हैं, अिसकी फेहरिस्त रखने-भरसे भंडारमें व्यवस्थ
नहीं आ जाती; सिर्फ अुनका हिसाब व्यवस्थित हो जाता है; ठीक
अुसी तरह अिन सब साधनोंसे हमारे चित्तमें कौन-कौनसे भाव भरे
हुअे हैं और वे क्यों हैं, अिसका पता तो चलता है, पर अिन भावों
और संकल्पोंकी व्यवस्था नहीं हो पाती।

अितना होते हुअे भी, जिस तरह जंगलमें बरगद-पीपल जैसे
कुछ बड़े तगड़े पेड़ होते हैं और अुनकी हिफाजत न करने पर भी

वे बढ़ते चले जाते हैं; अुसी तरह आदमीमें भी अेकाध-दो भावनाअें या संकल्प अितने जबरदस्त होते हैं कि अुनका अुसे स्पष्ट रूपसे स्मरण रहे या न रहे, वे रात-दिन अपने-आप पनपते ही जाते हैं। व्यवस्था स्थापित करनेमें अिनकी तरफ पहले ध्यान देना चाहिये। वे बढ़ाने योग्य हैं या अुखाड़कर फेंक देने लायक हैं, अिसका विचार करना चाहिये। अगर वे निकम्मे हों, तो अुन पर कुल्हाड़ी चलानी चाहिये। और अगर कामके हों, तो अुनके आसपासका घासफूस हटाकर अुन्हें पनपनेके लिअे अनुकूलता कर देनी चाहिये। मतलब यह कि बढ़ाने योग्य सकल्पों और भावोंको बढनेकी सुविधा देनेके लिअे दोगर तथा अुखाड़ने लायक सकल्पों और भावों पर कुल्हाड़ी चलानी चाहिये।

जप अेक प्रकारकी अैसी मानसिक कुल्हाडी है। फर्ज कीजिये कि अेक आदमीको कामवासना बहुत सताती है और वह अुसका निराकरण करना चाहता है। दूसरे आदमीकी यह प्रवल अिच्छा है कि वह अपने अिष्ट देवका हृदयमें दर्शन करे। तीसरा मनुष्य बहुत ही दरिद्र है और चाहता है कि खूब मालदार बन जाय; चौथे आदमीका अपने आपको देशकी सेवामें खपा देनेका दृढ़ संकल्प है। परंतु अिनमें से हरअेक किसी न किसी भीतरी विघ्नके मारे परेशान है। पहलेके पूर्वजन्मके कुसंस्कार बार बार अुभर आते हैं और कुसंस्कार जाग्रत करनेवाले निमित्त जीवनमें रोज ही पैदा होते रहते हैं। दूसरेका मन निकम्मा भटकता रहता है और तरह-तरहकी स्मृतियां जाग्रत होकर अिष्टदेवको भुला देती हैं। तीसरे और चौथेको अनुकूल बाह्य परिस्थिति नहीं मिलती। सामाजिक, पारिवारिक आदि अनेक कठिनाअियोंके कारण वे अपनी मर्जीके मुताबिक काम नहीं कर पाते।

फिर भी हरअेकका संकल्प बलवान है। जिस वक्त अुसे अुसका स्मरण होता है, अुस वक्त तो वह प्रधान होता ही है; पर जब वह दूसरे कामोंमें व्यस्त रहता है, तब भी अगर अुसका चित्त टटोला जाय, तो वही संकल्प सबसे ज्यादा जोरदार मालूम होगा।

हरअेकके सामने समस्या यह है कि अुसका संकल्प सिद्ध कैसे हो? बुद्धिसे जो कुछ बाहरी अुपाय सूझ पड़ते हैं, अुन्हें तो हरअेक आजमाता ही है; फिर भी अक्सर निराशाके कीचड़में फंस जाता है। अुसे जरूरत किसी अैसे साधनकी है, जिसमें बाह्य परिस्थिति बदल देनेकी और निजको निर्धारित संकल्प पर स्थिर रखनेकी शक्ति हो। शास्त्रोंके अनुसार अखण्ड नामस्मरण अैसा साधन है। अुसके पीछे अेक तो अनुभवगम्य आध्यात्मिक आधार है और दूसरा तर्कसिद्ध बौद्धिक आधार है। अनुभवगम्य आधार यह है कि आत्मा सत्य-काम-सत्यसंकल्प है। अिसीको दूसरे शब्दोंमें यह व्याख्या है कि परमात्मा सत्य-संकल्पका दाता है। सरल भाषामें अिसका मतलब है कि कोअी भी बलवान संकल्प सिद्ध होकर ही रहता है। अुसकी सिद्धि प्रत्यक्ष अिन्द्रियगोचर प्रयत्नों पर जितनी निर्भर है, अुतनी ही बल्कि अुससे भी ज्यादा, चैतन्यकी अप्रत्यक्ष, अिन्द्रियातीत शक्ति पर भी निर्भर है। वह अिन्द्रियातीत शक्ति सिर्फ संकल्पके अनुकूल बुद्धि ही नहीं देती; बल्कि किसी अगम्य रीतिसे बाह्य जगतमें भी अनुकूल परिस्थिति निर्माण कर देती है।

जंगलके पेड़ोंको नहीं मालूम कि वे आकाशके बादलोंको किस तरह अपनी ओर खींच लेते हैं और अुन्हें बरसनेके लिअे प्रेरित करते हैं। पर वे प्यास जरूर महसूस करने लगते हैं और जब बारिश होती है, तब अपनी कामना-सिद्धिका सुख भी अवश्य अनुभव करते हैं।

अिसी तरह मनुष्यको यह पता नहीं होता कि बाहरी परिस्थिति अैसी अनुकूल कैसे बन जायगी, जिससे कि वह अपने मनकी कामना पूरी कर सके। कभी-कभी चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है। लेकिन यदि अुसका संकल्प तीव्र और दृढ़ हो, तो न केवल अुसके अपने पुरुषार्थकी बदौलत, किन्तु दूसरे कअी कारणोंकी सहायतासे भी वह परिस्थितिको आहिस्ता-आहिस्ता अनुकूल होती हुअी देखता है। जिस किसीने अपने जीवनमें प्रतिकूल परिस्थितिमें भी सफलता प्राप्त की होगी, वह अगर आत्मनिरीक्षण करेगा, तो अुसे अिस

कथनकी सत्यताकी प्रतीति जरूर मिलेगी। संभव है कि वह जिसका कोओ वैज्ञानिक कारण न जानता हो और जब जब अनुकूल परिस्थिति पैदा हुओ हो, तब-तब असने अुसे ओश्वरकृपा, दैवयोग, खुशकिस्मती, या ग्रहोंकी अनुकूलता माना हो।

अपने बलवान संकल्पको निरन्तर जाग्रत रखने और धक्के देते रहनेका सबसे बढ़िया अुपाय अुसका सतत स्मरण रखना है। परन्तु किसी संकल्पकी व्याख्या खासी बड़ी हो जायगी और अितनी लंबी-चौड़ी व्याख्याका निरंतर स्मरण करते रहना सुविधाजनक नहीं है। अिसलिअे जिस तरह लम्बे भावको संक्षेपमें व्यक्त करनेके लिअे हम 'सांकेतिक शब्द' (कोड-वर्ड) गढ़ लेते हैं, अुसी तरह अपने संकल्पके लिअे कोओ छोटा-सा सांकेतिक शब्द बना लेनेसे बहुत सुविधा होती है। ॐ, हरि, राम, कृष्ण, खुदा, अल्लाह, आदि किसी प्रकारके सांकेतिक शब्द हैं। अिनका जप करना हरअेकके लिअे अपने संकल्पको पुष्ट करनेका वैज्ञानिक साधन है। यह समझना गलत है कि जब कोओ मनुष्य 'रामनाम' का जप करता है, तब वह 'भगवान' का ही स्मरण करता है। अुसके जपका वैज्ञानिक अर्थ केवल अितना ही है कि वह *अपने मनके सबसे बलवान शुभ या अशुभ संकल्पको पुष्ट करता है।* जब कोओ कामपीड़ित मनुष्य कामविकारसे छूटनेके लिअे 'रामनाम' जपता है, तब यह मानना चाहिये कि वह 'निष्कामता, निष्कामता' का जप कर रहा है। जब कोओ धनेच्छु मनुष्य राम-राम रटने लगे, तब समझना चाहिये कि वह धनका ही जप कर रहा है। दोनोंके बाह्य प्रयत्न भी अुसी संकल्पको पूरा करनेके लिअे होते हैं। यही बात दूसरे संकल्पोंके लिअे भी लागू है।

लेकिन चूंकि भक्तोंने जपके अिन शब्दोंको दरअसल आध्यात्मिक साधनाका अंग बनाया और माना है, अिसलिअे जब कोओ आदमी धनकी या दूसरी किसी सांसारिक कामनाके लिअे नाम-स्मरण करता है, तब वे बिगड़ पड़ते हैं। कबीरने अिसी तरह बिगड़ कर कहा है:

"माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनुवा तो दस दिश फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं॥

और दूसरे किसीने कहावत चला दी है कि 'मुखमें राम और बगलमें छुरी'। वास्तवमें यह असंगति केवल भक्तकी दृष्टिसे ही है। भक्त 'राम' शब्दका संकेत अपने विशेष अभिप्रायसे करता है। मगर बगलमें छुरी रखनेवाले या दूसरे व्यक्तियोंके दिलमें कुछ और ही अभिप्राय होता है।

सारांश, नामस्मरण या जपयोग संकल्प-सिद्धिका अेक वैज्ञानिक साधन है। परंतु मनुष्य जिस संकल्पका संकेत करके जप करता है, अुसीको सिद्ध कर सकता है। दस आदमी अेक ही नामका जप करें, तो भी यह न मानना चाहिये कि वे सब अेक ही संकल्पसे प्रेरित हैं। जो मंत्र अेक निश्चित हेतुसे बनाये गये हैं और सिर्फ अुसी संकल्पकी सिद्धिके अुद्देश्यसे अपनाये जाते हैं, वे अपवादरूप हैं।

दूसरे, नामस्मरणकी सफलताके लिअे अुसका अखंड जप करनेका अभ्यास जरूरी है। किसी अेक निश्चित समय पर जप करके बाकीके वक्त अुसे भूल जानेसे न तो जपमें सफलता मिलती है और न संकल्प ही सिद्ध होता है।

तीसरे, जो नाम जपा जाता है, अुसे हमने किस संकल्पका वाचक माना है, अिसका हमें स्पष्ट खयाल होना चाहिये। दिलमें अगर अनेक संकल्पोंकी खिचड़ी हो और अुनमें से किसी अेकको भी मुख्य माननेमें मनुष्य अपने आपको असमर्थ पाता हो, तो अुसे जपका क्या लाभ हुआ, अिसका ठीक-ठीक पता भी शायद ही चलेगा। वह जप सर्वथा निष्फल तो नहीं होता; लेकिन अुसकी सिद्धि कुछ अव्यवस्थित जरूर रहेगी। बाज दफा यह भी अनुभव होगा कि संकल्पकी पूर्ति होते होते अुस संकल्प परसे दिल अुचट जाता है और कोअी दूसरा ही संकल्प दिल पर काबू कर लेता है।

चौथी बात, जप और पुरुष-प्रयत्नका विरोध नहीं है। जप संकल्पका स्मरण दिलानेवाला साधन है। स्मरणके निरंतर कायम रहनेसे दिमाग हमेशा अुसकी सिद्धिके अुपायोंकी तलाशमें रहता है। कोअी अुपाय खयालमें आ जाता है, तब अुसे आजमाना स्वाभाविक होता है। दूसरी तरहसे जिस संकल्पशक्तिसे वह संकल्प अुत्पन्न

होता है, वह शक्ति स्मरणके कारण जिस मात्रामें अेकाग्र होती है, अुस मात्रामें बाह्य जगतको भी अनुकूल बनानेमें लगी रहती है।

जहां तक हो सके, जप मन ही मन — यानी बिना जीभ हिलाये ही — करना अच्छा है। जपके शब्द भी निश्चित ही होने चाहियें। कभी अेक और कभी दूसरे शब्दोंका प्रयोग करना ठीक नहीं है। यह चंचल और अस्थिर चित्तका लक्षण है। बचपनमें जिस मंत्रका अभ्यास या श्रद्धा हो गअी हो, वह अधिक अनुकूल होता है। अुसके अभावमें किसी अेक मंत्रका निश्चय कर लेना चाहियें। जब स्वयं निश्चय न कर सकें, तो किसी श्रद्धेय व्यक्तिसे निश्चय करा लेना चाहिये। दूसरेसे मंत्र लेनेका यह भी अेक अभिप्राय है।

अेक निश्चित समयके लिअे स्थिरासन होकर अेकान्तमें चित्तकी धारणा द्वारा जप किया जाता है, तब अुसे विशेष साधना अथवा योगाभ्यास कहते हैं। यह अेक अलग चीज है। अुसकी चर्चा यहां करना जरूरी नहीं है।

जिस तरह सभी प्रकारके लोगोंके लिअे जप अुपयोगी हो सकता है। *आजकलके सार्वजनिक आन्दोलनोंमें अुसके आधुनिक स्वरूपको* नारा (घोष या स्लोगन) कहते हैं। किसी अेक ध्येय पर सारी जनताको अेकाग्र करनेके लिअे आन्दोलनके संचालक अपना 'स्लोगन' या 'नारा' बना लेते हैं। जिस जमानेमें यह अेक फैशन-सी हो गअी है। वास्तवमें यह जपयोगकी ही अेक मिसाल है। अुसकी तुलना रामनामकी अुस धुनके साथ की जा सकती है, जो बड़े समूहोंमें गाअी जाती है। अैसी धुनका गान अक्सर निश्चित संकेतसे रहित होता है और जिसलिअे सात्त्विक मनोरंजनसे अधिक परिणामदायी नहीं होता। लेकिन निश्चित अर्थके द्योतक होनेके कारण स्लोगन अपने अल्प जीवन-कालमें अपनी सामर्थ्य स्थूल रूपमें प्रगट करते हैं और जपकी महिमा तथा अुपयोगिताका सबूत पेश करते हैं। ये स्लोगन प्रायः अल्पजीवी होते हैं, जिसलिअे अुनकी सिद्धि भी अल्पजीवी होती है।

('सर्वोदय', अक्तूबर, १९४१)

८

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।[1]

भाअी पाण्डुरंग देशपांडेने गत अंकमें 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः'[2] शिस शीर्षकके नीचे कुछ तात्त्विक शंकायें अुठाअी हैं। यह वस्तु ही अैसी है कि जिसका निश्चित समाधान बहुत बार बड़े ग्रंथोंसे भी निवारण नहीं हो पाता है। शिसके लिअे तो

'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।'[3]

यही मार्ग है। फिर भी दो चार प्रश्नोंका खुलासा भाअी देशपांडे तथा अन्य विद्यार्थी बंधुओंको अुपयोगी होगा, अैसा समझकर अुनकी चर्चा करता हूं:—

"सदाचार किसने निश्चित किया है", यह कहना सर्वथा शक्य नहीं है। कभी बार तो भौगोलिक परिस्थिति, अैतिहासिक घटनाओं, सामाजिक आवश्यकताओं अित्यादिके कारण सदाचारके नियम अमुक स्वरूप ग्रहण करते हैं। ये सब नियम हमेशा प्राणीमात्रके कल्याणके लिअे ही होते हैं, अैसा नहीं कहा जा सकता तथा प्रत्येक नियम सनातन कालके लिअे स्वीकार करने योग्य है, अैसा भी नहीं कहा जा सकता। सदाचारकी भावनाओंका भी देशकालानुसार संकोच और विकास हुआ है।

परंतु "सदाचारके कानून कौन बनावे", यह बताया जा सकता है। जगत्के प्राणीमात्रके कल्याणके लिअे (अर्थात् शांतियुक्त सुखके लिअे) सदाचारके कानून हैं; अिसलिअे यह बात स्पष्ट है कि

---

१. . . . जिसे जानकर पापसे छूटेगा। — गीता, ४–१६

२. . . . अिस विषयमें पण्डितोंको भी परेशानी हुअी है। — गीता, ४–१६

३. तू सेवा करके, नम्रभावसे प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त कर। ,, ४–३४

जो प्राणीमात्रका मित्र हो, अुसे ही सदाचारके कानून निश्चित करनेका अधिकार है। जिसके मनमें किसी व्यक्ति या (छोटे-बड़े) वर्गके लिअे पक्षपात या वैरभावकी वृत्ति ही न हो, वही सदाचारके कानून बनावे यह अुचित है, मेरे खयालसे अैसा कबूल करनेमें किसीको अेतराज न होगा।

जन्म, सामाजिक परिस्थिति और संस्कारोंके कारण जिस वातावरणमें मनुष्य पल-पुसकर बडा हुआ है, अुस वातावरणके अनुकूल (और अुससे स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेवाला) नित्य-नैमित्तिक कर्म भक्तिभावसे, दृढ़तासे, अपनी सर्व भोगेच्छाओं और अनावश्यक भोगोंका त्याग कर, अपनी सर्व शक्तियों और भावनाओंके शुभ विकासकी दृष्टिसे, विवेकसहित — जितने अशमें खुद निष्कामता समझ सकता हो अुतने अशमें — निष्कामभावसे किया हुआ हो, तो वह मनुष्यको अूचेसे अूचे पद प्राप्त करानेमें समर्थ है। अिस दशाके लिअे पुरुषोत्तमपद, सच्चिदानद पद, कैवल्य पद, निर्वाण, जीवन्मुक्ति या दुःखनाश जैसे शब्दोंमें से किस शब्दका प्रयोग किया जाय, यह महत्त्वपूर्णकी बात नहीं है।

> 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नरः।'[४] तथा
> 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।'[५] अुसी प्रकार
> 'कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः।'[६]

अिसमें से मैं अैसा अर्थ करता हूं।

(कर्म और धर्म शब्दोंका मै यहां पर पर्यायरूपमें अुपयोग करता हूं। जो कर्म धर्मसे आवश्यक नहीं होता, वह निष्काम भावसे नहीं हो सकता।)

---

४. स्वयं अपने कर्ममें रत रहकर मनुष्य ससिद्धि पाता है। गीता, १८-४५

५. अुसे स्वकर्मसे पूजकर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। गीता, १८-४६

६. जनकादिकने कर्मसे ही परम सिद्धि प्राप्त की। गीता, ३-२०

"मनुष्यका अंतिम ध्येय आत्मसाक्षात्कार है", यह विधान भी मुझे अधूरा लगता है। अिस दृष्टिसे आध्यात्मिक मार्गकी ओर जो झुकाव होता है, वह बहुत वांछनीय नहीं लगता। मैं तो यह कहता हूं कि मनुष्यका अंतिम ध्येय (अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु) चित्तशुद्धि है। स्वरूपनिष्ठा अिसका स्वाभाविक फल है। (साक्षात्कार — दर्शन, अनुभव ये शब्द मेरे हेतुके लिअे यहां पर भ्रामक मालूम होते हैं, अिसलिअे मैं स्वरूपनिष्ठा शब्दका अुपयोग करता हूं।) अिसके लिये बादमें विशेष पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नहीं रहती।

"औीश्वरकी लीलाके मार्ग अनंत हैं। तो फिर अहिंसा, सत्य या ब्रह्मचर्य अित्यादि अेकांगी तत्त्व लेकर अुनमें ही औीश्वरको बांधनेका क्यों प्रयत्न करना चाहिये?" पुण्य-पाप, देव-दानव सबमें औीश्वर समान रूपसे है यह बात ठीक है।

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'[7]

परंतु अिस वस्तुको केवल बुद्धिसे स्वीकार करनेमात्रसे शांति नहीं मिलती है; अिस सत्यमें निष्ठा हो तभी शांति मिलती है। और अिस शांतिका मार्ग तो यम-नियमोंके द्वारा ही प्राप्त होता है।

'ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।'[8]

और अेक संतके कहे अनुसार अिन्द्रियनिग्रह भजनका शरीर है और अेकाग्रता भजनकी आत्मा है।

आत्मसमर्पण, ब्रह्ममें लय, शक्तिकी अुपासना, भावना (Abstract idea) का दास्य अित्यादि संबंधी विचारोंके पीछे मैं अनेक प्रकारके वादों (Theories) और कल्पनाओंका घर देखता हूं। अिसलिअे अिस विषयमें यहां पर कुछ भी लिखना और अधिक गड़बड़ी बढ़ानेवाला होगा।

---

७. सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूँ। मुझे कोअी अप्रिय या प्रिय नहीं है।　　गीता, ९-२९

८. लेकिन जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमें और मैं [illegible]। गीता, ९-२९

परंतु अिन भाअीसे तथा दूसरे विद्यार्थियोंसे भी नम्रतापूर्वक ः
अितना कह सकता हूं कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्र
अित्यादि यमों तथा तप, स्वाध्याय, अीश्वरप्रणिधान, शौच अित्यादि
नियमों और मैत्री, करुणा, (पूज्य जनोंके विषयमें) मुदिता और (हर्ट
पापियोंके प्रति) अुपेक्षा, अिन भावनाओंके अनुशीलन विना शातिकी,
अेक तुच्छ प्राणीका किसी भी कार्यक्षेत्रमें हित करनेकी या अपनी
शुभ शक्तियोंका विकास करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। मनुष्यको
दुर्बलता अच्छी न लगे यह अिष्ट है, परंतु अुसकी शक्तिकी अुपासना
हमेशा शुभ ही होती है, अैसा नहीं। सारे जगतको पादाक्रान्त करनेकी
अिच्छा रखनेवाले सम्राट् भी शक्तिकी ही अुपासना करते हैं और
सारे जगतका सद्धर्मके द्वारा अुद्धार करनेकी अिच्छा रखनेवाले बुद्धने
भी शक्तिकी ही अुपासना की थी। किस शक्तिका विकास अिष्ट है,
अिसका विवेकबुद्धिसे विचार करने पर ही यह अपने आप समझमें
आ जायगा कि अुसके लिअे यम-नियमके अनुशीलन और भावना-
शुद्धिका कितना महत्त्व है। 'सत्त्वाद् ब्रह्मदर्शनम्'[१] यह श्रुति व्यर्थ
नहीं है।

अनेक प्रकारके तत्त्वज्ञानों, वादविवादों, योगकी रूढ़ियों और
कल्पनाओंकी मायामें जीव फंसा हुआ है। परमेश्वरकी साक्षात् भौतिक
मायाकी अपेक्षा शास्त्रियों और पंडितोंकी वाङ्मायाका जाल विशेष
बलवान होता है। अिसमें से किस किस पर श्रद्धा रखी जाय और
किस पर न रखी जाय? श्रद्धेय गुरु या शास्त्र किसे समझा जाय?
अिसके जवाबका आधार सारासारका निर्णय करनेवाली हरअेककी
विवेकशक्तिके विकास पर है। फिर भी जो अितनी सूचना स्वीकार
करेगा, अुसकी अवनति तो कभी नहीं होगी, अैसा निश्चयपूर्वक
कहा जा सकता है। वह सूचना यह है कि जिन अुपदेशोंमें अिंद्रिय-
संयम, मनोनिग्रह, शुभ भावनाओंका विकास, माता-पिता और गुरुकी
भक्ति, यम और नियमके प्रति पूर्ण आदरभाव न हो, वे अुपदेश

१. सत्त्व (गुणके विकास) से ब्रह्मदर्शन होता है।

विद्वत्ता, योगारूढ़ता या ज्ञानके लिअे चाहे जितने प्रसिद्ध पुरुषोंकी ओरसे किये गये हों, तो भी अुन्हें त्याज्य समझना चाहिये।

> भक्ति वा ज्ञानमालम्ब्य स्त्रीद्रव्यरसलोलुपाः।
> पापे प्रवर्तमानाः स्युः कार्यस्तेषां न संगमः॥[10]
> (शिक्षापत्री, २८)
>
> जो कोणी ज्ञान बोधी। समूळ अविद्या छेदी।
> इन्द्रियदमन प्रतिपादी। तो सद्गुरु जाणावा॥
>
> *   *   *
>
> ज्ञानवैराग्य आणी भजन। स्वधर्म कर्म साधन।
> कथानिरूपण, श्रवण, मनन। नीति, न्याय, मर्यादा॥
> या मधे अेक अुणें असे। तेणें तें विलक्षण दिसे।
> म्हणोनी सर्व ही विलसे। सद्गुरुपाशीं॥
> सदुपासना आणि सत्कर्म। सत्क्रिया आणि स्वधर्म।
> सत्संग आणि नित्यनेम। निरंतर॥
> अैसे हे अवघेंचि मिळे। तरीच विमळ ज्ञान निवळे।
> नाहीं तरी पाषाड सचरे बळें। समुदायीं॥[11]
> (दासबोध, ५-२३)

१०. भक्ति अथवा ज्ञानका बहाना बनाकर जो लोग स्त्री, द्रव्य या रसमें लुब्ध होकर पापमें प्रवृत्त होते हैं, अुनका संग नहीं करना चाहिये।

११. जो ज्ञान देता है, अज्ञानका जड़से नाश करता है, अिन्द्रिय-दमनका समर्थन करता है अुसे सद्गुरु जानना चाहिये। . . . ज्ञान, वैराग्य, भजन, स्वधर्माचरण, साधना, कथानिरूपण, श्रवण, मनन, नीति, न्याय, मर्यादा अिन सबमें से यदि अेक भी कम हो, तो पूर्णतामें अुतनी त्रुटि समझना चाहिये, अिसलिअे सद्गुरुमें ये सभी गुण होने चाहिये। सदुपासना और सत्कर्म, सत्क्रिया और स्वधर्म, सत्संग और नित्य नियमितता ये सब अिकट्ठे हों तभी हृदयमें शोभा पाते हैं; नहीं तो समाजमें अकर पाखण्ड फैलता है।

मैं अिन सब वचनोंको मान लेनेके लिअे अुद्धत नहीं करता हूं। परंतु विवेकसे विचार करने पर ये ही वचन श्रद्धेय मालूम होते हैं या नहीं, अिसे जाननेके लिअे अुद्धृत करता हूं। सब प्रकारकी दलीलोंसे 'ओीश्वरके सिवाय दूसरा मौलिक (Absolute) तत्त्व नहीं है' अैसा सिद्ध करनेवाला विशेष शांति प्राप्त करेगा और दूसरोंको भी करायेगा, या अिस तत्त्वके वादविवादमें न पड़ कर सन्मार्ग पर चलनेसे और दैवीसंपत्तिके विकाससे प्राप्त होनेवाला दलीलोंसे परे जो ज्ञान है अुसे अपने हृदयमें प्राप्त करनेवाला विशेष शांति प्राप्त करेगा और दूसरोंको करायेगा — अिस पर विचार करनेका काम मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूं।

('साबरमती', अप्रैल, १९२३)

९

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

अिधर थोड़े दिन पहले लोकसेवकोंका अेक छोटा-सा दल वर्धामें अिकट्ठा हुआ था। जो व्यक्ति अपना जीवन जनता-जनार्दनकी सेवामें बिताना चाहता हो, वह निजी परिग्रह रखे या न रखे, अैसा अेक प्रश्न वहां अुपस्थित हुआ था। बहुतसे भाअियोंकी अैसी राय मालूम हुअी कि अगर अक्षरशः न हो सके तो कम-से-कम जितना हो सके अुतना लोकसेवकको अवश्य परिग्रहहीन होना चाहिये। अुसका परिग्रह अैसा और अितना अधिक न होना चाहिये कि वह अुसकी सेवामें किसी तरह बाधक हो, और परिग्रहकी रक्षा और वृद्धिकी ओर अुसे ध्यान देना पड़े।

यह तो हुअी व्यावहारिक दृष्टि। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी सब भाअियोंका यही अभिप्राय था कि ओीश्वरके सहारे रहनेवाला लोक-सेवक किसी तरहका परिग्रह नहीं रख सकता। अपना या अपने

बालबच्चोंका भविष्यमें क्या होगा, अिसकी चिन्ता जिसने भगवान् ही पर छोड़ दी है, अुसे परिग्रह रखनेसे क्या मतलब?

ये सब विचार मुझे भी मंजूर हैं। लेकिन अिसके बाद और जो बातें हुआीं, अुन परसे अिन विचारोंमें कुछ संशोधन करनेकी जरूरत मुझे मालूम होती है।

जनताका सेवक ब्रह्मचारी होना चाहिये या नहीं, यह अेक दूसरा प्रश्न विचारार्थ रखा गया था। प्रायः सब भाअियोंकी अिस विषय पर यही सम्मति दिखाअी दी कि अिस व्रतको हम अनिवार्य नहीं बना सकते। आदर्शके रूपमें यह ठीक है, लेकिन अुसे अनिवार्य कर देनेसे अुसका पालन नहीं हो सकता। अुलटा, अुससे दंभ और अनाचार ही बढ़ता है। अिसलिअे अिस विषयमें प्रत्येक सेवकको अपनी शक्तिके अनुसार अपना प्रगतिक्रम निश्चित करनेकी छूट दे देनी चाहिये।

अिन बातोंको भी मैं मानता हूं। लेकिन अब प्रश्न यह अुठता है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अिन दो व्रतोंमें यदि क्रम मुकर्रर करना हो, तो हमें पहले ब्रह्मचर्यकी ओर बढ़ना चाहिये या अपरिग्रहकी ओर?

जिस तरह अिन बातोंकी चर्चा यहां पर हुअी, अुनसे मुझे अैसा लगा कि बहुतेरे भाअियोंका जोर जितना अपरिग्रही होने पर दीखता था, अुतना ब्रह्मचर्य रखने पर न था।

यदि यह सच हो तो यह विचारकी भूल है, अैसा मेरा नम्र मन्तव्य है। यह सच है कि परिग्रह छोड़नेकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य रखना ज्यादा मुश्किल बात है, अिसमें कोअी आश्चर्य भी नहीं। परिग्रह छोड़ना स्थूल त्याग है, ब्रह्मचर्य पालना सूक्ष्म त्याग है। चोर या डाकू बलात्कारसे हमें अपरिग्रही बना सकता है। अिस प्रकारकी समाज-रचना भी बनाअी जा सकती है, जिससे धीरे-धीरे समाजका ही परिग्रह कम होता जाय, और थोड़े लोगोंको छोड़कर शेष सब अकिंचन बन जायं। किन्तु कोअी हमें बलात्कारसे स्थिरवीर्य नहीं कर सकता। अिससे ब्रह्मचर्यके मार्गमें बड़ी कठिनाअियां हैं, अिसे मैं स्वीकार करता हूं।

परंतु अिस बातका भी हमें विचार करना चाहिये कि ब्रह्मचर्यके परिग्रह-त्याग असतः अेक वृथा चेष्टा है, और समाजहितकी दृष्टिसे हानिकर भी है। जो मनुष्य अेक ओर तो सन्तान-वृद्धि किया करता है, और दूसरी ओर परिग्रह छोड बैठता है, अुसका अपरिग्रह अन्त तक नहीं टिकेगा; और अगर टिका भी तो न अुसकी या अुसकी संततिकी अुस अपरिग्रहसे विशेष आध्यात्मिक अुन्नति होगी, और न अुसकी अीश्वर-श्रद्धा ही अन्त तक टिकेगी और अुसे शांति देगी। मनुष्यका प्रथम और विशेष महत्त्वका परिग्रह तो अुसका परिवार है। और यह तो चेतन परिग्रह है। वह जब तक नहीं छूट सकता, तब तक केवल जड़ और आर्थिक परिग्रहके त्यागसे क्या लाभ हो सकता है?

हमें यह बात न भूलनी चाहिये कि जनताका सेवक जनताका ही अेक अंश है। अिसलिअे जो नियम सर्वसाधारणके लिअे हानिकर हो, वह जनताके सेवकके लिअे भी हानिकर ही होगा। क्या हम सर्व-साधारणको यह सलाह दे सकते हैं कि तुम सततनि-वृद्धि तो भले ही करो, किन्तु अर्थकी वृद्धि और सरक्षण करनेकी कोअी आवश्यकता नहीं? कुछ विद्वानोंकी यह राय हो, तो भी कम-से-कम मानव-समाजकी आजकी परिस्थितिमें न तो हम समाजके सामने अैसा आदर्श रख सकते हैं और न अुसकी स्वीकृतिकी आशा कर सकते हैं। अुलटा यह कहा जा सकता है कि आज हमारी प्रधान चिन्ता यह है कि हम कोअी अैसा मार्ग निकालें, जिससे निर्धनोंको अधिक धन-प्राप्ति हो, ताकि वे कुछ तो अधिक सुख-सौभाग्य प्राप्त कर सकें। हमारे चरखा-संघ, ग्राम-अुद्योग-संघ, हरिजन-सेवक-संघ, और हमारा अन्य रचनात्मक कार्यक्रम — सभीका प्रायः अेक ही ध्येय है कि गरीबोंका आर्थिक अभ्युदय किया जाय। जनताको आर्थिक सुख पहुंचाये बिना हम अुसकी आध्यात्मिक अुन्नति नहीं कर सकेंगे।

यही सिद्धान्त जनताके सेवकोंके लिअे भी है। यदि अुन्हें परि-वार रखना और बढ़ाना मंजूर है, तो स्पष्ट है कि वे परिग्रह-त्यागकी दिशामें अमुक मर्यादा तक ही बढ़ सकेंगे। कुछ-न-कुछ परिग्रह करना, रखना और अुसे बढ़ाना अुनके लिअे अनिवार्य ही होगा।

अब दूसरा अेक सवाल यह खड़ा होता है कि अगर लोक-सेवक सपरिवार है, और आज अपने अन्दर ब्रह्मचर्यपालनकी शक्ति नहीं पाता, तो क्या अुसे लोक-सेवाका कार्य छोड़ देना चाहिये? या धनोपार्जनमें लगकर अपना परिग्रह बढ़ाना चाहिये?

मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है। मैं तो अिसकी ओर देशके सेवकोंका ध्यान खींचना चाहता हूं कि स्थूल परिग्रहका त्याग सिद्ध करनेसे पूर्व अुन्हें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता समझ लेनी चाहिये, और अुस दिशामें आगे बढ़नेका कोअी-न-कोअी क्रम सोच लेना चाहिये तथा प्रयत्न आरंभ कर देना चाहिये।

मेरी यह मान्यता है कि विद्याकी ही अुपासना करनेका आदर्श सामने रखने पर और अुस ओर स्वाभाविक अभिरुचि होने पर भी ब्राह्मणवर्णकी हमारे देशमें जो अवनति हुअी है और ब्राह्मणोंका बहुत बड़ा भाग केवल नामका ही ब्राह्मण रह गया है, अिसका प्रधान कारण यही है कि ब्राह्मण धर्ममें जितना अपरिग्रह पर जोर दिया गया था, अुतना ब्रह्मचर्य पर नहीं दिया गया। दूसरे, अपरिग्रहका अर्थ केवल धनसंग्रह न करना ही नहीं समझा जाता था, बल्कि धननिर्माण न करना भी माना जाता था। अिसके कारण ब्राह्मण-समाज अत्यन्त परावलंबी और शेष समाजके लिअे भार-सा बन गया। पर यदि अिसके साथ ही अुसने कुछ ब्रह्मचर्य-पालनका नियम भी बनाया होता, तो आजकी तरह अुच्च-संस्कारकी परंपरा ब्राह्मणवर्ण खो न बैठता। परंतु अैसे किसी नियमके अभावमें बढ़ती हुअी ब्राह्मण-प्रजाके लिअे शेष समाजसे पोषण पाना अधिकाधिक कठिन बनता गया, और अिस कारणसे अुसको अुच्च-संस्कार प्राप्त करनेकी अनुकूलता क्रमशः घटती गअी। अगर देश-सेवक भी केवल अपरिग्रह पर जोर देंगे और ब्रह्मचर्यको कठिन समझकर अुसमें ढिलाअी करेंगे, तो अुनकी सन्ततिकी भी वही दशा होगी जो अुन ब्राह्मणोंकी सन्ततिकी हुअी।

फिर, अपरिग्रहका अर्थ धनका असंग्रह अितना ही करना चाहिये। सेवक ब्रह्मचारी हो या भोगी, अुसके अपरिग्रहका मतलब यह न होना चाहिये कि वह कुछ अर्थोत्पत्ति भी न करे, या स्वाश्रयी भी

जिस तरह भगवद्गीताके अुपदेशके आरंभमें ही कहा गया है

जिस प्रकारकी तितिक्षा केवल सामान्य व्यायाम आदिके द्वा
शरीरको तालीम देनेसे प्राप्त होती है, असा हमेशा देखनेमें न
आता। यह भी नहीं कि हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले मनुष्यमें वह पा
जाती है और दुबले-पतलेमें नहीं पाओ जाती। या दरिद्रमें क
रहती है और धनिकमें नहीं रहती। कभी-कभी नाजुक गरीब औ
कड़े धनिक भी पाये जाते हैं। लेकिन यह कह सकते हैं कि गरी
लोगोंको मजबूरन ये कठिनाअियां सहन करनेकी आदत बना लेनी पड़
है, और अिस कारण अुनमें अधिक तितिक्षा रहती है। मन सह
न कर सकता हो तो भी शरीरको सहन किये सिवा कोओ चा
नहीं रहता।

परन्तु जिस तरह दान, दया, तप, आदि सद्गुणोंके बारेमें गीता
कहा है, अुसी तरह तितिक्षाके विषयमें भी कह सकते हैं कि वह
सात्त्विक (ज्ञानयुक्त), राजस (लोभसे प्रेरित) और तामस (जड़त
आलस्य और प्रमादसे बढ़ी हुओ) — तीन प्रकारकी हो सकती है। औ
जिस तरह हमारी प्रजामें दूसरे बहुतसे गुणोंके बारेमें हुआ है, अु

बनाना अेक सिरेकी गलती होगी। ग्रामोद्योगके नाम पर वे जैसे
वैसे ही अुन्हें रखकर अुनका पोषण करना दूसरे सिरेकी गलत
होगी। हमारा ध्येय यह होना चाहिये कि गांवोंमें जो चीजें बनें,
गांवोंमें मिलनेवाले साधनों पर ही यथाशक्ति मेहनत करके व बु
लगाकर सुन्दर बनाओ जायं। जो असुविधा या अड़चन गांवोंके साधनो
दूर हो सकती हो, अुसे गरीबी या ज्ञानयुक्त त्यागको छोड़क
दूसरे किसी कारणसे दूर न करेंगे, तो अुससे केवल आलसीपन, प्रमा
और जड़ताको ही पोषण मिलेगा।

२. हे अर्जुन, अिन्द्रियोंके विषय सर्दी, गर्मी, सुख और दु
देनेवाले होते हैं। वे आते हैं और चले जाते हैं और अनित्य है
अुन्हें तू सहन कर। हे नरश्रेष्ठ, सुख-दुःखमें सम रहनेवाला जो पुरु
अिन बातोंसे व्याकुल नहीं होता, वह मोक्षका अधिकारी होता है

तरह तितिक्षाके बारेमें भी हुआ है। यानी तितिक्षाके नाम पर हमने बाज दफा जड़ता, आलस्य और प्रमादको ही पोसा है।

जब हम यह मानने लग जाते हैं कि अेक वृत्ति अच्छी है, तब स्वाभाविक ही अुससे चिपके रहनेका हमारा आग्रह बन जाता है, और अुसे प्राप्त करने या बढ़ानेके लिअे कृत्रिम अुपाय काममें लेनेकी प्रवृत्ति होती है। और संभव है जिसमें यह गुण न हो, या कम हो, अुसके प्रति हमारे मनमें अनादर पैदा हो या समभाव न रहे। और अुनके मूलमें यदि लोभ, जड़ता, अज्ञान आदि हो तो अुस वृत्तिको बढ़ानेका प्रयत्न जनताको आगे ले जानेकी जगह पीछे हटानेवाला साबित हो सकता है।

धर्मग्रंथोंके अवलोकनसे मालूम होता है कि तितिक्षा बढ़ानेका प्रयत्न हमारे देशमें बहुत प्राचीन समयसे होता आया है। अनेक प्रकारके तपोंकी योजनाका अुद्देश्य यही दीख पड़ता है कि सहनशीलताकी वृद्धि हो। पञ्चाग्नि-सेवन, गरमीमें धूपमें बैठना, सर्दीमें खुलेमें रहना, वर्षामें बरसातमें बैठना, जान-बूझकर भूखे रहना, पानी न पीना अित्यादि तपके प्रकारोंका अेक हेतु हमारे कोमल ज्ञानतंतुओंको धीरे-धीरे कठोर बनाना भी रहा है। अिससे मनुष्यके तीन बलवान विकार — काम, क्रोध और लोभ — कहां तक जीते जाते हैं, अिसमें मुझे संदेह ही है। कारण तपस्वी क्रोधी न हो, अैसा शायद ही देखा जाता है। व्यापारियोंमें अतिलोभ और अति तितिक्षा अेकसाथ देखे जाते हैं। 'डोरी और लोटे' की ही पूंजीसे अपना जीवन शुरू करनेवाला बनिया 'गादी और तकिये' वाला बननेके समय तक तितिक्षाकी जो पराकाष्ठा करता है, वह तपस्वी भी शायद न दिखा सके। जेबमें पैसा होते हुअे भी अेक ही बार खानेका निश्चय करना, घरका दूध-घी होते हुअे तथा किसीका कर्ज न होते हुअे भी सूखी रोटी खाना और घीको बेच देना, सर्दी लगती हो और नया कम्बल पासमें हो तो भी अुसको मैला न करनेके विचारसे जाड़ा ही सहन कर लेना — अिस तरह वह लोभवश होकर अपनी हरअेक अिन्द्रियको सहनशील बनाता है। मुझे कअी बार लगता है कि अैसी सहन-

सीलता होनेकी अपेक्षा दुःख बरदाश्त करनेकी शक्ति कुछ कम होना ज्यादा अच्छा है। यदि हमारी तितिक्षा-शक्ति कुछ अंशमें कम रहती, तो टीनकी दीवारों और छप्परवाले मकानमें हलवाओीकी दूकान चलाने जैसा आरोग्य-नाशक, सौन्दर्य-नाशक और देशके कारीगरोंके अुद्योगका नाशक दृश्य कभी दिखाओी न देता। आठ-दस हजार या अुससे भी अधिक कीमतके मकानोंमें कुछ किफायत करनेकी दृष्टिसे दिखनेमें भद्दे, गर्मीमें भट्टीकी तरह तपनेवाले और सर्दीमें बर्फके समान ठंडे हो जानेवाले टीनके परदे, छप्पर या छज्जे मेरी नजरमें पड़ते हैं, तब मुझे मनमें क्लेश होता है। अुसमें रहनेवालोंकी तितिक्षा-शक्तिके लिअे मुझमें प्रशंसा या प्रसन्नताका भाव नहीं पैदा होता।

किसानको गर्मी, सर्दी और वर्षा तीनों ऋतुओंमें खेत-खलिहानमें घंटों खुलेमें काम करना पड़ता है। अिस कारण, अुसे सर्दी-गर्मी-बरसात और भूख-प्यास-जागरण सहने पड़ते हैं। यह सच है कि अुसे भी प्राप्तिकी आशा रहती है। फिर भी, काम पूरा होने पर खानेके लिअे पास होते हुअे भूखों सोनेका और ओढ़नेको पास होते हुअे भी कड़ाकेकी सर्दीमें खुले बदन सोनेका यदि वह आग्रह रखे, तो कहना होगा कि वह लोभवश होकर यह सब दुःख सहता है।

जिस प्रकार लोभसे बढ़ाओी हुओी तितिक्षा कोओी बड़ा गुण नहीं है, वैसे ही जड़ता या आलस्यसे बढ़ाओी हुओी तितिक्षा भी कोओी सद्गुण नहीं है।

दरवाजेमें अेक छोटीसी दरार है। अुसमें से ठंडे पवनकी लहर हमेशा आया करती है, और जब आती है तब छातीमें तीरकी तरह चुभती मालूम होती है। अुस दरारको बन्द करना आवश्यक है। शिशिरका आरंभ है। गलेको ठंडी हवा लग गओी है। शाम या सवेरे हवा लगती है, तब खासी शुरू हो जाती है, और रातभर परेशान करती है। गले पर अेक कपड़ा लपेट रखनेकी आवश्यकता है। बरसातमें अेक खिडकीमें से पानीकी बौछार घरमें आती है, और अुससे घरकी हवामें नमी रहती है। अेक छज्जेकी जरूरत है। घरमें अेक मनुष्य दमेसे बीमार रहता है; आधी रातको या बड़े सबेरे

अुसे शौचादिके लिअे अुठना पड़ता है। सारी रात तो वह खुदको बचा रखता है। किन्तु दो-चार मिनिटके लिअे अुसको खुलेमें जाना पड़ता है और ठंडी हवा या बरसात सहन करनी पड़ती है। अुसके हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, अथवा पीठ या छातीको हवा लग जाती है, और अेक क्षणमें अुसका श्वास रुध जाता है। फिर सारा घर अुसके पीछे परेशान होता है। मित्र आकर अुसके अूपर दया बताते हैं। लेकिन अुसको रातके समय बाहर न निकलना पड़े, अैसी अुसके बिछौनेके पास ही पानी-पेशाबकी व्यवस्था चाहिये — अिस जरूरतको न वह स्वयं समझता है, न अुसके सगे-संबंधी समझते हैं। दरवाजेकी दरारको बन्द करना, गलेको कपड़ा लपेटना, झोंपड़ी-जैसे मकानको छज्जेसे सुशोभित बनाना, बिछौनेके पास बर्तन रखना या मोरीघर बनाना — ये सब सुकुमारताके लक्षण माने जाते हैं। अैसा करनेवाला बड़ा नाजुक है, यह समझा जाता है। और अैसा करनेमें आलस्य भी आता है। अिन बातोंमें खर्चका सवाल शायद ही अुठता है। परन्तु यह देखनेमें आता है कि अिन कठिनाअियोंको सहन कर लेना कुलधर्म-सा माना जाता है। अिसलिअे अैसी अड़चनोंको सहन करना सद्गुण माना जाता है। यह तितिक्षा तो है, परन्तु तारीफके लायक नहीं।

अिस प्रकारकी अयोग्य तितिक्षाके कारण सहन करनेवालेको जो असुविधायें अुठानी पड़ती हैं, अुनका हम विचार छोड़ दें। परन्तु अिसका असर अुसके मानसिक विकास पर कैसा होता है, अुसका हम थोड़ा विचार करें। बार बार यह देखा गया है कि अिस तरहकी असुविधायें सहन करनेका जिसका स्वभाव बन जाता है, और अैसा करने-करानेमें ही अेक प्रकारकी शिक्षा है, अिस तरहकी जिसकी मान्यता हो जाती है, वह दूसरोंके कष्टोंके लिअे विशेष सहानुभूति अनुभव नहीं कर सकता। जो मनुष्य ठंड लगने पर भी अपने पासके बिछौने और कंबलका अुपयोग नहीं करता, और अुनका अुपयोग न करनेमें ही विशेषता मानकर बिना कुछ ओढ़े-बिछाये सोनेकी आदत बना लेता है, अुसको यह खयाल ही नहीं आता कि दूसरेके लिअे सोनेकी कैसी व्यवस्था रखनी चाहिये। वह यह भी नहीं समझ

सकता कि जिनके पास बिछाने और ओढ़नेका पूरा साधन नहीं है, अुनको कष्ट होता होगा।

दया-धर्म और अहिंसा-धर्मकी महिमा गानेवाले हमारे हिन्दू धर्ममें हरिजनादि दलित और दरिद्र जातियों अेव मूक प्राणियोंके प्रति व्यवहारमें जो अत्यंत बेपरवाही नजर आती है, अुसका कारण मेरी समझमें यह नहीं कि सवर्णोंमें स्वाभाविक निष्ठुरता रही है या अधिक स्वार्थवृत्ति भरी है, मगर बहुतोंके लिअे तो अिसका कारण केवल यही होता है कि दुःखोंकी कल्पना करनेके विषयमें वे बहुत जड़ होते हैं। यह जडता स्वयं अपनी जीवनचर्यामें भी वे दिखाते हैं। अंग्रेज लोगोंमें तितिक्षा कम है, अैसा अुनके परिचय या अितिहाससे पाया नहीं जाता। परन्तु असुविधाओंको दूर करनेके विषयमें वे अुदासीन नहीं रहते। अिस कारण यदि कष्ट देनेका अिरादा न हो, तो वे दूसरोंके शारीरिक कष्टोंके प्रति हमसे अधिक सहृदयता बताते हैं। जेलमें मेरा दोनों दफे यह अनुभव रहा कि खुलेमें नहानेके कारण हवा लग जानेसे मुझे खांसी हुआ करती थी, अतः नहानेके लिअे मुझे थोडी सी ओटकी आवश्यकता थी। स्नान-घाट पर अेक टट्टा बांध देनेमें यह हो सकता था। परन्तु जेलके भारतीय डॉक्टरोंके मनमें यह न आ सका कि अैसा कर देना आवश्यक है। लेकिन अंग्रेज सुपरिण्टेण्डेण्टके मनमें यह बात बैठ गअी और अुसने यह व्यवस्था कर दी। अिसी तरह जब रातको मुझे दमा अुठा करता था और बैठा रहना पडता था, तब पीठके लिअे किसी सहारेकी आवश्यकता मालूम होती थी। लोहेकी चारपाअीके साथ लगा हुआ पतरा या भीत अधिक ठंडी होनेके कारण काम नहीं दे सकती थी। अेक मोटेसे लकडीके तख्तेकी जरूरत थी। परन्तु डाक्टरोंकी समझमें यह बात भी नहीं आती थी। अिसमें भी सुपरिण्टेण्डेण्टने समझदारी बताअी। अिसकी वजह यह नहीं थी कि डाक्टर कम सहृदय थे, या अैसा करनेका अुन्हें अधिकार नहीं था। परन्तु अुनको स्वानुभावसे मालूम था कि जेलके बाहर भी हम लोग अैसी असुविधाअें सहन कर लेते हैं; और अैसी ... को वे स्वयं योग्य तितिक्षा समझते थे। अिसलिअे अिन

असुविधाओंको सहन करनेमें वे कोओी विशेष कष्ट मान ही न स
थे। लेकिन ये मिसालें छोड़ दें, क्योंकि आखिरमें तो अिनमें अ
कारियोंसे संबंध था, और सो भी जेलमें। लेकिन बाहरी समा
तो रिश्तेदार और मित्र भी अिसी प्रकारकी अयोग्य तितिक्षाका आ
रखनेवाले होते हैं। अिसलिओ जिनके प्रति अुनका प्रेम रहता
अुनके साथ भी वे अिसी प्रकारका व्यवहार कर डालते हैं।

कार्यालयों और दुकानोंमें जो क्लर्क और अन्य कर्मचारी
काम करते हैं, वे कितने घण्टे तक किस तरह बैठते हैं, खड़े र
हैं, अुनके लिखने वगैराके लिओ क्या व्यवस्था है, अुनको वायु अ
प्रकाश मिलता है या नहीं, अुनके पास मेज है या नहीं, है तो व
बराबर मापकी है या नहीं, अिन बातोंमें मालिक बेपरवाह होता है
वह स्वयं तो अिस तरफ ध्यान देता ही नहीं, और यदि कर्मचा
अिन सुविधाओंके विषयमें लापरवाह न हों तो वह अुनका दोष मा
जाता है। विद्यार्थियोंके विषयमें भी हम अिस तरह बेपरवाह रह
थे, पर अुनकी ओर अब कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। परं
सामान्यतः तो यही अुत्तर दिया जाता है — "हम तो आज तक अि
साधनोंके बिना ही काम करते आये; हमारा काम कभी अिनके बिन
रुका नहीं।" यह अुत्तर गलत भी नहीं। पर प्रश्न तो यह है कि
अिस तरह काम करते आना कितना अुचित था?

'स्विस फेमिली रॉबिन्सन' का अुपन्यास कओी पाठकोंने पढ़ा
होगा। अुसमें अेक युरोपीय परिवारके अेक द्वीपमें फस जानेका वर्णन
है। वह वहां पर अपने परिश्रमसे युरोपीय ढंगकी सुविधायें धीरे-धीरे
किस तरह अुत्पन्न करता है जिसका सुन्दर वर्णन है। चम्मच और
कुरसीके बिना भी अुसका काम नहीं चलता था। जंगलमें भी अुनके
बिना काम चला लेनेमें अुसने संतोष न माना। सीपसे चम्मच और
पत्थर या मिट्टीकी कुर्सी बनानेका परिश्रम करने पर ही अुसे संतोष
होता है। मुझे कओी बार कल्पना होती है कि अिसकी जगह कोओी
भारतीय अुपन्यासकार 'रविसेन' नामके हिन्दू परिवारका चित्र खींचे,
तो अुसमें जंगलमें मंगल करनेकी अपेक्षा बड़े महलमें रहते हुओे भी

वह परिवार किस प्रकारकी असुविधायें भोगता रहता था, जिसीका रसमय वर्णन करनेमें अच्छी सफलता प्राप्त कर सकेगा।

११
सात्त्विक तितिक्षा

पिछले प्रकरणमें तितिक्षाके अयोग्य प्रकारोंकी कल्पना दी है। अब यहां अिस बातका विचार करेंगे कि असुके योग्य या सात्त्विक प्रकार क्या है। कोअी अैसा न समझे कि जिस गुणका महत्त्व बतलाते हुअे गीताने यहां तक कहा है कि अुसके होनेसे मनुष्य मोक्ष-पदके योग्य बनता है, अुसे मैं तुच्छ समझता हूं।

मनुष्य चाहे जितना धनाढ्य और समृद्ध हो, और अपने शारीरिक स्वास्थ्यके लिअे वह चाहे जितना प्रबंध करे, तो भी ऋतुओंके फेर-फार और परिस्थितिके भेदसे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदिके सुख-दुःख और अुनके फलस्वरूप जरा, व्याधि आदिके कष्ट प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें आते ही रहते हैं। हुमायूं वगैरा बड़े बड़े बादशाहोंके जीवनमें कभी कभी आफतें आती हुअी, और अुनके कारण अुन्हें किस प्रकार सर्दी-गरमी, भूख-प्यास, आकस्मिक विपत्तियों आदिसे परेशान होना पड़ा, यह हम सबने अितिहासमें पढ़ा है, अनेक बार देखा भी है और हम सबको अुसका थोड़ा-बहुत अनुभव भी होगा। यह तो हम जानते ही हैं कि बादशाह सप्तम अेडवर्डकी मृत्यु सर्दी लग जानेसे हुअी थी, और पंचम ज्यॉर्जको जुकाम होनेके समाचार तो हमने कभी दफे पढ़े हैं। हम यह नहीं कह सकते कि अुन्हें सर्दीसे बचनेके साधनोंकी कोअी कमी थी, अिस कारण वे बीमार पड़े। परंतु जीवनमें अैसे प्रसंग आते ही रहते हैं, और कालके अधीन रहनेवाला कोअी भी प्राणी अिनसे सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता। अिसने यह सृष्टिका

नियम ही है, अैसा हमें ठीक ठीक समझ लेना चाहिये और अैसे प्रसंग हमारे जीवनमें भी कभी न कभी आना संभव है यह मान लेना चाहिये। यह जरूरी है कि अिन विपत्तियोंके खयालसे और अिनके आ जाने पर हम अधीर न बनें, कर्तव्यसे हटनेका विचार न करें, अीश्वरकी कृपा हम पर नहीं है, अथवा हम पर अुसकी अवकृपा हुअी है, यह न मानें अथवा यह न सोचें कि अीश्वर हमारे साथ अन्याय करता है या दूसरोंके साथ पक्षपात करता है। दुःख आने पर जो मनुष्य अिस प्रकारका धैर्य धारण नहीं कर सकता, अथवा दुःखके भयसे अपना कर्तव्य करनेको तैयार नहीं होता, अुसमें तितिक्षाका अभाव है और यह अभाव जीवनके अुत्कर्षमें बाधक है।

फिर अैसे कष्टोंके आ जाने पर अुनको दूर करनेके लिअे कभी मनुष्य जिस प्रकारके अुद्यम-अुपाय करते हैं, अुनमें विवेक, न्याय और धर्म नहीं रहता। मैं भूखा हूं, मेरी पत्नी भी भूखी है। दोनोंके लिअे पर्याप्त अन्न घरमें नहीं है। जो कुछ थोड़ा-सा अन्न पड़ा है, मैं खा लेता हूं, और पत्नीको अपने भाग्यको दोष देनेका अुपदेश करता हूं। मैं और मेरा अेक साथी यात्रा कर रहे हैं। मेरे साथीने अपने साथ ओढ़नेके लिअे अेक कम्बल रख लिया है। मैं ठहरा आलसी। जहां पहुंचूंगा वहां कुछ-न-कुछ तो मिल ही जायगा, अिस विचारसे साथमें कुछ नहीं रखता। अब अेक जगह पहुंचते हैं। वहां मुझे कम्बल नहीं मिल पाता है। तब मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं सर्दी सहन कर लूं। लेकिन आलस्यके साथ स्वार्थ न हो अैसा कम ही देखनेमें आता है। अपने मित्रकी अनुपस्थितिमें मैं अुसका कम्बल ओढ़कर सो जाता हूं। वह सोनेके लिअे आता है, तो मुझे अपना कम्बल ओढ़े सोता हुआ देखता है। फिर वह बेचारा खुद सर्दीमें ठिठुरता हुआ पड़ रहता है। मेरा तितिक्षाका यह अभाव दोषरूप है। और भी अेक अुदाहरण लीजिये। अत्यंत गर्मी पड़ रही है। मैं कमरेमें बैठा हूं। दरवाजे पर खसकी टट्टी लगा रखी है, और सिर पर अेक पंखा टगा हुआ है। अेक लड़का बाहर गर्म लूमें बैठा हुआ टट्टी पर थोड़ी-थोड़ी देरमें पानी छिड़कता है और पंखा चला रहा

है। अुनके भी तो सर्दी-गर्मीका अनुभव करनेवाली ज्ञानेंद्रियां हैं, जिन बातका मैं कभी खयाल ही नहीं करता। गर्मीसे अुन्हें नींदका झोका आ जाता है। टट्टी गुम जाती है और पसा बद हो जाता है। मुझे गर्मी मालूम होती है। मैं लड़के पर गुस्सा होता हूं। कष्ट-निवारणका यह अुपाय दोषरूप है। मेरा यह कार्य मेरी अतितिक्षाका परिणाम है। हममें अितनी तितिक्षा तो अवश्य ही होनी चाहिये कि जिस प्रकार हम अपना कष्ट-निवारण न किया करें।

अतितिक्षाका अेक और भी अुदाहरण देता हूं। दूध और फल अपने स्वास्थ्यके लिअे मैं आवश्यक समझता हूं। मैं अेक अैसी जगह अतिथि होकर जाता हूं, जहां अिन पदार्थोंका मिलना असंभव तो नहीं पर महाकठिन है। तीन मीलके अंदर दूध नहीं मिलता; फलोंके लिअे २५ मील दूरके शहरमें ही आदमी भेजा जाय तब काम बन सकता है। मेरा यजमान भावुक होने पर भी निर्धन मनुष्य है, पर स्वाभिमानी है। यदि मैं अिस तरहका भाव दिखाअूं कि बिना दूध और फलके मुझे अत्यंत असुविधा होगी, तो वह अपना यह धर्म मान लेगा कि अुसे हर तरहका प्रयत्न और खर्च करके मेहमानके लिअे दूध और फल मगाने ही चाहिये। अैसे समय पर मेरा यह फर्ज है कि मैं दूध और फलकी गरज न रखूं — न बताअूं, जो कुछ वहां मिल जाय अुस पर ही अपना गुजारा कर लू, और स्वास्थ्यकी हानि पहुंचाना भी मंजूर कर लूं। यह तितिक्षा आवश्यक है। अमुक प्रकारके कर्तव्य स्वीकार किये जायं, तो अिस-अिस प्रकारकी असुविधाअें सहन करनी होंगी, अिस विचारसे यदि हम अुन कर्तव्य-कर्मोंसे दूर भागते हैं तो वह भी अतितिक्षा है। कर्तव्य-कर्मके समय जो व्यक्ति अिस प्रकारकी असुविधाओंका खयाल किया करता है, वह मोक्ष — श्रेय — पानेके योग्य नहीं हो सकता, गीताका यह बोध बिलकुल ठीक है।

लेकिन अूपरके दृष्टान्तोंसे कोअी अैसा मान ले कि आधा पेट भोजन करके या सर्दीमें बिना कंबलके ही सोकर, अथवा गर्मीमें

लूमें बैठकर और दूध व फलोंका परित्याग करके ही जीवननिर्वाह करनेकी आदत डालनी चाहिये, तो मेरी नम्र सम्मतिमें वह भूल है। जहां तक जीवन-धारण करनेका हमारे लिअे कोओ प्रयोजन है, वहा तक पर्याप्त अन्नादि प्राप्त करना स्वास्थ्यके लिअे आवश्यक और अुपयुक्त अन्न, वस्त्र, गृह आदि प्राप्त करना और सबको वे प्राप्त हो जायं अैसा प्रयत्न करना हमारा धर्म है। जिस गांवमें दूध-फलादि प्राप्त नहीं होते, वहांसे भाग जाना भी धर्म नहीं। दो-चार रोज ही ठहरना हो, तो अुनके बिना चला न सकना भी धर्म नहीं कहा जायगा। लेकिन रोज वहीं रहना हो तो अुस गांवमें दूध-फल पैदा करनेका — और अपने ही लिअे नहीं, बल्कि सबके लिअे पैदा करनेका — प्रबंध न करके तितिक्षाका सबक सिखाना भी धर्म नहीं है। किसी अुदात्त ध्येयको सिद्ध करनेके लिअे अुस पर हम अिस तरह आसक्त हो जायं कि 'रूखा सूखा रामका टुकड़ा, चिकना और सलोना क्या' वाली वृत्ति हमारी बन जाय, तो यह तितिक्षा आवश्यक है। लेकिन जब जनताके रूखे-सूखे टुकड़े पर घी और नमक किस तरह लगाया जा सकता है, अिस प्रश्नका हल करना ही कर्तव्य हो जाता है, तब तितिक्षाका विचार करना कर्तव्य नहीं माना जा सकता।

तितिक्षा शौर्य वृत्तिका अेक प्रकार है। शूर सिपाही शत्रुके बाणोंसे विद्ध होने तथा युद्धके अन्य कष्टोंकी कल्पनासे कांप नहीं अुठता, किन्तु अुनका सामना करनेमें ही अपनी शोभा समझता है। लेकिन अिसका अर्थ यह नहीं कि वह युद्धके कष्टोंसे बचनेका कोओ प्रबन्ध नहीं करता। वह ढाल रखता है, जिरहबख्तर पहनता है, और और सरजाम भी रखता है।

पेशवाओी जमानेके अेक मराठा सरदारकी बात प्रसिद्ध है। वह नाओीसे हजामत बनवा रहा था। नाओीकी लापरवाहीसे सरदारको मुस्तरा लग गया। अिसमें सरदारने नाओीको डांटा। नाओी बोलनेमें पीछे रहनेवाला न था। अुसने ताना मारा, "अुस्तरेके जिलनेसे भागमें आप घबराते हैं, तो लड़ाओीमें तलवारके घाव कैसे सहेंगे?"

सरदार तुरन्त खड़ा हो गया और अुसने नाथीके पांवको अपने पांवसे दबाकर अेक भाला अपने पांवमें और दूसरा भाला नाथीके पांवमें आरपार भोंक दिया! नाथी तो चीखने-चिल्लाने लगा। सरदारने अुसी हालतमें शांत खड़े रहकर कहा, "क्यों? मेरी सहनशक्ति तुम्हें देखनी थी न? लेकिन लड़ाअीमें तलवारके घाव सहन करने पड़ेंगे, जिसके लिअे बिना कारण अैसे अनोखे घाव क्यों सहन करना चाहिये?" नाथी क्षमा मांगकर अपने पांवसे भाला खींचनेके लिअे सरदारसे आजिजी करने लगा। तब सरदारने अपने और नाथीके पांवसे भाला निकाला।

मैं यह तो नहीं कहूंगा कि तितिक्षा केवल मनोबलका ही परिणाम है और अुसके लिअे थोड़ी आदत डालनेवाली तालीमकी बिलकुल जरूरत नहीं। लेकिन अगर यह आदतकी ही तालीम हो, तो वह जड़ तितिक्षा हो जाती है।

१२

त्यागका आदर्श

१

निम्नलिखित आशयका अेक पत्र मेरे पास आया है:—

"जगत्‌में मनुष्यकी जो औसत आमदनी हो, अुससे अधिक खर्च करना मैं अेक तरहका गुनाह समझता हूं। अिस मुख्य तत्त्वका अनुसरण करके मैंने अपने आहारके संबंधमें नीचे लिखे कुछ नियम बना रखे हैं:—

(१) किसी भी प्रकारका पकवान न खाना; (२) किसी भी प्रकारकी साग-भाजी न खाना; (३) दूध, दही, छाछ, घी और तेल न खाना; (४) पिछले आठ माससे, ग्रामोद्योगके अन्नोंके अतिरिक्त अन्य अन्न न खाना; (५) शक्कर और गुड़ न खाना।

"अिन नियमोंको मैं जेलसे छूटा, तभीसे — करीब दो सालसे — पाल रहा हूं। पर अिन्हें अभी मैंने स्थायी व्रतोंके रूपमें ग्रहण नहीं किया है। अैसा करनेके पहले मैं आपकी राय ले लेना चाहता हूं। अभी हालमें मैं चावल, जुवार, बाजरा या गेंहूका आटा, मिर्च, खटाओ और नमक, अितनी ही चीजें खाता हूं। नमक छोड़ दूं या नहीं, अिस विचारमें पड़ा हुआ हूं। अेक ही समयके भोजनमें भात और रोटी अेक साथ नहीं लेता। फल खा सकता हूं, पर यह नहीं कि हमेशा खाता हूं; प्याज खाता हूं क्योंकि यह सबको सुलभ है, सस्ता है और पौष्टिक भी है। पकवान, शक्कर, भैंसका दूध और ग्रामोद्योगी अन्नके अलावा दूसरे अन्न, अितनी चीजें तो स्थायी रूपसे छोड़ दी है, अैसा समझिये। लेकिन दूसरी चीजोंके बारेमें आप जैसी सूचना देंगे, वैसा अुनमें फेरफार कर लूंगा।

"और भी कुछ नियम मैंने ले रखे हैं, वे ये हैं: —

(१) नाटक, सिनेमा आदि राग-रंगसे दूर रहना; (२) अुन मंदिरोंमें दर्शन करने न जाना जहां हरिजन न जा सकते हों; (३) जो धार्मिक समझी जानेवाली विधियां केवल रूढ़ि पर ही अवलंबित हों, अुनका बहिष्कार करना, (४) राष्ट्रहित-विरोधी कामोंमें सम्मिलित न होना।

"आजकल मैं बढ़ओीका काम सीख रहा हूं। थोड़े दिन बाद अिस कामकी परीक्षा होगी। अुसके बाद किसी गांवमें बैठ जानेका विचार है। मुझे अंग्रेजी नहीं आती। मैं महाराष्ट्री ब्राह्मण हूं।"

अिन सज्जनको मैंने स्वतंत्र जवाब दे दिया है, और मेरी सलाहके अनुसार अपने आहारमें अिन्होंने फेरफार भी किया है। पर अिस प्रकारके कितने ही पत्र आते हैं। अिसलिअे अुनमें पेश की हुओ विचार-पद्धतिकी चर्चा मैं यहां जरा विस्तारसे करना चाहता हूं।

अेक जमाना यह था, जब साधारणतया लोग श्रीमंत होनेका ही आदर्श अपने सामने रखते थे। दुनियांके जितना पैसा हमारे पास भी हो, यह अुनकी कामना रहती थी। पैसे पर ही दृष्टि रखकर लक्ष्मीकी आराधना की जाती थी। गरीबको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। यह अेक अनिष्ट वस्तु मानी जाती थी। आसपासके धनवान स्पृहणीय मालूम होते थे, और मनोरथ लोगोंका यह रहता था कि अैसी शक्ति प्राप्त हो जाय, जिससे कि हम भी अुनकी पंक्तिमें बैठ सकें। पर आज तो अुस भावनाका प्रवाह अुलटी दिशामें बह रहा है। आज पैसा आकर्षक भले ही मालूम होता हो, पर आदरणीय, पूजनीय मालूम नहीं होता। गरीबी भले ही कष्टप्रद लगती हो, पर अुसके प्रति अब आदर या सद्भाव मालूम होता है। सेवाभावी, आदर्शवादी और महत्त्वाकांक्षी युवक गरीबोंके साथ अधिकाधिक अेक-रूप होनेकी अिच्छा कर रहे हैं। धन प्राप्त करनेके लिअे जो जो साहसके काम किसी समय किये जाते थे, अुनसे भी अधिक कठिन साहसके काम करनेका — अपना शरीर रोगी और समयसे पहले ही वृद्धावस्थाका शिकार बन जाय, अपने सगे-संबंधी भी सदा कष्ट भोगते रहें, अैसे अैसे जोखिम अुठानेका — अुत्साह आज युवकोंमें पाया जाता है। गांधीजीने जीवनके आदर्शोंके संबंधमें समाजके दृष्टिबिंदुमें यह कितनी भारी क्रान्ति कर दी है! अभी सावलीमें जैसा कि अुन्होंने कहा था, किसी सेवकको अगर ५० या ७५ रुपया मासिक लेना पडता है, तो वह अिस अभिमानसे नहीं लेता कि वह खुद अुतने रुपयेके लिअे योग्य है, अुसका अुतने रुपये पर हक है, या अितने रुपये लेकर वह कोअी त्याग करता है; वह तो जितना रुपया दुःख मानकर लेता है। अिससे कममें अुसका काम नहीं चल सकता, यह बात अुसे शूलकी तरह चुभती रहती है। सरकारी या धंधेवाले सेवककी मनोवृत्ति अिससे अुलटी ही होती है। जिसे ५० मिलते हैं अुसे अगर ७५ नहीं दिये जाते तो वह अैसा समझता है कि अुसके साथ अन्याय किया जा रहा है। और ७५ वाला अपनेको १०० का हकदार समझता है।

अिस तरह अुक्त सज्जनके त्यागके पीछे जो अेक अुदात्त भावना है, वह सराहनीय है। दरिद्र जनताके प्रति अपनी करुणावृत्ति किसी भी प्रत्यक्ष रीतिसे दिखानेकी अुत्कण्ठा तो सदा ही आदरणीय मालूम होती है। तो भी मुझे लगता है कि अिस त्यागके पीछे थोड़ी गलत विचार-पद्धति भी है।

धनवान बननेका आदर्श जिस प्रकार गलत है, अुसी प्रकार अविवेकसे दारिद्रयको छातीसे लगाये रखनेका आदर्श भी गलत है। यह सही है कि खुद धनवान बनने या कुटुंबियोंकी सुख-समृद्धिके लिअे दिन-रात चिन्तामें पड़े रहनेका हमारा ध्येय नहीं है, पर अिसके साथ ही यह याद रखना चाहिये कि समाजको दारिद्रयमें सड़ाते रहनेका भी हमारा ध्येय नहीं। हमारा ध्येय अुस दारुण दारिद्रयको दूर करनेका है, जो आज दुनियाको पीस रहा है, यानी हमारा ध्येय दारिद्रयको पूजा करने या अुसे टिकाये रखनेका नहीं, किन्तु अुसे हटानेका है। दारिद्रयके टिके रहने या बढ़नेमें हमारा भोगमय जीवन जिस अंश तक कारणरूप हो, अुतने अंशका त्याग करना आवश्यक ही समझा जाना चाहिये; धनवानोंका धन पर अधिकार जितने अंशमें अिसका कारण है, अुतने अंशमें अुनसे अुसका त्याग कराना भी आवश्यक है। जमीन या आमदनीका अन्यायपूर्ण विभाजन जितने अंशमें अिसके लिअे कारण-भूत है, अुतने अंशमें वह भी जरूर सुधारना पड़ेगा; अुत्पादन तथा व्यापारकी पद्धति जितने अंश तक विषमताका पोषण करती है, अुतने अंशमें वह भी बदलनी पड़ेगी, पर अिसके साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिये कि जितने अंशमें अुत्पादनकी कमी, अज्ञान, आलस्य, निरुद्यम, व्यसन, अतिभोग, अुड़ाअुपन, खर्चीली रूढ़ियां, अप्रामाणिकता, अनीति, परतंत्रता, साधनों या बुद्धिकी कमी आदि दारिद्रयके कारण हैं, अुतने अंशमें अुन्हें भी दूर करना है।

अर्थात्, जिस पैमाने पर आज दरिद्र लोग जिन्दगी बसर करते हैं, अुसकी अथवा दुनियाकी औसत आमदनीके आकड़ोंकी मर्यादा निश्चित

करके* अुतनेसे जीवनका जो पैमाना निश्चित किया जा सके वही अुचित पैमाना है, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। दरिद्रोंका पैमाना अेक हीन पैमाना है, अिसीलिअे तो हमें अुन पर दया आती है। अिसलिअे अिस पैमानेको जीवनका सच्चा पैमाना नहीं समझना चाहिये। हम यह अिच्छा करें कि अिस पैमाने पर कोअी न रहे, किसीको न रहना पड़े। जो हम दूसरोंके लिअे चाहें, अुसीकी अिच्छा हमें अपने लिअे और अपने कुटुम्बियोंके लिअे भी करनी चाहिये। नहीं तो, खुद हमारे हाथोंसे हीन पैमाना कायम करने या अुसे अधिक हीन बनानेका भी परिणाम आ सकता है।

अिसलिअे यह नहीं भूलना चाहिये कि दरिद्रोंके साथ अेकरूप होनेके लिअे हमें खुद दारिद्र्य-पीड़ित नहीं बनना है। साथ ही, यह भी सत्य है कि स्वयं लक्ष्मीपति बनकर या रहकर दरिद्रोंके साथ अेकरूप होनेकी बात नहीं की जा सकती। अिसलिअे अुचित मार्ग रहा अब बीचका और विवेकका। दोनों रुग्ण दशाओंको छोड़कर हमें स्वतंत्र, नीरोगी जीवनका नियम खोजना चाहिये। हम यह अिच्छा करें कि जगत्में हरअेक मनुष्य दीर्घायु भोगे, जब तक जीये शरीरसे नीरोग और बलवान रहे, परिश्रम कर सकने लायक शक्ति अुसके शरीरमें हो, यदि कामवासना हो तो गृहस्थ बनकर वह अैसी संतानका पिता और

* औसत आमदनीके आकड़ोंके आधार पर अक्सर कल्पनाअें करनेमें भूल होती है। अेक सामान्य कल्पना करनेके लिअे ये आंकड़े ठीक होते हैं। पर अधिकांश मनुष्य अिसी पैमाने पर जीते हैं, यह न मानें। यह तो गणित है, और बहुत ही स्थूल गणित है। शास्त्रार्थ करनेमें ही अिसका अुपयोग होता है, तब तक तो वह निर्दोष है। लेकिन जब अिनके आधार पर जीवनके नियम निश्चित करनेका प्रयत्न होता है, तब भारी भूल हो होती है। हिन्दुस्तानमें मनुष्यकी औसत अुम्र २३ बरसकी मानी जाती है। अिसलिअे क्या हम २३ बरससे अधिक न जीनेका आदर्श बना सकते हैं? जिस गणितका हमें अिस तरह अुपयोग नहीं करना चाहिये।

पालक बने, जो मानव-जातिके लिअे भूषणरूप कही जा सके, और बुद्धिमान बनकर समाजका अेक आवश्यक और अुपयोगी अंग सिद्ध हो सके।

अिस तरहके जीवनके लिअे कितना और किस प्रकारका आहार चाहिये, कैसा और कितना बडा मकान चाहिये, कितनी और कैसी शिक्षा चाहिये, कितनी अन्य सुख-सुविधाअें चाहियें, अिस सबका अेक बिलकुल निश्चित पैमाना न भी हो, तो भी स्थूल और कामचलाअू होना अशक्य नही। अर्थात् यह पैमाना केवल काल्पनिक न हो, बल्कि हमारे विचारके अनुसार यदि समाज चले तो थोडे वर्षोंमें अुस पर अमल हो सके अैसा व्यावहारिक होना चाहिये। मानव-जीवनके आवश्यक धारण-पोषणका यह हमारा कम-से-कम पैमाना समझा जाय। अिस सम्बन्धमें भले ही थोड़ासा मतभेद हो। अुदाहरणार्थ, गांधीजीने आजके बाजार-भाव पर गांवोंके अैसे कुटुम्बके लिअे, जिसमें दो जन काम करनेवाले हो और तीन जन आश्रित, तीस रुपये मासिकका पैमाना बतलाया है। संभव है कि किसीको यह बहुत नीचा मालूम हो, किसीको यह विचारसे भारी नही, पर अव्यावहारिक-सा लगे। हम भले ही कोअी दूसरा पैमाना ठीक और व्यावहारिक मानें पर हम जो भी पैमाना निश्चित करें, अुससे अुतरता हुआ पैमाना अपने खुदके लिअे भी नही रखें। खास कर जिसे शरीरके प्रति तुरन्त ही आत्महत्या कर डालने जैसा वैराग्य नही पैदा हुआ है, जिसके जीवनमें कुछ भी रस बाकी रहा है, जो गृहस्थाश्रमी है, या जिसने दूसरोंका अुत्तरदायित्व ले रखा है अुसे अपने धारण-पोषणके नियम अैसे नहीं बनाने चाहियें, जो अिन हेतुओंके सिद्ध होनेमें विघ्नरूप हो जायं।

हरिजनसेवक, २५-४-'३६

२

दरिद्रोंके साथ अेकरूप होनेका दृष्टिबिन्दु क्या है, अिस विषयमें साधारणतया मैं अपने गत लेखमें कह चुका हूं। अुसमें किफायतशारी, सादगी, अुद्योग आदिके लिअे अवश्य स्थान है। पर अेक विचित्र

प्रकारकी विचारसरणीके परिणामस्वरूप हमें अेक अैसी टेव पड़ गयी है कि जिससे मितव्ययिता तथा स्वाद-नियमका अंश हमें केवल खाने-पीनेकी चीजोंमें ही सूझता है। भोजनखर्च कम करनेकी मानो अनेकोंमें अेक प्रतिस्पर्धा ही चल रही है। अेक आश्रमने अेक वर्ष तक आठ तीन रुपये मासिकमें खानेका प्रयोग किया, और अभिमानपूर्वक अिस बातका अुल्लेख भी किया। मैंने पूछा, "अिससे आप लोगोंको क्या अनुभव हुआ?" व्यवस्थापकने कहा, "सबके शरीर बिगड़ गये, अतः हमें यह प्रयोग छोड़ देना पड़ा।" अेक सात्त्विक ग्रेज्युअेट सज्जनने दूध-घी छोड़ दिया। सुबह कभी माल अुन्होंने अध्यापकका काम किया, फिर जेल गये। बादमें अैसी आदत बना ली कि दाल अुन्हें अब पच ही नहीं सकती। नतीजा क्या हुआ? अर्श आदि अनेक बीमारियोंसे पीड़ित हो गये। मलेरियाने अलग घर दबाया। अभीसे बूढ़े जैसे दिखने लगे हैं। बुखार तो चला गया है। पर शरीरमें शक्ति ही नहीं आ रही है। खेती वगैरा मेहनतका काम खुद करनेका अुत्साह तो बहुत है, पर करे तो किस तरह? दूसरे अेक सज्जन आध्यात्मिक दृष्टिसे अिसी प्रकारके प्रयोग करके क्षय रोगके शिकार हो गये हैं।

मेरी राय है कि भोजन-खर्च १० या १२ रुपया मासिक हो तो भी महंगा नहीं। अन्य अनावश्यक खर्चोंमें काटछाट की जाय, तो भोजन खर्च कभी भारी पड़ नहीं सकता। 'यह पापी पेट ही तो सब कराता है,' अैसा दोषारोपण भले ही गरीब पेट पर किया जाय, पर आजके जमानेमें मैंने तो यह हिसाब लगाया है कि मनुष्य पेटके लिअे जितना पैसा खर्च करता है, अुससे कहीं ज्यादा वह दूसरी, और वह भी अनावश्यक चीजों पर खर्च करता है। बहुतसे गरीब आदमी भी अिसके अपवाद नहीं हैं। हमारे बुजुर्ग तो हमेशासे यह कहते आ रहे हैं कि किसी गृहस्थके यहां दो आदमी भोजन कर जायं तो वे अुसे कभी भारी मालूम नहीं पड़ेंगे; भारी तो दूसरे-दूसरे खर्च ही पड़ते हैं। यह बात आज विशेषतः सत्य है।

त्याग-वैराग्यकी, विषय-विकारोंके शमनके लिअे देह-दमनकी या दरिद्र भाअी-बहनोंके प्रति अनुकंपाकी भावनासे प्रेरित होकर खाने-

पीनेमें त्यागके भारी भारी नियम लेनेसे व्यक्ति या समाजको कोओी लाभ नहीं होता। क्योंकि अैसे नियमोंका लम्बे समय तक पालन नहीं किया जा सकता। अेक बात जरूर याद रखनेकी है। वह यह कि जब तक मनुष्यके जीवनका अंतिम ध्येय सिद्ध नहीं होता, कुछ जानने, पाने या करनेको बाकी रह जाता है, तब तक वह अपने शरीरको जान-बूझकर मरने नहीं देता। विकारवश या भावनावश होकर वह अमुक हद तक मरने या शरीरको बिगड़ने देनेका प्रयत्न जरूर कर डालता है, पर अुसके बाद अुसका साहस रुक जाता है, और फिर जीवित रहने या शरीरको फिरसे ठिकाने पर लानेका अुसे प्रयत्न करना पड़ता है। अैसा करनेके लिअे अुसे अितना मिथ्या प्रयत्न करना पड़ता है जो अुसकी स्थितिके मनुष्यके लिअे अयोग्य माना जाता है, दूसरोंका आश्रय खोजना पडता है, और सभी नियमों, व्रतों और सिद्धान्तोंको समेटकर अेक तरफ रख देनेका भी मौका आ जाता है। और यह सब करने पर भी अैसा होता है कि शरीरकी रक्षा करनेमें अुसे कामयाबी नहीं मिलती। दरिद्रोंके साथ पूरी तरहसे अेकरूप होनेमें या आध्यात्मिक साधनमें जो कमी रहती है, अुसकी अपेक्षा अिस तरहका जो परिणाम आता है अुसमें मैं अधिक आध्यात्मिक, सामाजिक अेवं आर्थिक हानि देखता हूं।

और किफायतकी दृष्टिसे भोजनखर्चमें काटछाट करना मुझे तो दरवाजे खुले रखकर मोरीको बन्द कर देने जैसी बात लगती है। आज नवयुवकोंका — जिनमें अधिकांश कार्यकर्ता और अुनकी संस्थाअें भी आ जाती हैं — तार, डाक, यात्रा, कागजपत्रोंकी छपाअी, फाअुन्टेन पेन, केमेरा, टॉर्च, सुगंधित साबुन, बालोंकी कटाअी आदिका खर्च अितना अधिक बढ़ गया है कि अगर अुसमें वे काफी काट-छाट कर डालें, तो वे और अुनके साथी तथा आश्रित बिना किसी तरहकी कठिनाअीके बड़े मजेमें खा-पी सकते हैं। पर ज्यादातर संस्थाओंमें अिस तरहके खर्च हर साल बढ़ते ही जाते हैं। मेरे पास अनेक संस्थाओंकी रिपोर्टें आती रहती हैं। शायद ही कोअी अैसी रिपोर्ट मेरे देखनेमें आती है, जिसमें दो-चार फोटो न हों। गवर्नर संस्था देखने आते हैं, तो

अुनके साथ अुपका फोटो खिंचाना जरूरी है। महात्माजी जाते हैं तो अुनकी सभाका फोटो होना ही चाहिये। मेरे जैसा कोअी साधारण मनुष्य अध्यक्ष बना हो, तब भी अुसका फोटो तो चाहिये ही। सब लोग साथमें कातने बैठें तो अुसका भी फोटो, साथ भोजन करने बैठें तो अुसका भी अेक फोटो और कुदाली-फावड़ा लेकर सफाअी करने चले तो वहांका भी फोटो। अमुक जगह हरिजन-बालकोंको नहलाया जाता है। व्यवस्थापक महाशयको लगता है कि अितनी-सी बात रिपोर्टमें लिख देनेसे काम कैसे चल सकता है — फोटो तो देना ही चाहिये! मानो हमें अैसा लगता है कि हमारे हरअेक काममें कोअी-न-कोअी अैसी अलौकिकता है कि अुसका चित्रप्रदर्शन करना भी समाजकी अेक सेवा ही है। यह यहां तक होता है कि किसी जगह जब आग लगती है तब अुधर तो कुछ तरुण पानीकी बालटी लेकर दौड़ते हैं और अिधर कुछ युवक अुनका फोटो खींचनेके लिअे केमेरा लेकर दौड़ पड़ते हैं। भले हम यह मान लें कि सार्वजनिक फंडोंकी अेक पाअी भी अैसे फोटो पर खर्च नहीं होती, तो भी यह धनका अप-व्यय तो है ही।

यही स्थिति तार, डाक, और प्रवासके खर्चकी भी है। पहले जिन खबरोंके लिअे पोस्टकार्ड पर्याप्त समझा जाता था, अुन खबरोंके लिअे अब तार दौड़ाये जाते हैं। कोअी तारसे आशीर्वाद मांगता या भेजता है, तो कोअी पुत्र जन्मकी बधाअी ही तारसे भेज देता है। कोअी कोअी तारसे लेख तक भेजते हैं, मांगते तो हैं ही। राजा-महाराजाओं और बड़े-बड़े नेताओंके लिअे यह आवश्यक या अनिवार्य हो सकता है, पर दूर कोअी अुनका अनुकरण करने लगे तो यह फिजूलखर्ची ही समझी जायगी। अिस अपव्ययको बचाकर संस्थाअें अपने भोजन-खर्चके लिअे दस रुपया मासिक भी खर्च करें या अीट-चूनेके पक्के मकानमें रहें, तो मैं मानता हूं कि वह पैसा काममें आ गया। पर खर्च कम करनेकी दृष्टिसे खाने-पीनेके जो नियम और प्रयोग आज चल रहे हैं, वे घबराहट पैदा करनेवाले हैं।

नृष्टिके आदि कालसे कोओी भी देहधारी अन्नमय कोशकी अुपासनासे सपूर्णतया मुक्त नहीं हो सका। किन्तु हम हिन्दुओंने अिसकी अुपासना वैरभावमें ही करनेका धर्म सीखा। मानो शरीर ही हमारे लिये आत्मस्वरूपमें रहनेमें विघ्नरूप है, अिस तरह वैराग्यके नाम पर, स्वराज्यके नाम पर, चित्तशुद्धिके नाम पर, ब्रह्मचर्य-रक्षाके नाम पर, अहिंसाके नाम पर हम जानकर अन्नसे सबंध रखनेवाले प्रश्नोंका ही अनुसंधान कर सकते हैं; अितनी बात है कि अिसमें दरिद्रोंके प्रति हमदर्दीका हेतु जोड़ दिया गया है। असलमें, जब हम घबरा जाते हैं और कोओी दूसरा अुपाय खोज नहीं सकते, तब अपने आहारमें कुछ फेरफार करना हमें सबसे पहले सूझता है। कोओी स्नेही मर जाता है तो हम दूध छोड़ देते हैं, बीमार पड़ता है तो चावल छोड़ देते हैं, व्यापारमें नुकसान आता है तो रविवारका व्रत करने लगते हैं, चौमासा आया कि अेकवार भोजन करनेका नियम ले लेते हैं — अैसी अैसी बातें हमें सहज ही सूझ जाती हैं। अपने स्नहीका तमाम अुत्तरदायित्व खुद अपने अूपर ले लें, व्यापारमें नुकसान आये तो मेहनत-मजदूरी करें, चौमासेमें आसामियोंका ब्याज छोड़ दें, सावनमें सोंचका और पंतमें कामका सयम करें — अिस प्रकारके व्रत शायद ही कोओी लेते हैं। अिसका कारण यह है कि हमने अन्नमय कोशको ही आत्माका शत्रु मान लिया है। पर जिस तरह केवल यह मान लेनेसे कि सामने दिखाओी देनेवाली दीवारका कोओी अस्तित्व ही नहीं, वह तो अेक मायिक आभासमात्र है, कोओी अुसके आरपार नहीं जा सकता। अुसी तरह यह मान लेनेसे कि देह और आत्मा भिन्न हैं देहसे कोओी अलग नहीं हो सकता या देहका ममत्व छूट नहीं सकता। फिर भी यह औंधा योगाभ्यास हम करते चले आ रहे हैं, और अिससे हम अपने-आप ही कष्ट भोग रहे हैं। अन्नमय कोशको तो त्यागनेमें हम सफल नहीं हुअे। पर अन्नमें वास करनेवाले ब्रह्मके साथ द्वेष करके हम अपने देशमें ढेरों अन्नके बीच आज भूखों मर रहे हैं, और हमारे भावुक तरुण सहज ही प्राप्त होनेवाले अन्नके साथ कुछ समय द्वेष करके बादमें सारी जिन्दगी अिसी चिन्तामें रहते हैं कि कमजोरीकी

हालतमें भी शरीर टिकाये रखनेके लिअे अन्न और आंतोंके बीच किस तरह मेल कराया जा सकता है। अथवा जब अिस मूलका अुन्हें पता चलता है, तब तमाम संयमोंको छोड़कर मिष्टान्न आदि खाने-खिलानेको ही साधुसेवा तथा अेक महान धर्मकार्य समझ बैठते हैं।

तब अिस सम्बन्धमें अुचित वृत्ति क्या है? अिसका विचार अगले लेखमें करूंगा।

हरिजनसेवक, २-५-'३६

३

गत दोनों लेखोंमें मैंने अपनी सामान्य विचारसरणी रखी है। अुसे व्यावहारिक रूपमें परिणत करके मैंने जिन सज्जनको जो सलाह दी, वह नीचे लिखे अनुसार है:

हमारा धर्म न पिण्ड-पोषक बननेका है, न देह दमनके मार्ग पर जानेका है। शरीरको नीरोग और परिश्रम करने योग्य रखनेके लिअे जितने और जिस प्रकारके आहारकी आवश्यकता होती है, अुतना अवश्य लेना चाहिये। जहां अपनी ही गरीबी अैसा करनेमें आड़े आती हो, वह। लाचारी समझी जाय। और अुस स्थितिमें अुसका धर्म अीमान-दारीसे दरिद्रताको दूर करना है, अुसे आदर देने योग्य मानना नहीं।

शरीरको ठीक स्थितिमें रखनेके लिअे शरीरश्रम करनेवाले मनुष्यको दाल, तेल, साग-तरकारी और कभी कभी गुड़की भी जरूरत होती है। जिस मनुष्यका शरीरश्रम थोड़ा हो, या किसी दूसरे कारणसे अुसे दाल ठीक तरहसे न पचती हो, अथवा शरीरश्रमके साथ साथ दिमागी श्रम भी करना पड़ता हो अुसके लिअे दालकी जगह या अुसके अलावा दूधकी जरूरत होती है। बढ़ती अुम्रमें, बीमारीमें, कमजोरीमें, बुढ़ापेमें और दवाके साथ भी दूध चाहिये। जिसे तेल अनुकूल न पड़ता हो, अुसके लिअे मक्खन या घी जरूरी है। वैज्ञानिक भले ही कहते हों कि भिन्न भिन्न प्रकारके तेल सब

अेक समान ही हैं, अथवा घीकी जगह तेलसे काम चलाया जा सकता है, पर हमारे अपने अनुभवकी अपेक्षा अैसे वैज्ञानिक मतोका मूल्य अधिक न समझा जाय। धनिया, जीरा, मेथी, हलदी वगैरा कुछेक मसालोकी सहायतासे दाल और कितने ही साग अधिक पचने योग्य बन जाते हैं, अैसा अनुभव है। अिसके कारण हम भले ही न बता सकें या कारण मानसिक भी हो पर अिस अनुभवको महज वैज्ञानिक मतसे कम-महत्वका नही समझना चाहिये।

दूध, घी, गुड़, आटा, चावल, धनिया, जीरा आदि वैभोगकी चीजें नहीं हैं। पर अिनके द्वारा वैभोग हो सकता है। यह आहार है, वैभोग नहीं। हलुवा, पूरी, खीर, लड्डू, बरफी आदि मिठाअियां, भजिया, सेव, दाल-मोट, दहीबड़ा और खूब तेल, मिर्च, मसाला — ये सब वैभोग हैं। चाय, काफी, बीड़ी, तम्बाखू, सुपारी आदि व्यसन हैं। वैभोगों और व्यसनोंका त्याग करनेमें कोअी हानि है ही नही। अिनका त्याग न करनेवाला मनुष्य भी, विवेकी हो तो, अुन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न कभी न करे। खानेका प्रसग ही आ जाय, तो अेकदम फिसल न पड़े। खाते हुअे अुनमें रस न ले; अुनके लिअे बहुत हाय हाय न करे। अिनमें जो चीज अपने शरीरके अनुकूल न हो, अुसे खानेके मोहमें न पड़े। अध्यात्म, आरोग्य तथा सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे भी यह स्वर्णनियम है।

अिसमें ग्रामोद्योगकी वस्तुअें ही अुपयोगमें लानेका निश्चय अुचित है। ग्रामोद्योग संघकी सूचनाओंमें दोहरी दृष्टि है — गावोंकी आर्थिक दृष्टिसे सेवा करना, और जनताको आरोग्यवर्धक आहार बतलाना।

सबको अैसा आहार नही मिल सकता, यह हमारा दुर्भाग्य है। यह दुर्भाग्य दूर करनेके लिअे हमें तनतोड़ प्रयत्न करना चाहिये। जितना हमने खाया हो, अुससे अधिक पैदा करनेके लिअे मेहनत करें। अिस मेहनतमें भले ही सारी अुम्र खप जाय, पर सामाजिक दुर्भाग्यको सामने रखकर हम पूरा आहार न लें, यह हमारे प्रयत्नका स्वरूप नही होना चाहिये। प्रयत्न तो पूरा आहार दिलाने और प्राप्त करनेका

होना चाहिये। श्री विनोबाजीने सावलीम समझाया था कि डूबते हुअे मनुष्य पर तरस खाकर हम अुसके साथ डूब जायं, यह हमारा धर्म नहीं; धर्म तो हमारा अुसे बचानेका प्रयत्न करनेका है। अिस प्रयत्नमें भले हम भी डूब जायं। अिसमें दोष नहीं। पर हमारा अुद्देश्य डूबनेका नहीं हो सकता, वह तो स्वयं तरकर तारनेका ही हो सकता है।

पर यह कैसे हो सकता है कि मेरा भाअी भूखों मरे और मैं खाअू? भूखेको खिलाकर मैं खाअूं, तो क्या वह मानव-धर्म नहीं है? मानवधर्म तो है, पर अिसकी मर्यादा हरअेक व्यक्तिके लिअे अलग-अलग है। धर्म-राज्यमें 'गृहमंत्री' का अैसा धर्म हो सकता है कि जब तक राज्यमें कोअी प्रजाजन बिना किसी अपराधके भूखा रहे, तब तक वह खुद न खाये। यही धर्म अेक गांवके पटेलका हो सकता है, पर अुसकी मर्यादा गांवके लिअे ही होगी। गृहमंत्री और पटेलके हाथमें अपनी-अपनी क्षेत्र-मर्यादामें हरेक मनुष्यके लिअे किसी-न-किसी तरह भोजन जुटानेकी व्यवस्था करनेका अधिकार है। यह अुनका कर्तव्य और अभिवचन भी समझा जायगा। देश या गांवकी भुखमरीके लिअे वे जवाबदार भी समझे जायं। यही धर्म कुटुम्ब या संस्थाके बड़े-बूढ़ोंको अपने कुटुम्बी, सम्बन्धी, साथी, पाहुने, नौकर-चाकर और घरके प्राणियोंकी मर्यादामें पालना है। अिसके अलावा आकस्मिक प्रसंगमें मनुष्यमात्रके लिअे यह धर्म है। हमें यह मालूम हो कि किसी खास आदमीको सारे दिन खाना नहीं मिला और हम अितने पास हों कि अुस व्यक्तिको भोजन पहुंचाया जा सके, तो खुद भूखे रहकर भी अुसे खिलानेका धर्म अुत्पन्न हो जाता है। कोअी मनुष्य केवल अपने गुजारे जितना ही प्राप्त कर सकता हो, तो भी यदि वह रोज अेक भूखे मनुष्य या प्राणीकी परवरिश करता है और अिस कारणसे खुद हमेशा ही अधपेट रहता है, तो अुस पुरुषको वन्दनीय और अुसके त्यागको अेक महान जीवन-यज्ञ समझना चाहिये। पर दूसरोंकी परवरिश किसे शरीर या अन्न पैदा करनेके लिअे बिना कोअी श्रम किये, अथवा वैसा धर्म टालनेके लिअे — केवल अिस ज्ञानसे कि दुनियामें कुछ

मनुष्योंको भूखों मरनेका कष्ट सहना पड रहा है — यदि कोओ अपपेट रहनेका व्रत ले ले, तो अुसका वह त्याग भूलभरा है। क्योंकि यह खातिरी तो है नहीं कि अुसका न खाया हुआ अन्न किसी अन्नार्थीके पास ही जायगा। अिन दोनों त्यागोंके पीछे कजूसपनका दोष छिपा हुआ है।

"अन्नकी निंदा न करना; अन्नको खराब न होने देना; अन्नको बढ़ाना; अन्नार्थीको वापस न लौटाना, यह व्रत हम ले लें" — अिस आशयका अुपनिषद्में अेक अुपदेश है और वह अुचित है।

हरिजनसेवक, २३-५-'३६

१३

लाचारी और आदर्श

'त्यागका आदर्श' शीर्षक मेरे लेखसे कुछ गलतफहमी पैदा हो गओ है। अुसको मैं सफाओ कर देना चाहता हूं। मेरे पास अेक मित्रका पत्र आया है, जिसका कुछ अंश मैं नीचे अुद्धृत करता हूं :—

"आपको यह मालूम है कि हमारा अुत्कल प्रांत बेहद गरीब है। औसतन् ९० फीसदी आदमियोंको यहां घी-दूध नहीं मिलता। ज्यादा-से-ज्यादा ३॥ रु० मासिक अुनका भोजनखर्च आता है। अिस परिस्थितिमें जो ग्रामसेवक (जो कि टार्च, केमेरा, आदि पर अेक पाओ भी खर्चना पाप समझता है) अिसी दर्जेके लोगोंकी सेवा करेगा, और अपने खाने-पीनेके लिअे अुनके ही अूपर निर्भर होगा, वह यदि अुन ग्रामवासियोंसे १० या १२ रु० मासिककी आशा रखेगा, तो क्या यह अुसकी हृदयहीनता न होगी? . . . अगर तीन आनेके दैनिक खर्चमें विज्ञान-सम्मत खुराक आदिकी व्यवस्था हो सकती है, तो आप क्यों अेक ग्रामसेवकको १० या १२ रु० मासिक खर्च करनेका अुपदेश देते हैं?"

मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है कि हमें भोजनके लिये १०
ा १२ रु० मासिक खर्च करना ही चाहिये, और जब तक भोजन-
ख़र्च अुस हद तक नहीं पहुंचा है, तब तक हमारा सारा भोजन-
र्च निर्दोष है। वास्तवमें १२, १०, ५ या ३, या २ रुपयेसे कोअी
र्यादा बताना भ्रमोत्पादक है। जो भोजन अुड़ीसाके गांवमें रु०
३॥ में मिल जाता है, अुसी पर बम्बअीमें ८-९ रुपये खर्च हो सकते
, और गुजरातमे ५-६ रुपये। मतलब यहां पैसेसे नहीं, आरोग्यवर्धक
ज्ञसे है। अगर रु० १ मासिकमें ही आरोग्यवर्धक भोजन मिल जाता
ो, तब तो रु० १। तक जानेकी भी जरूरत नहीं है।

अुड़ीसामें रु० ३॥ में मनुष्यका गुजारा हो जाता है। और
ावली (मध्यप्रांत) में कअी लोगोंका गुजारा सिर्फ अेक रुपया मासिकमें
ी हो जाता है। अितनी खुराक पर वे जिन्दा रहते हैं, परिश्रम करते हैं
ौर प्रजावृद्धि भी करते हैं। फिर भी वह खुराक शरीरके अुचित
ारण-पोषणके लिये पर्याप्त नहीं मानी जायगी। अुतनी ही खुराक
र गुजारा करना — यह हमारे लिये आपद्धर्म या लाचारीकी खुराक
 सकती है। क्या ग्रामसेवक, क्या साधारण जनता सभीके लिये यह
ाचारीकी खुराक आवश्यक हो सकती है। पर अिसे हम आदर्श
ही बना सकते, न बनाना चाहिये। आदर्श खुराकका मतलब यह होता
 कि अुसमें अधिक प्राप्त करनेके लिये न हम खुद पुरुषार्थ करें,
 जनताको ही अुसके लिये प्रेरित करें, और अधिक प्राप्त हो जाय
 भी अुसे स्वीकार न करें। बरफी, पेड़ा, लड्डू, आदि पदार्थ आदर्श
राकमें नहीं आ सकते। अर्थात्, सहज ही मिल जाने पर भी अुनका
रित्याग करनेमें दोष नहीं है। दूध आदर्श खुराकमें त्याज्य नहीं है।
ो स्वयं प्राप्त करना और अैसा प्रयत्न करना कि जनताको भी
 प्राप्त हो सके, हमारा कर्तव्य हो जाता है, और वर्तमान
ास्थामें तो अवश्य ही कर्तव्य है; लेकिन सबको दूध नहीं मिल
ता, अिसलिअे अुसे छोड़नेका व्रत लेकर बैठ जाना अुचित नहीं।
ी तरह यदि भिन्न-भिन्न प्रकारके गेहूं, चावल आदि धान्य अुत्पन्न
ो हों, तो जो गुणमें बढ़िया हो अुन्हें प्राप्त करना और जनताको

अुन्हें अुत्पन्न करने तथा अुपयोगमें लानेके लिअे प्रेरित करना कर्तव्य है, न कि हीनगुणवाले अन्नसे निर्वाह करनेका व्रत लेना।

मेरा मतलब यह नहीं कि हम जनतासे यह कहें कि दूध-घी तथा दूसरी अुत्तम खुराक प्राप्त हो, तभी हम अुसकी सेवा करेंगे। मूंजे चने फाककर भी हम सेवाकार्यमें डटे रहें। पर अुसी खुराक पर गुजारा करना चाहिये, अैसा आदर्श हम न मान लें। आदर्श तो जनताको अुत्तम और पर्याप्त खुराक पर ले जानेका ही होना चाहिये।

अिस लेख द्वारा मैं दूसरी बात यह समझाना चाहता था कि अपने जीवनकी आवश्यकतायें पूरी करनेमें सबसे पहले हम अुत्तम अन्न, वस्त्र और गृह प्राप्त करने पर ध्यान दें, फिर दूसरी चीजों पर। हो सकता है टार्च, केमेरा आदि पर अुड़ीसाके ग्राम-सेवक अेक पाअी भी खर्च न कर सकते हों। अन्न, वस्त्र और घरके सिवा दूसरी चीजों पर अुड़ीसाके सेवक या लोग कुछ खर्च नहीं करते और अच्छे अन्न, वस्त्र और घर प्राप्त करनेमें और रखनेमें ही सर्वप्रथम अपनी शक्ति और धनका व्यय करते हैं — अैसा कहा जाय तो अुस पर मुझे जरूर शंका होगी। कभी अुड़ीसा जानेका मौका मिल जायगा और अैसा अनुभव होगा, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। अुड़ीसाकी जनता और सेवकोंका स्वभाव ही यह हो, तो वहांकी प्रख्यात दरिद्रताका कुछ और कारण होना चाहिये। यह लेख मैं बिहारके देहातोंमें घूमते हुअे लिख रहा हूं। यहांके ग्रामसेवकोंका भोजनखर्च भी रु० ३ या ३।। के अन्दर होता है। और भी बहुतसी कठिनाअियां वे बरदाश्त करते हैं। रु० ३ या ३।। की खुराक भी ज्यादातर वे लोग मुट्ठी-भिक्षासे प्राप्त करते हैं, या किसी गृहस्थके घर जाकर प्राप्त कर लेते हैं। फिर भी अिसमें वे कष्ट नहीं मानते। यह अुनकी आदत-सी हो गअी है। अिसलिअे अिस परिस्थितिमें सुधार करनेकी ओर अुनका बहुत ध्यान गया है, अैसा मालूम नहीं होता। मेरा नम्र निवेदन यह है कि हम अिस परिस्थितिको कष्ट समझकर सहन करें, न कि अुसे आदर्श व्यवस्था समझकर अुसीको ग्रहण करने योग्य मानें। प्रकृतिकी अत्यंत कृपावाले अिस प्रान्तमें भी बेचारे बैल धानके सूखे पुआल पर जिन्दा रहते हैं। और

१४

कार्यकर्ता सावधान !

मैंने 'त्यागका आदर्श' शीर्षक लेखमें यह लिखा था कि कुछ कार्यकर्ता भोजनादिमें तो बहुत ही अल्प व्यय करते हैं, लेकिन कैमेरा, टॉर्च आदिमें पैसा बिगाड देते हैं। अिस विचार पर अेक सज्जनने यह आक्षेप किया था कि देहाती कार्यकर्ताओंके पास वैसे ही खर्चके लिअे गुंजाअिश नहीं रहती, तब भला वे अिस प्रकारका फिजूल खर्च कैसे करेंगे? अर्थात्, मेरा कहना अुन्हें कुछ अतिशयोक्ति-पूर्ण मालूम हुआ।

अभी मेरे सामने पाच-छः अुदाहरण अैसे तरुण कार्यकर्ताओंके हैं, जिनमें मैं सिनमा आदिका शौक बढ़ता हुआ देखता हूं। छोटे शहरमें अथवा अुसके आसपासके गावोंमें कार्य करनेवाले तरुणोंमें — और कभी कभी प्रौढ़ोंमें भी — अपने दिलको अिस तरह बहलानेकी अभिलाषा अुत्पन्न होना — जिस परिस्थिति और प्रलोभनोंके बीचमें आज हम रहते हैं अुनका विचार करें तो — आश्चर्यकी बात नहीं है। मगर संयम और सेवामय जीवन व्यतीत करनेकी अभिलाषा रखनेवाले सेवकोंको अिस व्यसनसे खूब सावधान रहना चाहिये। अेक तरफ तो बनता पैसे-टकेमें तगदस्त हो रही है और दूसरी ओर अुसके सामने नाटक-सिनेमा वगैराके प्रलोभन दिनोंदिन ज्यादा तादादमें पेश किये जा रहे हैं। यह कोअी मामूली आर्थिक संकट नहीं है। लेकिन सेवा-भावी युवकोंके लिअे तो आर्थिक संकटसे भी अधिक अध.पतनकी सामग्री लेकर यह चीज अुपस्थित हो रही है।

यो तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो नाटक और सिनेमा दिल-बहलावके निर्दोष साधन ही माने जाते हैं। यही नहीं, बल्कि अनेक बार वे ज्ञानवर्धक और कभी कभी शुभ भावनाओंके पोषक भी होते हैं। पूज्य गाधीजीने खुद अपनी आत्मकथामें लिखा है कि बरसों पहले

बैल अितने पर गुजारा कर सकता है, अिस खयालने वहां मुझे लिअे बस है अैसा लोगोंने मान लिया है; अिसके फलस्वरूप 'सुजलां सुफलां' भूमिमें भी बैलको देखकर जी प्रसन्न नहीं होता। अच्छा तो थामू वहानेकी होती है। लेकिन जहा मनुष्य भी अपने लिअे अुसी पैमानेको योग्य मानकर जीवन व्यतीत करता हो, वहां बैलकी हालत अच्छी कैसे हो?

मेरे कहनेका आशय यह नहीं कि देहाती जनताके ग्रामसेवक अपनी खुराकके लिअे रु० १० या १२ मांगें। पर यह खयाल गलत है कि देहाती जनता जिस खुराक पर अपना निर्वाह करती है, वह पर्याप्त है। जिस पत्रके अुत्तरमें मैंने ये लेख लिखे थे, वह बम्बअीमें रहनेवाले अेक युवकका पत्र था। रु० ३॥ में हिन्दुस्तानकी अधिकांश जनता अपना निर्वाह कर लेती है, अिसलिअे बम्बअीके अुस युवकको अुतने खर्चमें जितनी खुराक प्राप्त हो सके अुतनीसे ही गुजारा करनेका व्रत लेना और यह मानना कि अिसीसे जनताकी सेवा होती है, गलत है, यही मुझे बताना था। जनताके साथ रहते हुअे, भूखके कष्टोंको स्वयं भी सहन करना और सहन करते हुअे अुन्हें हटानेका जतन करना अेक बात है; और केवल सहानुभूतिके कारण दूरसे अपने घरमें बैठे बैठे कष्ट सहनेका व्रत लेना दूसरी बात है। यह दूसरी बात गलत है।

आशा है, अिनसे मेरा अभिप्राय स्पष्ट समझमें आ जायगा, और अनर्थ भी न होगा।

हरिजनसेवक, ३०-५-'३६

१४

कार्यकर्ता सावधान !

मैंने 'त्यागका आदर्श' शीर्षक लेखमें यह लिखा था कि कुछ कार्यकर्त्ता भोजनादिमें तो बहुत ही अल्प व्यय करते हैं, लेकिन केमेरा, टॉर्च आदिमें पैसा बिगाड़ देते हैं। अिस विचार पर अेक सज्जनने यह आक्षेप किया था कि देहाती कार्यकर्ताओंके पास वैसे ही खर्चके लिअे गुंजाअिश नहीं रहती, तब भला वे अिस प्रकारका फिजूल खर्च कैसे करेंगे? अर्थात्, मेरा कहना अुन्हें कुछ अतिशयोक्ति-पूर्ण मालूम हुआ।

अभी मेरे सामने पाच-छः अुदाहरण अैसे तरुण कार्यकर्त्ताओंके हैं, जिनमें मैं सिनेमा आदिका शौक बढ़ता हुआ देखता हूं। छोटे शहरमें अथवा अुसके आसपासके गावोंमें कार्य करनेवाले तरुणोंमें — और कभी कभी प्रौढ़ोंमें भी — अपने दिलको अिस तरह बहलानेकी अभिलाषा अुत्पन्न होना — जिस परिस्थिति और प्रलोभनोंके बीचमें आज हम रहते हैं अुनका विचार करें तो — आश्चर्यकी बात नहीं है। मगर सयम और सेवामय जीवन व्यतीत करनेकी अभिलाषा रखनेवाले सेवकोंको जिस व्यसनसे खूब सावधान रहना चाहिये। अेक तरफ तो जनता पैसे-टकेसे तंगदस्त हो रही है और दूसरी ओर अुसके सामने नाटक-सिनेमा वगैराके प्रलोभन दिनोंदिन ज्यादा तादादमें पेश किये जा रहे हैं। यह कोअी मामूली आर्थिक सकट नहीं है। लेकिन सेवा-भावी युवकोंके लिअे तो आर्थिक सकटसे भी अधिक अध पतनकी सामग्री लेकर यह चीज अुपस्थित हो रही है।

यों तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो नाटक और सिनेमा दिल-बहलावके निर्दोष साधन ही माने जाते हैं। यही नहीं, बल्कि अनेक बार ये ज्ञानवर्धक और कभी कभी शुभ भावनाओंके पोषक भी होते हैं। पूज्य गाधीजीने खुद अपनी आत्मकथामें लिखा है कि बरसों पहले

अुन्होंने 'हरिश्चन्द्र नाटक' देखा था और अुसका अुनके दिल पर अमिट असर हुआ। और भी कअी लोग अिसी तरहका अनुभव सुना सकते हैं। अिसका अर्थ यही है कि नाटक और सिनेमामें मनुष्यके दिल पर असर पैदा करनेकी बड़ी तीव्र शक्ति होती है। पाठशालाओंकी पढ़ाअीका भी अितना असर नहीं होता। पर अिसी कारण नाटक और सिनेमा जहां अमृततुल्य हैं, वहां दूसरी तरफ वे हलाहल भी सिद्ध हो सकते हैं।

नाटक और सिनेमाओंका आकर्षण बढ़ानेके लिअे वस्तु (विषय) के अतिरिक्त रंगभूमि और पात्रोंकी सजावट व शृंगारको भी हमेशा महत्त्व दिया गया है। फिर भी ३०-४० वर्ष पहले तो यह सजावट अुस समय अुपलब्ध होनेवाले सीधे-सादे और थोड़ेसे साधनों तक ही मर्यादित थी। पर आज तो अिस कलाका अितना विकास हो गया है कि अपने पुरखोंको हमने अेक तरफ बैठा दिया है। अिसलिअे हम यह नहीं कह सकते कि आजके हरिश्चन्द्र नाटकका अभिनय ३०-४० वर्ष पहलेके हरिश्चन्द्रके अभिनयके समान ही सात्त्विक होता है।

और नाटक तो आखिर नाटक ही ठहरा। नाटकका अभिनय कम्पनियां जनताको सुसंस्कारी बनानेके लिअे थोड़े ही करती हैं। वे तो धन कमाना चाहती हैं। अिसलिअे वे तो अुन तमाम तरकीबोंसे काम लेती हैं, जिनसे लोग आकर्षित होकर वहां आवें। अिसलिअे सात्त्विक नाटकोंमें भी थोड़ी-बहुत अैसी राजस सामग्री रहती ही है, जिससे कि हलकी वृत्तियोंवाले लोगोंकी रुचिका भी अनुरंजन हो। "रंग भरका लोटा" वाला गायन तो हरिश्चन्द्र नाटकमें ही है न? वहां सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रका जीवनादर्श और कहां भंग पीनेसे "मन मैल मिटे, तन तेज चढ़े" वाला अुपदेश! पर अगर अभिनय करनेवाले हरअेक नाटकमें अैसी थोड़ी-बहुत मनोरंजक सामग्री न रखें, तो अुनका काम चल ही नहीं सकता।

अिस विषयमें भी ३०-४० वर्ष पहलेके मुकाबलेमें आज बेहद तरक्की हो गयी है। नाटकका स्थान अब सिनेमाओंने ले लिया है।

और सिनेमाओंमें कहीं-कहीं असा सात्त्विक खेल हो, तो भी असके आरंभ और अन्तमें हीन वृत्तियोंको अुत्तेजित करनेवाले प्रहसन रहते ही हैं।

नाटक, संगीत वगैरा सब कलायें हैं। कला अपना हृदयगत आनंद व्यक्त करनेका अेक स्थूल साधन है। पर जब वह अपने अिस रूपको छोड़कर आजीविकाके लिअे लोकरंजन करने निकल पड़ती है, तब वह मायाका रूप धारण कर लेती है। सीताजीको सोलहों आने शुद्ध बतानेके लिअे तुलसीदासजीने रामचरित-मानसमें यह कल्पना की है कि रावणके आनेके पहले असली सीताजी अंतर्धान हो गअी और अपने स्थान पर अेक मायिक सीता छोड़ गअी। रावणने जिसका हरण किया, वह असली सीताजी नहीं थीं। पर अिस बातको सिवा रामचंद्रजीके और कोअी जान ही नहीं सका। अिसी तरह पैसे कमानेके लिअे जब कलाका अुपयोग होता है, तब वह असली कला नहीं होती, किन्तु कलाकी मायिक छायामात्र होती है।

अिसलिअे नाटक या सिनेमामें श्रीराम, सीताजी, तारा, तुकाराम, अेकनाथ वगैरा बननेवाले लोग अिन महान् विभूतियोंका अभिनय करने पर भी ज्यों-के-त्यों कोरे ही रहते है। कलाकी नहीं बल्कि कलाकी मायिक छायाकी अुपासना करनेके कारण अिन पेशेवर लोगोंमें से अधिकांशका चरित्र भी दिनोंदिन हीनताकी ओर जा रहा है और वे अनेक व्यसनोंके शिकार बनते जाते हैं। परिणामस्वरूप, हरिश्चन्द्र और रामकी भूमिकारूपी शक्करके साथ-साथ अिन अभिनेताओंके हीन चरित्रका विष भी प्रेक्षकोंको छुअे बगैर नहीं रहता। अनकी आंखों और हाथ-पैरसे व्यक्त होनेवाले हावभावोंसे सात्त्विकता नहीं, राजसवृत्ति ही प्रगट होती है।

अिसलिअे ये सात्त्विक कहे जानेवाले सिनेमा तथा नाटक भी अन युवकोंके लिअे खतरनाक हैं, जो अपने संयम और सेवावृत्तिकी रक्षा करना चाहते हैं। मुझे तो आजके थियेटरोंमें दिखाये जानेवाले नाटक-सिनेमा शराब और तम्बाकूके विषोंसे भी अधिक भयानक मालूम होते हैं। अनुभवी लोग कहते हैं कि तम्बाकू और शराबका सेवन करनेवाले स्थिरवीर्य नहीं रह सकते। फिर भी अिन व्यसनोंका

सेवन करनेके कुछ समय बाद शायद अिनका असर नहीं रहता होगा। पर कभी-कभी नाटक-सिनेमाके अेक बारके सेवनका असर भी शायद जीवनभर बना रहता है। और आजीवन न भी रहे, तो भी काफी लंबे समय तक तो रहता ही है। कोअी-न-कोअी विलासी दृश्य, हावभाव या सूक्ष्म सूचन युवकोंके चित्त पर संस्कार छोड़ ही जाता है और अिच्छा न होने पर भी अुसकी स्मृति जाग अुठती है और अुनकी तमाम संयम-साधनाको मिट्टीमें मिला देती है, जिसकी अुन्होंने बड़ी मेहनतके साथ बरसों अुपासना की है। वासनाअें जागृत हो जाती हैं और कितने ही दिनोंकी संगृहीत शक्तिका बांध टूट जाता है।

कितने ही युवक देशप्रेमकी भावनासे सेवाक्षेत्रमें आये हैं। मातृभूमिकी सेवामें ही हमारा सारा जीवन अर्पित हो जाय, अैसी अुदात्त साध वे अपने मनमें रखते हैं। अिनमें से अनेकोंने तो अपने परिवारका विरोध भी बरदाश्त किया है, द्रव्यार्जनके लोभ और अवसरोंका जान-बूझकर त्याग किया है। कअी बार कुटुम्बी जनोंको रुलाया तक है। अगर वे अपने मनोरथोंको सिद्ध करना चाहते हैं, अपनी मातृभूमिके लिअे अपने सुखोंकी कुरबानी करनेकी शक्ति संपादन करना चाहते हैं और अुसकी रक्षा करना चाहते हैं और सेवाक्षेत्रमें डटे रहना चाहते हैं, तो अुन्हें शराब और तम्बाकूके व्यसनोंकी अपेक्षा भी नाटक-सिनेमा आदिके सेवनसे अधिक सावधान रहनेकी जरूरत है। अगर वे अिस तरहका मनोरंजन प्राप्त करना ही चाहें, तो संस्थाओंके अुत्सवों और सम्मेलनोंसे प्राप्त कर सकते हैं।

अिस्लाम और अीसाअी धर्ममें मुहम्मद और अीसाके नाटक खेलनेकी सख्त मनाही है। हिन्दू धर्ममें अैसी मनाही नहीं है। मेरी अपनी राय यह है कि धार्मिक व्यक्तियोंके नाटक पेशेवाज नटों द्वारा नहीं खेले जाने चाहिये, और न अैसे नाटकोंके प्रयोगों पर किसी प्रकारका टिकट होना चाहिये। नाटककलाके जानकार प्रौढ़ अुम्रवाले स्त्री-पुरुष केवल भक्तिभावसे अेकाध बार अैसे नाटकोंका अभिनय करके दिखाना चाहें, तो भले ही दिखावें। अगर अैसे लोग न मिलें, तो छोटे छोटे बच्चों द्वारा भी अैसे प्रयोग हो सकते हैं।

हरिजनसेवक, २८-११-'३६

कमजोर सात्त्विकता

हमारे देशमें अेक अच्छासा वर्ग अैसे पढ़े-लिखे और विचार करनेवाले लोगोंका पाया जाता है, जो दिलसे भले हैं, भलाअी चाहते हैं और भलाअीकी राह पर चलकर अपने मन और कर्मोंको ज्यादासे ज्यादा पवित्र बनाते रहना चाहते हैं। लेकिन साथ ही वे अपनेमें अेक तरहकी कमजोरी भी महसूस करते हैं। वे अपने निश्चयों पर स्थिर रहने या अमल करनेकी अपनेमें ताकत नहीं पाते और चाहते हैं कि कोअी अैसा अच्छासा आधार अुन्हें मिल जाय, जिसे पकड़ कर वे आसानीसे अुन्नतिके रास्ते पर चला करें। अपने आसपास वे अैसा कोअी वायु-मण्डल नहीं पाते, जो अुन्हें अच्छे कामों और विचारोंकी हमेशा प्रेरणा करता रहे, अुनका जोश और अुत्साह बढ़ा दे और अपनी सद्भावनाको अमलमें लानेकी तैयार तजबीज और तरकीब बता दे। बल्कि वे अपने आसपासका वायु-मण्डल — घरमें, जातिमें, गांवमें, मंदिरोंमें और मठोंमें, सरकारी दफ्तरोंमें तथा सार्वजनिक संस्थाओंमें — स्वार्थ, तंगदिली, दंभ, छल-कपट आदिसे भरा हुआ देखते हैं। परिणाममें कहीं पर भी अुनका दिल आराम नहीं पाता।

अैसे प्रतिकूल वातावरणसे परेशान होकर कुछ तरुण अेक दिन जोशमें आकर घर छोड जाते हैं और किसी दूर स्थान पर किसी प्रसिद्ध पुरुष या आश्रमका आश्रय खोजते हैं। अुत्तरका तरुण दक्षिणमें जाता है और दक्षिणका अुत्तरमें। बाज दफा वहांसे भी निराश होकर वे वापिस घर लौटते हैं और फिर भलाअी तथा अुन्नति परसे ही अुनकी श्रद्धा अुठ जाती है। "दुनियामें भलाअी करनेमें कोअी लाभ नहीं", यह अुनके अनुभवका निचोड़ हो जाता है।

लेकिन, अिस तरह अेक बार भी घर-बार छोड सकनेवाले लोग भी तो अिने-गिने ही होते हैं। हजारों आदमियोंके लिअे यह रास्ता भी बन्द-सा होता है। बचपनमें ही पारिवारिक बंधनोंमें वे अिस कदर फंसे हुअे होते हैं कि घरसे दूर जाना और अपने जीवनका

रास्ता बिलकुल निराशा कर देना अुनके लिअे असंभव होता है। अेक तरफसे अुनमें अितना जोश और कर्तृत्व नहीं होता कि वे अपने आसपासकी कठिनाअियोंका सामना करके अुच्च ध्येयके प्रति अपने कदम स्थिरतासे रखते हुअे चले जा सकें। दूसरी तरफसे अुनकी अुच्च जीवन और वायुमण्डलकी भूख बनी रहती है। परिणाममें अुनका जीवन "न मिला ही खुदा, न मिला ही सनम, न अिधरके रहे न अुधरके रहे" –के अनुसार निराश, सदा प्यासा और अप्रसन्न रहता है और स्वभाव भी धीरे-धीरे सात्त्विकता और सत्प्रवृत्तिकी ओर बढ़नेके बजाय क्रोध, आलस्य, कोरी तत्त्व-चर्चा, थोथे वेदान्तकी ओर बढ़नेवाला, हरअेककी कमियोंकी सूक्ष्म खोज करनेवाला बनता जाता है और अकर्मण्यताके प्रति झुकता जाता है।

मैं जहां तक सोच सकता हूं, अिन सबके जीवनकी मुख्य समस्या यह है — अुनकी कर्तृत्वशक्ति, त्यागशक्ति और आत्मसंयमकी शक्ति मर्यादित है। फिर भी अुनकी अुन्नतिकी अभिलाषा सच्ची है। वे किस तरह अपने अिर्द-गिर्द ही अुन्नतिकी ओर धकेलनेवाला वायु-मण्डल पैदा करें?

देखने पर मालूम होगा कि अिस मनोदशाके पीछे अेक तरफसे सात्त्विकता और दूसरी तरफसे कमजोरीका मिश्रण है। हमारे समाजमें अैसी बेमेल अवस्था पैदा होनेके कारण यदि हम खोजेंगे तो मेरा खयाल है कि अकसर नीचे लिखी परिस्थितियोंमें से अेक या अधिककी हस्ती पायी जायगी।

१. बचपनमें और जवानीके शुरूके दिनोंमें प्रसन्नताके साथ शारीरिक मेहनत करनेकी रुचि और आदतका अभाव, घरके काम, खेल-कूद, व्यायाम, हाथ-पैर चलाकर कोअी पदार्थ बनाने या सुधारनेकी मेहनत और कलाके प्रति अरुचि।

२. दिनचर्याका बहुतसा हिस्सा पढ़ने-लिखनेमें लगानेका शौक; फिर वह पढ़ना-लिखना चाहे पाठशालाके विषयोंका हो, अुपन्यासोंका हो या धार्मिक साहित्यका ही क्यों न हो।

३. अथवा, अुसमें भी अरुचि, और केवल सुस्त बैठे रहने, बहुत सोने या निकम्मी ग्रामचर्चाअें करनेकी आदत।

४. अपनेमें जो कुछ शक्तियां अथवा सद्गुण हों, अुन्हें बढानेके विचारके बदले अपनी कमियोंका ही चिन्तन करते रहनेकी आदत।

५. सर्वत्र अनास्था, अश्रद्धा और भावनाओंकी शुष्कता।

६. तत्त्वज्ञानके अन्तिम सिद्धांतोंके निरीक्षण, अभ्यास और अनुभवके द्वारा प्रतीति पानेकी कोशिश करनेके बदले कल्पना, तर्क और शास्त्रार्थ द्वारा तथा अभ्यास और पोपटपची करके निश्चय बनानेकी कोशिश।

७. धार्मिक ग्रंथोंकी अत्युक्तिपूर्ण और अेकांगी कथाओंको वर्तनका आदर्श समझनेकी भूल। अुदाहरणके लिअे, अतिथि-सत्कारके विषयमें कबीर या चेलैयाका आख्यान, नामस्मरणके बारेमें अजामिलकी कथा आदि।

८. किसी अेक गुण, धर्म या साधनको सब गुणों, धर्मों और साधनोंको परिपूर्ण करनेवाला समझनेकी भूल। अुदाहरणार्थ "अहिंसा परमो धर्मः" कहा है। लेकिन अिसके मानी यह नहीं कि दूसरे गुण, धर्म और साधनोंकी कोअी जरूरत नहीं और अेक अहिंसाकी पराकाष्ठा हो जाय, तो जैसे शरीरके साथ छाया आती है वैसे ही दूसरे गुण, धर्म या साधन आप ही पूर्ण हो जायंगे।

९. व्रत-तप-सयमोंके विषयमें अेक तरफसे बहुत ही अूंचे और असाध्य आदर्शोंकी कल्पना और दूसरी तरफसे भोगोंमें सामान्य नियमोंका पालन करनेकी अशक्ति और मानसिक अस्थिरता।

१०. अैसा साधन या युक्ति खोजनेकी अिच्छा, जिससे जीवन सुखसे बीते, बहुत पुरुषार्थ या त्याग करना न पड़े, साधन-सयम आदिका कष्ट न अुठाना पड़े, और फिर भी जीवनका पूर्ण अुत्कर्ष और शांति हासिल हो।

११. "सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच.॥ *
(गीता, १८-६६)

* सब धर्मोंको छोड़कर मेरे ही शरणमें आ। मैं तुझे सर्व पापोंसे छुड़ा दूंगा। तू चिन्ता न रख॥

—कहकर अैसी सावना और कर्तव्य-पालनके परिश्रमसे मुक्ति देनेवाले तारक गुरुकी खोज।

और भी कुछ कारण बताये जा सकते हैं जैसे असंस्कारी, केवल धन-लोलुप और पुराने खयालोंमें मशगूल परिवारके बीच जीवन, बाल-विवाह आदि।

अगर कमजोर सात्विकताका यह निदान सही हो, तो साफ है कि अिन कारणोंको जितनी हद तक अेक आदमी हटा सकेगा, अुतनी हद तक वह अपनी तरक्की कर सकेगा और जीवनमें सहेतुकता, प्रसन्नता और शांतिका अनुभव कर सकेगा और अपने अिर्द-गिर्द अपने और दूसरोंके लिअे भी अेक अच्छा वायु-मण्डल पैदा कर सकेगा।

अिन कारणोंको हटानेके लिअे तीन वस्तुओंकी जरूरत है। (१) कुछ बातोंके विषयमें भ्रम-निरास, (२) धृति यानें स्थिरता-पूर्वक सतत प्रयत्न और (३) अनुकूल कर्मयोग।

हरअेकके विषयमें थोड़ासा लिख देता हूं।

१. भ्रम-निरास — धर्म और साधन-योगसे संबंध रखनेवाली अनेक बातोंमें हमारे दिल पर गलत तत्त्वज्ञान या सच्चे तत्त्वज्ञानकी गलत समझ, और गलत आदर्श, या सच्चे आदर्शकी गलत कल्पनाओंके संस्कार पड़े हुअे हैं। मेरे खयालसे मनुष्यकी कर्तृत्व शक्तिके प्रवाहको सुखा देने या रोक देनेमें शुष्क अज्ञानकी अपेक्षा भ्रामक और भ्रमयुक्त ज्ञानका हिस्सा बहुत जबरदस्त होता है। अुदाहरणके तौर पर कुछ अैसे गलत खयाल पेश करता हूं:—

(क) ज्ञान और मोक्ष — "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं, अैसा अुपनिषद्का सूत्र है। सूत्र तो अच्छा है। लेकिन ज्ञान क्या और मोक्ष क्या अिसके बारेमें हमारे दिल पर विचित्र खयालोंका संस्कार पड़ा हुआ है। ज्ञान परसे साक्षात्कार अथवा किसी अनोखी — गूढ़ वस्तुका दर्शन, चौबीस तत्त्वोंकी सूक्ष्म छान-बीन, मायावाद, अलिप्तता, आदिके खयाल बने हुअे हैं और मोक्षके मानी जन्म-मृत्युसे छुटकारा — अिसे हमने जीवनका सबसे अूंचा और श्रेष्ठ

पुरुषार्थ माना है। फिर जीवनसे संबंध रखनेवाली सैकड़ों बातोंके बारेमें घोर अज्ञान और भ्रम रखते हुअे, मानव अुत्कर्षके लिअे अनेक आवश्यक गुणोंका अभाव होते हुअे भी, अपनी वासनाओंका परीक्षण किये बिना और योग्य अिलाज पाये बिना भी, हम अेकदम ज्ञान और मोक्षकी प्राप्तिको अपना ध्येय बनानेका खयाल करते हैं और कृत्रिम साधनोंके पीछे लगते हैं।

हमें गर्व है कि हमारे देशने अध्यात्म-विद्यामें पराकाष्ठा प्राप्त की है और न सिर्फ आत्माका अविनाशित्व बल्कि अुसका ब्रह्म या विश्वके मूल तत्त्वके साथ तादात्म्य भी सिद्ध किया है। फिर भी कितना आश्चर्य है कि जन्म-मृत्युका जितना डर हमें है, अुतना किसी दूसरी अज्ञान मानी हुअी मानव या मानवेतर जातियोंको भी नहीं। वास्तवमें देखें तो जन्म तो हो गया और गर्भवास और जन्मके समयके दु:ख-सुखका हमें कोअी स्मरण नहीं। सच तो यह है कि जन्मपूर्वकी परिस्थितिमें १० मासका गर्भवास ही जीवनके लिअे सुरक्षित स्थान होता है और अुसके बाद योग्य समय पर ही अुसका बाहर आना हितावह है। लेकिन कल्पनासे हम भविष्य कालके जन्मोंका चित्र खड़ा कर देते हैं। और कवियोंने गर्भवासकी यातनाओंका जो काल्पनिक वर्णन धार्मिक ग्रंथोंमें पेश किया है, अुसे सच्चा मानकर अुससे बचनेकी चिन्तामें पड़ते हैं। यही बात मृत्युकी है। मृत्युका डर अेक तरहसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। अुसके लिअे आत्म-अनात्म विवेक ठीक है। अगर अुतना ही मनुष्य दृढ़ कर सके तो काफी है। वह न कर सके तो भी,

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥" *

(गीता, २-२७)

* जो जन्मा है, अुसका मरण निश्चित है, और जो मरा है, अुसका जन्म निश्चित है। अिसलिअे जो बात टल नहीं सकती, अुसका तुझे शोक न करना चाहिये।

—यह विचार यह पक्का कर ले तो भी बस है। लेकिन हमारे दिल पर तो अिस देहकी मृत्युका नहीं, बल्कि अनेक जन्मोंकी भावी मृत्युओंका डर सवार है और कल्पनासे बने हुअे जन्म-मृत्युके भयसे छुटकारा पाना हमारे जीवनका लक्ष्य बन जाता है।

(ख) नामस्मरण—हमारे साधन-मार्गमें भी अैसी बहुतसी कृत्रिमतायें और विलक्षणतायें पैदा हो गअी हैं। चित्त-शुद्धिकी साधनामें नामस्मरण अेक अच्छा सहारा अवश्य है और अुसमें जपकी संख्याकी अपेक्षा सतत जागृतिका महत्त्व है। लेकिन कविने अुसकी महिमा वर्णन करते समय अनेक गलत दृष्टान्त खड़े कर दिये हैं। अिसके कारण किसी भी तरह माला फेरते रहने और जप-बैंकमें जपोंकी रकम जमा करानेको ही साधना माना जाता है।

(ग) संयम — मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके संयम-नियंत्रणके बिना कोअी पुरुष या स्त्री अपना शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक विकास और गुणोत्कर्ष नहीं कर सकता। लेकिन अिनकी अेक अेक बातका जब ब्यौरेवार वर्णन दिया जाता है, तब हरअेकका बड़ा विलक्षण आदर्श और माहात्म्य खड़ा किया जाता है। स्वभावकी प्राकृत नैसर्गिक प्रेरणाओंको संस्कृत करने और अुन पर अपना स्वामित्व जमानेका क्रम-मार्ग निर्माण करनेकी अपेक्षा अिन प्रेरणाओंको नष्ट करनेका आदर्श रखा जाता है, और तरह-तरहके अिन्द्रिय-दमनके व्रत-तप और कृत्रिम नियम बरते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि अिन प्रेरणाओंको दबाते रहनेके निष्फल प्रयत्नमें ही सात्त्विक वृत्तिके लोगोंकी बहुतसी शक्ति खर्च हो जाती है। जीवनके अन्त तक दमनमें पूरी सिद्धि तो मिलती ही नहीं। बीच-बीचमें जोरोंसे प्रकृति अपना बल बताती है और अेकाध जबरदस्त और शर्मनाक गलती कराके मनुष्यकी सालोंकी साधना और प्रतिष्ठा पर पानी फेर जाती है और कभी-कभी दम्भके नरकमें फेंक देती है। अिसकी अपेक्षा जो लोग साधनाके पीछे न पड़कर वर्तनकी अेक धर्म्य-मर्यादामें रहते हुअे संयमी जीवन बसर करते हैं, वे ज्यादा तेजस्वी, कर्त्तव्यनिष्ठ, प्रसन्नचित्त और नीरोग भी पाये जाते हैं।

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
अिन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स अुच्यते ।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।' *

(गीता, ३–६,७)

अिस तरह अनेक तरहके आदर्श, साधना, पूजा-विधि, सदाचार-दुराचारके नियम, पूर्णता-अपूर्णताके माप-दण्ड वगैराके बारेमें गलत खयालोंके हमारे दिल पर गहरे संस्कार पड़े हुअे हैं। वे हमारी शक्तिको नष्ट करते हैं और जिन प्रत्यक्ष अज्ञान, रोग, दारिद्रय, आपसी वैर, छल-कपट, गुलामी वगैरा दुःखोंसे मुक्त होनेमें हमारी सात्त्विक बुद्धिका अुपयोग होना चाहिये और हमारी कर्तृत्व-शक्ति लगनी चाहिये, अुनके लिअे पुरुषार्थ करनेसे हमें रोक देते हैं। भ्रमोंकी शिलाके नीचे हमारे पुरुषार्थका स्रोत छिपा है। अिस शिलाको हटाये बिना वह स्रोत बाहर नहीं निकल पावेगा।

(२) **धृति** — यह दूसरी महत्त्वकी चीज है। गीतामें बुद्धि और धृतिके भेदोंका पास-पास ही जिक्र है। फिर भी हमारे शास्त्रीय-प्रयोगमें मनुष्यकी अुन्नतिमें धृतिके महत्त्व और विकास पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। बुद्धिके नाम पर सूक्ष्म तार्किकताका हमारे विद्वानोंमें बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है, लेकिन धृतिका बहुत कम खयाल पाया जाता है। धृतिके मानी धारण-शक्ति। बुद्धिसे अेक सिद्धान्तका निर्णय तो कर लिया, लेकिन निष्ठामें अुमी सिद्धान्त पर अपनी जीवन-व्यवस्था करनेके लिअे जो दृढ़ता चाहिये अुसमें हम बड़े ढीले हैं। सिद्धान्तमें हम सब वेद-धर्मी, जैन-धर्मी या बौद्ध-धर्मी प्राणीमात्रकी समानताके सिद्धान्तका अितने व्यापक रूपमें प्रति-

* कर्मेन्द्रियोंका संयम करके, अिन्द्रियोंके विषयोंका जो मूढ़ मनुष्य मनमें स्मरण किया करता है, अुसका संयम मिथ्याचार है। परन्तु जो अिन्द्रियोंको मनसे नियममें रखता हुआ, अिन्द्रियोंके जरिये अनासक्ति पूर्वक कर्मयोगका आचरण करता है, वह अधिक है।

पादन करेंगे कि किसी मुसलमान या ओसाओीको तो वैसा करनेकी हिम्मत ही न होगी।

'विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥ *
(गीता, ५-१८)

अितने विशाल रूपमें समताका प्रतिपादन करनेकी साधारण मुसलमान या ओसाओीकी हिम्मत न होगी। कमसे कम मनुष्य और अितर प्राणियोंके बीचमें भेद-दृष्टि रखना शायद वह अपना फर्ज भी बतायेगा। लेकिन अितने बड़े सिद्धान्तकी शिक्षा पाने पर भी न हमारे धर्मात्मा या ब्रह्मनिष्ठ पंडितों और न हमारे अनेक सुधारकों — विचारक, परंतु बड़े परिवारमें रहनेवाले कार्यकर्ताओं — की हिम्मत होती है कि वे अपने घरके भीतरके भागमें अछूतको ले जाय और अपने आसन पर बिठावें तथा अुसके साथ भोजन करें। सबब यह है कि हमने बुद्धिको बढ़ाया है, धृतिको नहीं बढ़ाया। आचारके समय हम कदम-कदम पर व्यावहारिक मुश्किलोंका खयाल करते हैं। परिणामोंसे, यानी अपने पर आनेवाली कठिनाअियोंसे डरते हैं, और कुछ न कुछ बहाना निकालकर सिद्धान्त पर चलनेको टालते हैं। हमारे देशमें अपनी धृति-शक्तिको बढ़ानेकी सिर्फ अपने-आपमें नहीं बल्कि बुद्धिकी शुद्धि-वृद्धिके लिअे भी बहुत बड़ी जरूरत है। क्योंकि जब हम अिस नजरसे हर-अेक सिद्धान्तकी जांच करेंगे कि अुस पर हम किस हद तक चल सकते हैं, तब हमारे सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें अगर कुछ संशोधनकी जरूरत हो तो हम सोच सकेंगे और हमारे सिद्धान्त और वर्तनमें मेल बिठा सकेंगे। यह याद रहे कि जब तक सिद्धान्त और वर्तनमें मेल नहीं बैठता, तबतक कोअी प्रामाणिक मनुष्य शान्ति नहीं पा सकता।

(३) अनुकूल कर्मयोग — यदि हम धृतिके महत्त्वको समझ लें, तो अुसके लिअे अनुकूल कर्मयोगकी अनिवार्यता तुरन्त ही मालूम हो जायगी। अेक सिद्धान्तका अगर हमने मान लिया और अुस पर दृ

* विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण गाय, कुत्ता या चाण्डाल सबमें पंडित समदृष्टि रखते हैं।

रहनेकी जरूरत स्वीकार की, तो अुसे छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो शुरू करना लाजिमी हो जाता है। किसी बाह्य-साधनकी जरूरत हो, तो अुसे प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय; किसीके साथकी जरूरत हो, तो साथी ढूंढ़ा जाय। जानकारी हासिल करना हो तो साहित्य खोजा जाय। शारीरिक शक्ति या संयमकी कमी हो, तो वह बढ़ानेकी कोशिश की जाय। अुपासनाकी कमी हो तो अुसे तीव्र किया जाय। थोड़ेमें, मनुष्य बैठा नहीं रह सकता, अुद्योग-परायण हो जाता है। वह अपने पासमें ही अनुकूल वायु-मण्डल बनानेमें सफल होता है।

मैं आशा करता हूं कि ये थोड़े विचार अपनी सात्त्विकताकी कमजोरी हटानेकी अिच्छा रखनेवाले मित्रोंको कुछ मददगार होंगे।

१-१२-'४६

(मूल हिन्दुस्तानी)

१६
कर्मक्षय और प्रवृत्ति

अेक सज्जन मित्र लिखते हैं: "कुछ साधु कहते हैं कि कर्मका संपूर्ण क्षय हुअे बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और कर्मसे निवृत्त हुअे बिना कर्मक्षयकी संभावना नहीं है। अिसलिअे निवृत्ति मार्ग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्षका मार्ग है। क्योंकि, जो भी कर्म किया जाता है, अुसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जब तक कर्ममें प्रवृत्त रहेगा, तब तक वह चाहे अनासक्तिसे करता हो तो भी, कर्मफलके भारसे मुक्त नहीं हो सकता। अिससे कर्मबंधनका आवरण हटनेके बदले अुलटा घना होगा। अिसके फलस्वरूप अुसकी साधना खंडित होगी। लोककल्याणकी दृष्टिसे भले अनासक्तिवाला कर्मयोग अिष्ट हो, परन्तु अुसमें आत्मज्ञानकी साधना सफल नहीं होगी। अिस विषयमें मैं आपके विचार जानना चाहता हूं।"

मेरी नम्र रायमें कर्म क्या, कर्मका बंधन और क्षय क्या, प्रवृत्ति या निवृत्ति क्या, आत्मज्ञान और मोक्ष क्या, अित्यादिकी हमारी कल्पनाअें बहुत अस्पष्ट हैं। अतअेव अिस संबंधमें हम अुलझनमें पड़ जाते हैं, और साधनोंमें गोते लगाते रहते हैं।

अिस संबंधमें पहले यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मनकी क्रियामात्र कर्म है। कर्मका यदि हम यह अर्थ लेते हैं, तो जब तक देह है तब तक कोअी भी कर्म करना बिलकुल छोड़ नहीं सकता। कथाओंमें आता है अुस तरह कोअी मुनि चाहे सौ वर्ष तक निर्विकल्प समाधिमें निश्चेष्ट रहकर पड़ा रहे, परंतु जिस क्षण वह अुठेगा अुस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य ही करेगा। अिसके अलावा, यदि हमारी कल्पना अैसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देहसे परे जन्मजन्मान्तर पानेवाला जीवरूप है, तब तो देहके बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्मसे निवृत्त हुअे बिना कर्मक्षय नहीं हो सके, अिसका तो यह अर्थ हुआ कि होनेकी कभी भी संभावना नहीं है।

अिसलिअे निवृत्ति अथवा निष्कर्मताका अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझनेमें भूल होती है। निष्कर्मता सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक, भावना-विषयक और अिससे भी परे बोधात्मक (संवेदनात्मक) है। क, ख, ग, घ, नामके चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नामके चार भूखे आदमियोंको अेकसा अन्न देते हैं। चारो बाह्य कर्म करते हैं, और चारोंको समान स्थूल तृप्ति होती है। परतु संभव है क लोभसे देता हो, ख तिरस्कारसे देता हो, ग पुण्येच्छासे देता हो, और घ आत्मभावसे स्वभावतः देता हो। अुसी तरह प दुःख मानकर लेता हो, फ मेहरबानी मान कर लेता हो, ब अुपकारभावसे लेता हो और भ मित्रभावसे लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधातृप्तिरूपी सबका बाह्य फल समान होने पर भी अिन भेदोंके कारण कर्मके बंधन और क्षयकी दृष्टिसे बहुत फर्क हो जाता है। अुसी तरह क, ख, ग, घ से प, फ, ब, भ अन्न मागें, और चारों व्यक्ति अुन्हें भोजन नहीं करावें, तो अिसमें कर्मसे समान परावृत्ति है; और

चारोंकी स्थूल भूख पर समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न कराने या अन्न न दानेके पीछे रही बुद्धि, भावना, नीति, संवेदना अित्यादिके भेदसे अिस कर्म-परावृत्तिसे भी कर्मके बंधन और क्षय अेकसे नही होंगे।

यहां प्रवृत्ति और निवृत्तिके साथ परावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे हैं। परावृत्तिका अर्थ निवृत्ति नहीं है। परन्तु बहुतसे लोग परावृत्तिको ही निवृत्ति मान बैठते हैं। और वृत्ति अथवा वर्तनका अर्थ प्रवृत्ति नही है। परंतु बहुतसे लोग वृत्तिको ही प्रवृत्ति समझते हैं। वृत्तिका अर्थ है केवल बरतना। प्रवृत्ति यानी विशेष प्रकारके आध्यात्मिक भावोंसे बरतना। परावृत्तिका अर्थ है वर्तनका अभाव; निवृत्तिका अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति-संबंधी प्रवृत्तिसे भिन्न प्रकारकी अेक विशिष्ट आध्यात्मिक संवेदना।

कर्मबंधन और कर्मक्षयके विषयमें बहुतोका अैसा खयाल मालूम होता है मानो कर्म नामकी हरअेकके पास अेक तरहकी पूजी है। पाच हजार रुपये ट्रंकमें रखे हुअे हो और अुनमें किसी तरहकी वृद्धि न हो, परंतु अुनका खर्च होता रहे, तो दो-चार वर्षमें या पच्चीस वर्षमें तो वे सब अवश्य खर्च हो जायेंगे। परन्तु यदि मनुष्य अुन्हें किसी कारोबारमें लगाता है, तो अुनमें कमीबेशी होगी और संभव है कि पांच हजारके लाख भी हो जाय या लाख न होकर अुलटा कर्ज हो जाय। वह घाटा भी चिंता और दुःख अुत्पन्न करता है। सामान्य रूपसे मनुष्य अैसी चिंता और दुःखकी संभावनासे घबडाते नही और लाख होनेकी संभावनासे अप्रसन्न नही होते। वे न तो रुपयोंका क्षय करना चाहते हैं और न रुपयोंके बंधनमें पडनेसे दुःखी होते हैं। निवृत्तिमार्गी साधु भी मंदिरोंमें और पुस्तकालयोंमें बढ़नेवाले परिग्रहसे चिंतातुर नही होते। परंतु कर्म नामकी पूंजीकी हमने अैसी कल्पना की है मानो वह अेक बड़ी गठरी है और खोलकर, जैसे बने वैसे, अुसे खतम कर डालनेमें ही श्रेय है, कर्मका व्यापार करके अुसमें से लाभ अुठानेमें नहीं। कर्मको पूंजीकी तरह समझनेके कारण अुसे खुटानेकी अिस तरहकी कल्पना पैदा हुअी है।

परन्तु कर्मका निकलना — बंधन छोड़नेकी गठरी जैसा नहीं है। और वृत्ति-परावृत्ति (अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति) से यह गठरी घटती-बढ़ती नहीं है। असलमें कोओ भी क्रिया हो — ज्ञानमें हो या अनजानमें हो — वह विविध प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म परिणाम अेक ही समयमें या भिन्न भिन्न समयमें, तुरंत या कालान्तरमें, अेक ही साथ या रह रहकर पैदा करती है। जिन परिणामोंमें से अेक परिणाम कर्म करने-वालेके ज्ञान और चारित्रके अूपर किसी तरहका संस्कार जितना ही असर अुपजानेका होता है। क्योंकि कर्मके अैसे करोड़ों असरोंके परिणाम-का हरअेक जीवका ज्ञान-चरित्रका व्यक्तित्व बनता है। यह निर्माण यदि अुत्तरोत्तर शुद्ध होता जाय, ज्ञान, धर्म, वैराग्य, अित्यादिकी ओर अधिक अधिक झुकता जाय, तो अुसके कर्मका क्षय होता है अैसा कहा जाता है। यदि वह अुत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाय, अज्ञान, अधर्म, राग, अित्यादिके प्रति बढ़ता जाय, तो अुसके कर्मका संचय होता है अैसा कहा जाता है।

अिस तरह कर्मोंकी वृत्ति-परावृत्ति नहीं, परन्तु कर्मका जीवके ज्ञान-चारित्र्य पर होनेवाला असर ही बंधन और मोक्षका कारण है। जीवन-कालमें मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ है अैसी अेक अुच्च स्थितिका आदर्श कि जिस स्थितिके प्राप्त होनेके बाद अुस व्यक्तिके ज्ञान-चारित्र्य पर अैसा असर पैदा ही न हो सके, जिससे अुसमें पुनः अशुद्धि घुस सके।

अिसके लिअे कर्तव्य कर्मोंका विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा। अुदाहरणार्थ, अपकर्म नहीं करने चाहिये; सत्कर्म ही करने चाहिये; कर्तव्यरूप कर्म तो करने ही चाहिये; अकर्तव्य कर्म छोड़ने ही चाहिये; चित्तशुद्धिमें सहायक सिद्ध होनेवाले दान, तप और भक्तिके कर्म करने चाहिये अित्यादि। अिसी तरह कर्म करनेकी रीतिमें भी विवेक करना पड़ेगा; जैसे ज्ञानपूर्वक करना, सावधानीपूर्वक करना, सत्य, अहिंसा आदि नियमोंका पालन करते हुअे करना, निष्कामभावसे अथवा अनासक्तिसे करना अित्यादि। परन्तु यह कल्पना गलत है कि कर्मोंसे परावृत्त होनेसे कर्मक्षय होता है। कर्तव्यरूप कर्मसे

रावृत्त होने पर कदाचित् सकाम भावसे अथवा आसक्तिसे किये हुअे उत्कर्मोंसे भी अधिक कर्मबंधन होनेकी पूरी संभावना है।

अिसकी अधिक सविस्तर चर्चाके लिअे 'गीतामथन' पढ़िये।

दिसम्बर, १९४१
('महावीर जैन विद्यालय रजत-स्मारक')

१७

धर्म और तत्वज्ञान

...यह सत्य है कि मैं तत्त्वज्ञान और धर्मके विषय पर लिखना आया हूं। परन्तु अिससे यदि कोअी यह कल्पना करे कि मैंने अिस विषयके बहुतसे ग्रन्थ देख लिये होंगे, और कुछ ग्रन्थोंका तो अत्यन्त सूक्ष्मतासे अभ्यास किया होगा, तो वह गलत होगा। 'नाऽमूलं लिख्यते किंचित्' अिस प्राचीन प्रणालिकाका पालन करनेकी योग्यता मुझमें नहीं है। अिस प्रकार अिस विषयमें विद्वत्ताकी कसौटी पर संभव है मैं नापास हो जाअू।

तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयोंका मैंने साहित्यिक अभ्यासकी दृष्टिसे या धार्मिक वाचनके शौककी दृष्टिसे शायद ही विचार किया है। भक्तिमय जीवन मुझे माके दूधके साथ ही मिला था; परन्तु जब तक तत्त्वज्ञान और धर्मका गहरा विचार किये बिना मुझे अपना जीवन निस्सार जैसा नहीं लगा, तब तक मैं अिसमें अधिक गहरा अुतरा नहीं था। जब मुझे पूरा विश्वास हो गया कि 'ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व जूठी' — जब तक आत्मतत्त्वको पहचाना न जाय तब तक सारी साधना व्यर्थ है, तब मेरे लिअे अिसके पीछे पड़नेके सिवा कोअी चारा नहीं रह गया। अिस प्रकार मुझे अिसकी साधना और शोधमें लगना पड़ा। अिसमें मुझे जितनी जरूरत महसूस

* दिसम्बर १९३७ में कराचीमें हुअे गुजराती साहित्य सम्मेलनके २वें और तत्त्वज्ञान विभागके सभापति पदसे दिया हुआ व्याख्यान।

अेकको देनेके बारेमें विचार करनेसे मालूम पडेगा कि अुन्होने प्रचलित तत्त्वज्ञान या धर्ममें जो कुछ नवीन वृद्धि की है अुसकी अपेक्षा अुस पर प्रहार ही ज्यादा किये हैं। जिस प्रकार खेतमें अुगे हुअे कुशको केवल अूपर अूपर काटनेसे वह नष्ट नही होता, अुसे खोदना और जलाना पड़ता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञान और धर्मके क्षेत्रमें अुगे हुअे कुशको अुखाड़नेके लिअे अुनमें से कुछ लोगोंने प्रयत्न किये और अुसीमें अुनकी सारी जिन्दगी चली गअी। अुनमे से किसीको फसल लेनेका शायद ही अवसर मिला। अुनके बादमें रहनेवालोंने तो फिर थोड़े ही समयमें अुतना ही कुश बढ़ा दिया।

हिन्दुस्तानमें दिखाअी देनेवाले भक्तिभावके विषयमें कबीर अेक पदमें कहते हैं:

> अैसी दिवानी दुनिया भक्तिभाव नहीं बूझेजी।
> कोअी आवे तो बेटा मागे यही गुसाअी दीजेजी।
> कोअी आवे दु:खका मारा हम पर किरपा कीजेजी।
> कोअी आवे तो दौलत मागे भेट रुपैया लीजेजी।
> साचेका कोअी गाहक नाही झूठें जगत खीजेजी।
> कहे कबीर सुनो भाअी साधो अंधोंको क्या कीजेजी।

परंतु अध्यात्म और धर्मके विरुद्ध अिन प्रहारों और आजके युनिवर्सिटियोंमें से निकले हुअे विद्वानोंके प्रहारोंमें बहुत अंतर है। संतोंने अपने देशके लोगोंको अधिक निकटसे और गहराअीसे देखा था। और खुद क्लोरोफार्मके नशेका अनुभव ले चुके थे। अिसलिअे अुनका प्रयत्न सिर्फ क्लोरोफार्मका नशा अुतारनेके लिअे था। अर्वाचीन विद्वान् अैसा नहीं मानते। वे मानते हैं कि यदि अध्यात्म और धर्मका चोला फाड़ डाला जाय, तो क्लोरोफार्मका नशा अुतर जायगा और हमारी प्रजामें नवीन प्राणका संचार होगा। यह कपडे बदलकर साहब बनने जैसा है। अिससे 'साहब' तो जरूर कहला सकते हैं। परन्तु यदि मनमें हीनताका संस्कार रह गया हो, तो गोरे साहबके आगे तेजोहीन होकर ही खडा रहना पड़ता है।

सब तरहकी ज्ञान-प्राप्तिमें अेक काल मस्तीका आता ही है। नया अंग्रेजी सीखनेवाला लड़का माताको 'ब्रिंग वॉटर', 'गी वॉम्ट हॉट हॉट ब्रेड' का हुक्म देता है; बादमें संस्कृत सीखना शुरू करता है, तब 'जल आनय' 'अुष्णा अुष्णा गोधपत्रिका यच्छ' के हुक्म देता है। अैसी ही मस्तीका काल तत्त्वज्ञानमें भी आता है। 'मैं ब्रह्म हूं, मैं अिस विश्वका आत्मा हूं, मैं ही राम हूं, मैं ही कृष्ण हू,' अिस तरह बोलता बोलता वह आनदमें झूमने लगता है। भौतिक विद्याओंमें भी अैसी मस्ती चढ़ती है। जिस तरह कोअी भक्त 'राम राम' या 'शिव शिव' कहता है, अुसी तरह वह 'अणु, अणु, अणु' या 'मेटर, मेटर' कहता है। परंतु मस्ती कभी ज्ञान नही हो सकती। वह बदहजमीकी निशानी है। आत्मामें मस्तीके लिअे मुझे कहीं भी अवकाश दिखाअी नही देता। यदि मैं आत्मा या ब्रह्म हूं, तो क्या बाकीका जगत ठीकरा है? यदि मैं ही राम हूं, कृष्ण हूं, अीसु हूं, मुहम्मद हूं, तो जगतके दूसरे प्राणी क्या हैं? और किसीको अैसा कहनेकी मस्ती क्यों नही आती है कि 'मैं ही रामा भगी हूं, मैं ही काना चमार हूं, जगतकी हीनसे हीन वस्तु मैं ही हूं?' यदि अैसी दृढ़ प्रतीति हो गअी हो कि सारा जगत अेक ही चैतन्य तत्त्व है, तो ब्रह्मानंदकी खुमारीके लिअे अवकाश कहां रहता है? चित्तमें मैं और ब्रह्म अिन दोनोके अेक ही समय रहनेके लिअे जगह ही कहा है?

सच्चाअी यह है कि हमारे पूर्वजोंने सारे जगतमें अेक अखण्ड, अविनाशी, अमेय चैतन्यके अस्तित्वका अनुभव किया पर हमने अुसे अिस तरह साधा कि हमारा प्रत्यगभिमान मिटनेके बदले अुलटा पक्का हुआ। हम पक्के व्यक्तिवादी बन गये। जो अपने ही हितकी अधिक चिंता रखता हो और जगतके हितकी ओर बिलकुल अुदासीन वृत्ति रखता हो, वह अधिक सच्चा मुमुक्षु कहलाता है!

हमने जिस तरहसे तत्त्वज्ञान सिद्ध किया, अुसका परिणाम भक्ति-मार्ग पर भी अच्छा नही हुआ। अिससे भक्तिमार्ग कृत्रिम बननेके साथ साथ व्यभिचारी भी बना। अेकेश्वरनिष्ठा, अनन्याश्रय, अेकान्तिक भक्ति, अहैतुकी भक्तिके बढ़नेके लिअे वातावरण ही न रहा। वैदिक

देवोंसे भी देवोंकी संख्या बढ़ गओी और गुरुद्वाहीके लिये रास्ता ज्यादा खुला हो गया सो अलग। "छोड़िके श्रीकृष्णदेव, औरकी जो करू सेव, काटि डारो कर मेरो तीखी तलवारसे"—अैसी अनन्यता कुछ व्यक्तियोंकी ही विशिष्टता बनी। और वह कुछ लोगोंके मतानुसार अनुदारता भी गिनी जाती है। ज्ञानी तो सबके स्तोत्र रचता है, सबको पूजता है और सबकी महिमा बढ़ाता है, और दूसरे ही क्षण कहता है "कौन देव और कौन भक्त, सभी अज्ञानियोंका आचार है!"

जिस स्थितिमें तत्त्वज्ञान और धर्म मूढ़, अविकासशील और प्रगतिविरोधी बन जाय तो कोओी आश्चर्य नहीं।

श्री शंकराचार्यने जिस प्रकार अनुभूतिमात्र आत्माका निरूपण किया है, और श्री वल्लभाचार्यने जिस तरह जगत्‌का ब्रह्मरूपमें वर्णन किया है, वह मुझे बहुत अंशमें मान्य है। परन्तु अिनके मायावाद और लीलावाद मुझे स्थूल या सूक्ष्म किसी भी अवलोकनमें सच्चे नहीं लगते। अिसकी अपेक्षा श्री रामानुजका 'जड़ और जीवरूपी शरीरधारी ब्रह्म' का निरूपण अधिक सरल और कमसे कम स्थूल अवलोकनमें सच्चा लगता है। 'शरीरधारी' के बदले 'स्वभावधारी' कहें, तो गीताके सातवें अध्यायके निरूपणसे वह मिल जाता है। जिस प्रकार व्यवहार-दृष्टिसे वेदान्तको सांख्य-दर्शनका निरूपण लगभग साराका सारा स्वीकार कर लेना पड़ा है, अुसी तरह शांकरवेदान्ती तथा वल्लभवेदान्तीके लिओ जगत्‌के व्यवहारोंमें विशिष्टाद्वैतकी भूमिका रखनी ही पड़ती है। विशिष्टाद्वैत अर्थात् आकाश जैसा अेक नहीं, सफेद और काले जैसा द्वैत नहीं, परन्तु कड़े और कुण्डल जैसी विशेषतावाला अद्वैत। दूसरी तरह कहें तो समानतावाला द्वैत भी कह सकते हैं। "मैं ही राम और कृष्ण हूं" या "मैं ही राजा भंगी या काला चमार हूं", ये दोनों अभ्यासयोग हैं; कल्पनाका विहार हैं, साक्षात् अनुभव नहीं हैं। परन्तु जो राम है, जो कृष्ण है, जो भंगी है, जो चमार है, तथा जो मैं हूं, वे सब अेक ही परम चैतन्यके रूप और घटक हैं और अनेक तरहसे अेक ही शरीरके अवयवोंकी तरह अेक दूसरेके साथ जुड़े हुओ

है, यह असा सत्य है जो अनुभवमें आ सकता है, व्यवहारमें अुतारा जा सकता है, और साधारण बुद्धिके मनुष्योंकी समझमें भी आ सकता है। सामनेकी दीवार जिस दिखाओ देती है, वह 'दिखाओ देती है' कहकर या भुलाकर, 'है ही नहीं' असा कहकर भी, वह है असा मानकर व्यवहार करें या जानें। आत्माका अज्ञान नहीं रह सकता; फिर भी अज्ञानके कारण जगत्का भास होता है, परन्तु अुस अज्ञानका भी वास्तविक अस्तित्व नहीं है।' जिस अुक्तिने तत्त्वज्ञानको असा गूढ़ बना दिया है कि जो वस्तु खुली आंखोंसे चारों ओर फैली हुओ दिखाओ देनी चाहिये, वह शायद ही सपने जैसी या केवल काल्पनिक और 'अिनकार' करने जैसी लगती है।

"पानी बिच मीन पियासी,
मोहि सुन सुन आवत हांसी,
घरमें वस्तु नजर नहीं आवत
बन बन फिरत अुदासी।"

अिसका कारण मुझे यह लगता है कि तत्त्वज्ञान और धर्मका विकास आज कितनी ही सदियोंसे हमारे देशमें केवल तार्किक तथा साहित्यिक विलासका विषय बन गया है, शोधनका नहीं। जो अुसका केवल शौक या धंधेके लिअे ही अभ्यास करते हैं, वे बच जाते हैं; परन्तु जो सत्यको प्राप्त करनेके लिअे अुसका आधार लेते हैं, वे बेचारे हैरान होते हैं। अिसीलिअे कबीर कटाक्ष करते हैं :—

"*गौतम, कपिल, कणाद अरु शेष, जैमिनी, व्यास,*
यह धीवर यह जाल रची डाले जीवको फास।"

जब तर्कशास्त्र और साहित्यका विकास अिस प्रकारसे होता है कि जिस वस्तुको अविद्वान् मनुष्य सरलतासे समझ जाता है, अुसे समझनेमें विद्वान् अुलझनमें पड जाय अथवा अुसे बहुत विस्तारसे समझाना पड़े तब यह मानना चाहिये कि अुसके विकासमें कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। विद्वानोंकी बहुतसी चर्चाअें अिस प्रकारकी होती हैं। अुदाहरणके लिअे, किसी अविद्वानोंकी सभामें जाकर हम पूछें कि गांधीजीको

साहित्यकार कह सकते हैं या नहीं, तो वे कहेंगे कि हम तो केवल अुनके ही लेख पढ़कर मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं और हमें अुन्हींके लेख सबसे ज्यादा समझमें आते हैं। अुन्हें यदि साहित्यकार न कहा जाय तो किसे कहा जाय? फिर भी, विद्वानोंकी सभामें अिस प्रश्न पर कमसे कम दो दो दिनतक चर्चा चलाना कठिन नहीं होगा। और अैसा भी हो सकता है कि अन्तमें बहुमतसे वे अैसे निर्णय पर पहुचें कि गांधीजीको लेखक तो वह सकते हैं, परन्तु साहित्यकार नहीं।

अिसी तरह किसी अविद्वान्‌को हम पूछें कि मिठास किसे कहते हैं? तो वह कहेगा कि गुड़के जैसा स्वाद मिठास है। वह मान लेगा कि या तो आपने गुड़ चखा होगा या चख कर जान लेंगे। और यदि अुसे अधिक पूछें कि गुड मीठा क्यों लगता है, तो अधिक पिष्ट-पेषण किये बिना अेकदम अुत्तर देगा कि यह अुसका स्वाभाविक धर्म ही है। परन्तु यदि किसी विद्वान्‌को प्रश्न पूछेंगे तो वह बहुत विचार करके कदाचित् यह अुत्तर देगा. "पदार्थोंमें रहनेवाले कुछ कार्बोहाअि-ड्रेट तथा कुछ सल्फाअिड रसायनोंका जीभकी लारमें रहनेवाले अमुक निश्चित रसायनोंके साथ सम्बन्ध होनेसे जीभके ज्ञानतंतुओं पर जो असर होता है, अुसे लोग मिठासके नामसे पहचानते हैं। और अुसका अैसा ही असर क्यों होता है, अिसके विषयमें अभी तक निश्चित रूपसे नहीं जाना जा सका है।" यह जवाब बेचारा अविद्वान् तो समझ ही नहीं सकेगा, और विद्वान समझकर भी ज्ञानमें अविद्वान्‌से आगे नहीं बढ़ सकेगा।

अिसी प्रकार किसी अविद्वान्‌से हम पूछें कि पाप क्या है और वह कैसे होता है, तो वह कहेगा कि हमारी विवेकबुद्धि और अन्तःकरण जो न करनेके लिअे कहे अुसे करना पाप है; अथवा अैसा काम जिसमें दूसरेके साथ अन्याय हो या दूसरेको पीड़ा पहुचे, पाप है; और वह हममें रही हुअी काम, क्रोध, लोभ अित्यादि बलवान वासनाओंके कारण होता है। साधारण जिज्ञासु, परन्तु अविद्वान् मनुष्य अितने निरूपणमें से व्यवहारोपयोगी नियम बना लेगा। परन्तु यदि किसी विद्वान्‌से ये प्रश्न पूछेंगे, तो वह कहेगा कि पापके स्वरूपके विषयमें

विद्वान् लोग अभी तक छानबीन कर रहे हैं और किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं; क्योंकि पाप-पुण्य सापेक्ष हैं या निरपेक्ष, सर्वदेशी और सर्वकालीन है या देशकालानुसारी, अिन प्रश्नोंका अभी तक निश्चित निर्णय नहीं हो सका है। यह क्यों होता है, यह निश्चित करना तो और भी कठिन है। क्योंकि काम-क्रोध-लोभ अित्यादि वृत्तियोंको अिसमें जो खराब ही मान लेना पड़ता है, अुसके लिअे कोअी आधार नहीं है। अिस तरह विद्वान् अुलझनमें पड़ जाते हैं। अविद्वान् अुलझनमें नहीं पड़ता, क्योंकि वह जानता है कि मनुष्यमें सफेद और कालेकी परीक्षा करनेकी स्वाभाविक नेत्रशक्ति है, अुसी तरह काम-क्रोध-लोभ अित्यादिकी योग्य और अयोग्य वृत्तियां कौनसी हैं, अुसे परखनेकी भी कुछ कुदरती शक्ति रहती है। अुसके निर्णयों पर आधार रखकर जीवनके सामान्य काम हल हो जाते हैं। जिस तरह समुद्रके अमुक रंगको लाल कहना या हरा, यह अुलझन शायद ही पैदा होती है, अुसी तरह अमुक कामको पाप कहना या पुण्य, यह अुलझन भी रोज रोज पैदा नहीं होती। किसी समय अैसा प्रसंग आने पर किसी अधिक अनुभवी और चतुर व्यक्तिको पूछकर निर्णय कर लिया जायगा।

सरल वस्तुको कठिन बनानेकी कलाका तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयमें काफी विकास हुआ है। और यह कला ही बहुतसे धार्मिक झगड़ोंका मूल है। जो वस्तु प्रत्यक्ष अनुभवसे या प्रयोग द्वारा जानी जा सकती है अुसे वादविवाद द्वारा सिद्ध करनेकी कोशिश करनेके अैसे ही परिणाम आते हैं। चार्ल्स द्वितीयकी अेक बात है। अुसने रॉयल सोसायटीके सामने अेक समस्या रखी कि लबालब भरे हुअे पानीके बर्तनमें मरी हुअी मछली छोड़नेसे थोड़ा पानी ढुल जाता है, परंतु जीवित मछली छोडनेसे नहीं ढुलता अिसका क्या कारण है? कहते हैं कि रॉयल सोसायटीके विद्वानोंने अिसके लिअे अनेक प्रकारके खुलासे लिख कर भेजे। परतु किसीके खयालमें यह नहीं आया कि पहले अिसका तो निर्णय कर लें कि जीवित मछली छोड़ने पर पानी ढुलता है या नहीं! अिसी तरह तत्त्वज्ञानका पंचीकरणका विषय लीजिये। आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी

होती है, अिस तरह हम पिछले अेक हजार वर्षसे रटते आये हैं। अुस पर बड़े बड़े संस्कृत और प्राकृत विवेचन लिखे गये हैं। और अेक पंचपंचीकृत गणित भी है। अुसमें कहा गया है कि हर अेक महाभूतमें अुस महाभूतका आधा और दूसरे चारमें से हरअेकका आठवां भाग है। यह कितना काल्पनिक गणित है। कपिलने अथवा जो कोअी अिसका मूल अुत्पादक हो अुसने तो कुछ अवलोकन करनेके बाद अिस कार्यकारणकी परंपराकी व्यवस्था की है। परंतु अुसके बाद शायद ही किसीने अुसमें संशोधन-परिवर्धन करनेकी या अुसके सत्यको कसौटी पर कसनेकी तकलीफ अुठाअी है। हां, अुसे केवल अधिक दृढ़ बनानेके लिअे कल्पना-विलास जरूर किया है।

अिसी तरह साधारण मनुष्यको यह समझनेमें देर नहीं लगेगी कि जगत्‌में निश्चित नियमाधीनता है। कुदरतके कुछ अचल नियम हैं। जगत्‌का तंत्र हमारी अिच्छानुसार भले न चलता हो, अुसमें अव्यवस्था नहीं है। सूखा पत्ता भी किसी नियमके वश होकर ही अपनी जगहसे खिसकता है। फिर भी, योगवासिष्ठके विद्वान् रचयिताने जगत् केवल मायिक है, जिसमें किसी प्रकारकी निश्चित व्यवस्था है ही नहीं, यह सिद्ध करनेके लिअे अरेबियन नाअिट्सको भी मात कर देनेवाली आश्चर्यजनक कथाओंकी कल्पना की है! अुसने पत्थरमें कमल अुगाये हैं, सांख्य कार्यकारण परंपरासे विभिन्न प्रकारकी परंपराओंवाली सृष्टियोंका वर्णन किया है। हरअेक कल्पमें और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें राम, कृष्णादिके अवतारोंकी आवृत्तियां निकाली हैं। और संयमी-स्वच्छंदी, चतुर-पागल, दैवी-राक्षसी सब प्रकारके ब्रह्मनिष्ठ समाज सामने रखे हैं। बेचारे साधकको अिन सबका बारबार पारायण करना पड़ता है। और यह सब अैसा ही है, जिस तरह अपनी बुद्धिमें अुतारनेके लिअे प्रयत्न करना पड़ता है और जब अिसमें शंकाअें पैदा हों अथवा यह वस्तु अनुभवमें न अुतरे, तब अपनी साधनामें कुछ त्रुटि समझकर अुद्विग्न रहना पड़ता है। जो अिन सबका शास्त्रकी रीतिसे बार बार निरूपण कर सकता है, वह हमारे देशमें ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु बनता है!

तत्त्वज्ञानमें सूक्ष्मता और कठिनता ज़रूर है। बुद्धिमें न अुतर ऐसी अनेक विगतें अगम्य हैं। केवल तत्त्वज्ञान ही कठिन है, नहीं। परन्तु अिसे गूढ़ (mysterious) मनवाने या बनानेके या होते हैं, अुनमें सार ध्वनि नहीं है। स्वामीनारायण सम्प्रदायमें अिसे गुह्य ज्ञान' — गुप्त रीतिसे शिष्य पर अनुग्रह करके दिया जानेवाला कहा जाता है। अैसे ज्ञानके प्रति दूसरोंकी दृष्टिसे देखा जाता है। में बहुतसी गूढ़ता तो केवल शब्दाडम्बर बढ़ाकर ही पैदा की है। तीन देह, तीन अवस्था, अुनके तीन अभिमानी, तीन सृष्टि, सृष्टिकी अवस्थायें और अुनके अभिमानी तीन ओश्वर, चार पांच कोश, सात भूमिकायें, चौदह प्रकारका ब्रह्मानंद, स्वर्ग, , गोलोक, अक्षरधाम, जीव-ओश्वर-माया-ब्रह्म-परब्रह्म, जीवन्मुक्ति मुक्ति, अित्यादि अित्यादिके पीछे कितना शब्दविलास हुआ है। ब्दविलास मनुष्योंकी वास्तविक समस्याको हल करनेमें अधिक नहीं देता। अिन सबमें कुछ विचारने या समझने जैसा है ही नहीं, ात नहीं। परंतु अिसके आसपास जिस गूढ़ताका कुहरा छा है, अुससे तत्त्वज्ञान या धर्मको लाभ नहीं होता।

अिसी तरह धर्मनिरूपणमें मूलको छोड़कर शाखाओंको पोसने अुन्हें चमत्कारोंके शृंगारसे सुसज्जित करनेका आडंबर हुआ है। हजार वर्ष पहले बुद्धने लोगोंके सामने पांच व्रत रखे थे: नहीं पीना, हत्या नहीं करना, चोरी नहीं करना, व्यभिचार रना और असत्य नहीं बोलना। बौद्धधर्ममें अिससे अधिक विचार और विषय भी हैं, अुसका अेक अलग तत्त्वज्ञान भी ंतु ये पांच नियम सम्प्रदायोंसे परे सार्वजनिक अुपदेश हैं। अिस को किये २५०० वर्ष हो गये। परन्तु सवा सौ वर्ष पहले हो ामीनारायणको भी,

"दारू, माटी,[1] चोरी, अवेरी,[2] चारनो त्याग करी,
भजी त्योनें सहजानंद हरि"

. माटी = मांस; २. अवेरी = व्यभिचार।

अैसे अुपदेशके द्वारा गुजरात-काठियावाड़की आम प्रजामें अपनी प्रवृत्ति चलानी पड़ी। पाचमें से अेक कम करना पड़ा, और वह भी चौबीस-सौ वर्षके बाद! परंतु आज भी क्या स्थिति है? अधिकसे अधिक हम लोगोंको शराब छोड़नेके लिअे कह सकते हैं। मांसाहारका निषेध करनेकी आज हमारी हिम्मत नहीं है। अुलटे, शाकाहारियोंमें भी अिसका प्रचार होनेके चिह्न दिखाअी देते है। दवाके नामसे तो लिया ही जाता है। व्यभिचार, असत्य और चोरीके प्रति तो लगभग आख-मिचौनी करके ही चलना पड़ता है। अैसी हालतमें आम प्रजाके लिअे धर्मोपदेश कितनी बातोंमें मर्यादित होना चाहिये, अिसकी कल्पना करनी चाहिये।

शराब, मांस, चोरी, व्यभिचार और असत्य — अिन बातोंमें विद्वान और संस्कारी कहे जानेवाले वर्ग अविद्वान और असंस्कारी लोगोंसे ज्यादा अूचे अुठे होते हैं, अैसा कुछ नहीं। फिर भी, यदि कोअी धर्मोपदेशक केवल अितनी ही बातों पर भार देकर विद्वानोंके सामने व्याख्यान दे, तो वह प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता। अिसलिअे धर्मविवेचकोंने मूलोंको छोड़कर शाखाओंको पोसनेका बहुत प्रयत्न किया है। खाद्य भोजन कौनसा, अखाद्य भोजन कौनसा, जूठा क्या, साफ क्या, कौन स्पृश्य, कौन अस्पृश्य अित्यादिका सूक्ष्म विवेचन करते है। नहानेसे, खेती करनेसे, सन्ध्या हो जानेके बाद भोजन करनेसे, बिना अुबाला हुआ पानी पीनेसे तथा पैदल चलनेसे कितनी हिंसा होती है, अिसकी सूक्ष्म समीक्षा करते हैं, परन्तु धर्मके मूलोंको बेधड़क अुखाड़ते हैं। अर्थात् चोरी, व्यभिचार, मानवहिंसा या मोती अथवा रेशम जैसी धन देनेवाली व्यापारकी हिंसा पर मौन रखते हैं। फिर भी हम धर्मका कितनी सूक्ष्मतासे विचार करते हैं या कितनी बारीकीसे अुसका पालन करते हैं, अिसका हमें अभिमान होता है! अिससे यह सिद्ध होता है कि हमारी विचार करनेकी रीति कितनी विकृतिपूर्ण है।

हम किसी धार्मिक पुरुषके जीवनचरित्र तथा सम्प्रदायकी पुस्तकें देखें। अुनमें से सच्चे या बनावटी चमत्कारोंकी बातें, पूजायें,

स्वागत-समारोह, भेंट-पूजा, भोज, शृंगार अित्यादिकी बातें निकाल डालें और केवल चरित्रनायकका अितिहास और अुसके चरित्र और गुणोंका चित्र देखनेका प्रयत्न करें। अैसा करके देखेंगे तो पता चलेगा कि यह काम धूलमें से धानके कण ढूंढ़नेके समान कठिन है, और फिर भी हम कहीं भी भूले नहीं, अैसा विश्वास नहीं होगा।

मेरे कहनेका आशय यह नहीं है कि यह हकीकत केवल हमारे ही देशकी है। सब देशोंके तत्त्वज्ञान और धर्ममें ये दूषण घुसे हुअे हैं। परन्तु हमारा तत्त्वज्ञान और धर्मविचार जगतमें सबसे श्रेष्ठ है, अैसा हमारा दावा है। अिसलिअे ये दूषण हमारे लिअे तो अधिक लज्जास्पद हैं, और अुनका संशोधन अधिक आवश्यक है।

विद्वानोंको अुलझनमें डालनेवाले अनेक प्रश्नोंमें से ये दो प्रश्न भी हैं — परमेश्वर है या नहीं; और है तो जगतमें अन्याय, दुःख अित्यादि क्यों हैं? अिनकी यहां चर्चा करना कठिन है। यहां तो अितना ही कहूंगा:

परमेश्वर है या नहीं, अिस प्रश्नका केवल तर्कके द्वारा फैसला करना चाहें, तो वह कभी नहीं हो सकता। अिसमें अनुभवशुद्धि, विचारशुद्धि और भाषाशुद्धि, तथा पहली दोके आधारके रूपमें भावना-शुद्धि—अिन चारोंकी अपेक्षा है। जगत् केवल जड़ तत्त्वका बना हुआ है, या जड़ और जीव दो तत्त्वोंका है या अुनके सिवाय अेक परमात्मा तत्त्व भी है, या न तो पुरुष है और न प्रकृति है, केवल शून्यमें से ही सब पैदा हुआ है; और यह आत्मा या परमात्मा (दो में से जो भी हो) सगुण है या निर्गुण, कर्ता है या अकर्ता, अिन दोनोंके बीचमें द्वैत है, अद्वैत है या विशिष्टाद्वैत है? अैसे अैसे कभी प्रश्न तत्त्वज्ञानके रास्ते जानेवाले हरअेकके मनमें अुठते हैं। प्राचीन कालसे अिन प्रश्नों पर चर्चा होती आअी है और भविष्यमें भी होगी। जगत्‌में परमेश्वर है तो दुःख और अन्याय क्यों होते हैं, अिसका अुत्तर भी अिन मूल प्रश्नोंके योग्य निराकरणसे संबंध रखता है। जिनके मनमें प्रामाणिक शोधन करते हुअे ये शंकाअें अुठती हैं, अुनमें

परस्पर असकी चर्चा हो तो भी झगड़ा होनेका कोओी कारण नहीं है। परमेश्वरके अस्तित्वके विषयमें अश्रद्धा होने मात्रसे कोओी तत्त्व-जिज्ञासु दुराचारी नहीं हो जाता। परमेश्वरमें श्रद्धा रखने जितनी ही महत्त्वपूर्ण वस्तु मानवतामें श्रद्धा रखना है। मानवतामें जिसकी श्रद्धा नहीं, वह परमेश्वरका अस्तित्व स्वीकार करे या न करे, नास्तिक ही है। अुसके मनमें ये प्रश्न श्रेयशोधन करते हुओे नहीं अुठते; वे तो व्यक्तिगत प्रेयशोधनको अनुकूल बनानेके लिओे अिन प्रश्नोंकी आड़ लेते हैं।

धार्मिक झगड़ोंको देखेंगे तो मालूम होगा कि सब धर्म अनेके-श्वरवादी हैं। अिनमें पहला ओीश्वर सब धर्मोंमें अेक ही है। अुसका स्वरूप सद्रूप माना गया हो या असद्रूप, अुसकी सद्रूपता तथा असद्रूपता सनातन और स्वाभाविक स्वीकार की गओी है। परन्तु अिस ओीश्वरके साथ हरअेक धर्म दूसरा अेक या अधिक ओीश्वर — अथवा अुसके पेशवा या प्रतिनिधि — रखना चाहता है, और यही किसे रखना तथा किस रूपमें रखना असके लिओे झगड़े होते हैं। क्योंकि अुसके लिओे यह दावा किया जाता है कि वह तारनहार है। और अिस तरहका दावा करनेवालोंको सिर्फ अपने अुद्धारकी चिंता नहीं होती, परंतु दूसरेके अुद्धारकी होती है। तथा आवश्यकता पड़ने पर बला-त्कारसे, धोखा देकर या लालच बताकर भी अुसे करनेका आग्रह होता है। अिसलिओे, दूसरे धर्मोंके प्रतिस्पर्धी पेशवाओंको पदभ्रष्ट करनेके लिओे लड़ाओी करना जरूरी लगता है। जितनी जिहादें पुकारी जाती हैं, वे सब अिन पेशवाओंके नामसे ही पुकारी जाती हैं। अेकको शिवकी अुपासना चालू करनी होती है, दूसरेको विष्णुकी, तीसरेको विष्णुके किसी खास अवतारकी, चौथेको गणपतिकी, पांचवेंको देवीकी, छठेको तीर्थंकरोंकी, सातवेंको बुद्धकी, आठवेंको पैगम्बरोंकी, नवेंको मसीहकी और दसवेंको आखिरी पैगम्बरकी ही। अिसके अलावा हिन्दूधर्मके भिन्न भिन्न गुरु सम्प्रदायोंमें अपने अपने गुरु परब्रह्मकी। हरअेकको अैसा लगता है कि मेरा पेशवा ही सच्चा है, दूसरे गौण-अधिकारी, पदच्युत हुओे अथवा ढोंगी हैं। मराठाशाहीके समयमें धीरे

स्वागत-समारोह, भेंट-पूजा, भोज, शृंगार अित्यादिकी बातें निकाल डालें और केवल चरित्रनायकका अितिहास और अुसके चरित्र और गुणोंका चित्र देखनेका प्रयत्न करें। अैसा करके देखेंगे तो पता चलेगा कि यह काम मूलमें से धानके कण चुननेके समान कठिन है, और फिर भी हम कहीं भी भूले नहीं, अैसा विश्वास नहीं होगा।

मेरे कहनेका आशय यह नहीं है कि यह हकीकत केवल हमारे ही देशकी है। सब देशोंके तत्त्वज्ञान और धर्ममें ये दूषण घुसे हुअे हैं। परन्तु हमारा तत्त्वज्ञान और धर्मविचार जगतमें सबसे श्रेष्ठ है, अैसा हमारा दावा है। अिसलिअे ये दूषण हमारे लिअे तो अधिक लज्जास्पद हैं, और अुनका संशोधन अधिक आवश्यक है।

विद्वानोंको अुलझनमें डालनेवाले अनेक प्रश्नोंमें से ये दो प्रश्न भी हैं — परमेश्वर है या नहीं; और है तो जगतमें अन्याय, दुख अित्यादि क्यों हैं? अिनकी यहां चर्चा करना कठिन है। यहां तो अितना ही कहूंगा .

परमेश्वर है या नहीं, अिस प्रश्नका केवल तर्कके द्वारा फैसला करना चाहें, तो वह कभी नहीं हो सकता। अिसमें अनुभवशुद्धि, विचारशुद्धि और भाषाशुद्धि, तथा पहली दोके आधारके रूपमें भावना-शुद्धि-अिन चारोंकी अपेक्षा है। जगत् केवल जड़ तत्त्वका बना हुआ है, या जड और जीव दो तत्त्वोंका है या अुनके सिवाय अेक परमात्मा तत्त्व भी है, या न तो पुरुष है और न प्रकृति है, केवल शून्यमें से ही सब पैदा हुआ है; और यह आत्मा या परमात्मा (दो में से जो भी हो) सगुण है या निर्गुण, कर्ता है या अकर्ता, अिन दोनोंके बीचमें द्वैत है, अद्वैत है या विशिष्टाद्वैत है? अैसे अैसे कअी प्रश्न तत्त्वज्ञानके रास्ते जानेवाले हरअेकके मनमें अुठते हैं। प्राचीन कालसे अिन प्रश्नों पर चर्चा होती आअी है और भविष्यमें भी होगी। जगत्में परमेश्वर है तो दुःख और अन्याय क्यों होते हैं, अिनका अुत्तर भी अिन मूल प्रश्नोंके योग्य निराकरणसे संबंध रखता है। जिनके मनमें प्रामाणिक शोधन करते हुअे ये शंकाअें अुठती हैं, अुनमें

परस्पर जिसकी चर्चा हो तो भी झगड़ा होनेका कोअी कारण नहीं है। परमेश्वरके अस्तित्वके विषयमें अश्रद्धा होने मात्रसे कोअी तत्त्व-जिज्ञासु दुराचारी नहीं हो जाता। परमेश्वरमें श्रद्धा रखने जितनी ही महत्त्वपूर्ण वस्तु मानवतामें श्रद्धा रखना है। मानवतामें जिसकी श्रद्धा नहीं, वह परमेश्वरका अस्तित्व स्वीकार करे या न करे, नास्तिक ही है। अुनके मनमें ये प्रश्न श्रेयशोधन करते हुअे नहीं अुठते; वे तो व्यक्तिगत प्रेयशोधनको अनुकूल बनानेके लिअे अिन प्रश्नोंकी आड़ लेते हैं।

धार्मिक झगड़ोंको देखेंगे तो मालूम होगा कि सब धर्म अनेके-श्वरवादी हैं। अिनमें पहला अीश्वर सब धर्मोंमें अेक ही है। अुसका स्वरूप सद्रूप माना गया हो या असद्रूप, अुसकी सद्रूपता तथा असद्रूपता सनातन और स्वाभाविक स्वीकार की गअी है। परन्तु अिस अीश्वरके साथ हरअेक धर्म दूसरा अेक या अधिक अीश्वर — अथवा अुसके पेशवा या प्रतिनिधि — रखना चाहता है, और यही किसे रखना तथा किस रूपमें रखना अिसके लिअे झगड़े होते हैं। क्योंकि अुसके लिअे यह दावा किया जाता है कि वह तारनहार है। और अिस तरहका दावा करनेवालोंको सिर्फ अपने अुद्धारकी चिंता नहीं होती, परंतु दूसरेके अुद्धारकी होती है। तथा आवश्यकता पड़ने पर बला-त्कारसे, धोखा देकर या लालच बताकर भी अुसे करनेका आग्रह होता है। अिसलिअे, दूसरे धर्मोंके प्रतिस्पर्धी पेशवाओंको पदभ्रष्ट करनेके लिअे लड़ाअी करना जरूरी लगता है। जितनी जिहादें पुकारी जाती हैं, वे सब अिन पेशवाओंके नामसे ही पुकारी जाती हैं। अेकको शिवकी अुपासना चालू करनी होती है, दूसरेको विष्णुकी, तीसरेको विष्णुके किसी खास अवतारकी, चौथेको गणपतिकी, पांचवेंको देवीकी, छट्ठेको तीर्थंकरोंकी, सातवेंको बुद्धकी, आठवेंको पैगम्बरोंकी, नवेंको मसीहकी और दसवेंको आखिरी पैगम्बरकी ही। अिसके अलावा हिन्दूधर्मके भिन्न भिन्न गुरु सम्प्रदायोंमें अपने अपने गुरु परम्परकी। हरअेकको अैसा लगता है कि मेरा पेशवा ही सच्चा है; दूसरे गौण-अधिकारी, पदच्युत हुअे अथवा ढोंगी हैं। मराठाशाहीके समयमें धीरे

अिसका अुपाय क्या है? कितने ही लोग कहते हैं कि धर्मका अुच्छेद करना चाहिये। खूनकी नदियां बहाकर भी धर्मका अुच्छेद करना शक्य नहीं है। जब तक मनुष्य विचारी प्राणी है, श्रेयका शोधक है, ज्ञानका शोधक है, तब तक धार्मिक समाजोंकी रचना होती रहेगी। और जब तक अुसकी बुद्धि और चरित्रका विकास अपूर्ण है तब तक अज्ञान, अंधविश्वास, पक्ष और झगडे भी होने ही रहेंगे। धर्मके अलावा दूसरे क्षेत्रोंमें भी कुछ कम झगडे नहीं होते। अिस सारी परिस्थितिमें से हमें मानवकल्याणके मार्ग ढूंढने हैं। परिशिष्टमें दिये हुअे सूत्र अिसी हेतुसे लिखे गये हैं। पाठकोंसे निवेदन है कि वे अुन पर मनन करें।

* * *

अंतमें, मानवकी हिंसा न करना, सब मनुष्योंके विषयमें सम-वृत्ति, सर्वधर्मसमभाव, तथा असत्य, मद्य, चोरी और व्यभिचारसे परहेज, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वच्छता, और जगतके प्रति कर्तव्य-निष्ठा — ये मनुष्यके कमसे कम सदाचार अथवा धर्म हैं। अिनके बिना बाकी सारा तत्त्वचिंतन, योगाभ्यास या धर्मपालन अपनी छायाको पकड़नेके लिअे की गअी होड ही है। और सारी सूक्ष्मचर्चा परि-णाममें केवल धुंधली बुद्धि ही है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ अीश – १५

१

तत्त्वज्ञान

प्रस्तावना

१ वेद, अर्थात् ज्ञान, अर्थात् अनुभव। वेदान्त अर्थात् ज्ञानका —अनुभवका अंत, जिस मर्यादासे आगे अनुभव नहीं हो सकता। केवल वेद नामके ग्रंथ या वेदान्त नामक दर्शन ही वेद या वेदान्त नहीं हैं।

२. तत्त्वज्ञानमें ग्रंथका या अनुभवी पुरुषका महत्त्व या प्रामाण्य अुतने ही अंश तक माना जाना चाहिये, जितने अंश तक वह अनुभवको प्रकट करता है या अुसकी ओर हमें ले जाता है।

३. अिस तरह प्राचीन श्रुति-स्मृतियोंमें, मध्यकालीन संतवाणीमें, अर्वाचीन ग्रंथोंमें, बाअिबल, कुरान, बौद्धग्रन्थोंमें या जगतकी किसी भी भाषाकी प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तकोंमें तथा किसी भी देशके किसी जीवित संतकी वाणीमें वेद तथा वेदान्तके वचन हो सकते हैं, और अुससे विरुद्ध वचन भी हो सकते हैं। अिसके लिअे ग्रन्थ पढ़नेका अुत्साह रखनेवालेको सब ग्रंथोंको समान आदर तथा विवेचक बुद्धिसे देखना चाहिये। अुस अवलोकनका हेतु है अपने अनुभवको दूसरेके अनुभवसे मिलाना, और अपने अुत्कर्षके लिअे अुसमें से सूचना प्राप्त करना।

४. सब शास्त्रोंके बीच किसी भी तरह अेकवाक्यता बैठानेका प्रयत्न करना ठीक नहीं है।

५. अनुभव और अनुभवकी अुपपत्ति अर्थात् भाषाके द्वारा समझाना और सजाना अेक बात नहीं है। अेक ही तरहका अनुभव होने पर

भी अलग अलग अनुभव करनेवालोंके समझाने और मजानेमें फर्क हो सकता है, अथवा अिससे अुलटा, अेक ही प्रकारकी भाषाका प्रयोग होने पर भी अुनके अनुभवमें फर्क हो सकता है। अिसलिअे अेक ही विषयके निरूपणमें परिभाषाका तथा मण्डनका फर्क पड़ता है अथवा अेक ही परिभाषा और मण्डनमें से अनेक अर्थ निकलते हैं।

६. खास करके जब मूल वस्तु अदृश्य होती है और अुसके परिणाम ही दृश्य होते हैं, तब अुस वस्तुके स्वरूपके विषयमें तथा अुसके और परिणामके बीच हुअे व्यापारोंके विषयमें अैसी अुपपत्तिके बारेमें बारबार फर्क पडनेकी सभावना रहती है।

७. ज्ञानतंतुओंके द्वारा होनेवाले (जैसे कि ज्ञानेन्द्रियों, षड्‌र्मियों, भावनाओं अित्यादिके) सब अनुभवोंका भाषा द्वारा पूर्ण रूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता। केवल अुनका अंगुलिनिर्देश ही किया जा सकता है। जैसे कि, मिठास अथवा दया, अिन दोनोंका हम सबको अनुभव है, अैसा मानकर ही अिन शब्दोंका हम सफल अुपयोग कर सकते हैं। अैसा भी संभव है कि अेक मनुष्यको अमुक अनुभव होने पर भी अुसके प्रति अुसका ध्यान न जाता हो। अुसके लिअे भी भाषा द्वारा किया हुआ वर्णन अुपयोगी हो सकता है। परंतु जिस वेदनाका किसी मनुष्यको कभी अनुभव ही नहीं हुआ हो, अुसे शब्दोंसे समझानेमें पूरी सफलता नहीं मिलती। जैसे जिसे कभी महारोग न हुआ हो, अुसे वर्णनसे महारोगीकी वेदनाका पूरा खयाल नहीं आ सकता।

८. अदृश्य पदार्थोंके स्वरूपको, दृश्य परिणामोंके अदृश्य कारणोंके स्वरूपको, कारण और कार्यके बीचके व्यापारोंके स्वरूपको, तथा जिस अनुभवके प्रति ध्यान न गया हो तथा जो अनुभव कभी हुआ ही न हो, अुसे मनुष्य अुपमा या रूपकोंके द्वारा समझने-समझानेका प्रयत्न करता है। अर्थात् अुसकी किसी स्थूल पदार्थ या स्थूल व्यापारके साथ तुलना करता है और अुसके जैसा ही यह पदार्थ या व्यापार होगा अैसी कल्पना करता है। अिस तरह अदृश्यको दृश्यकी परिभाषामें समझाने सजानेको 'वाद' कह सकते हैं। अैसे वादोंका विज्ञानशास्त्रों तथा

तत्त्वज्ञान दोनोंमें अुपयोग होता है। विश्वके मूल तत्त्वके अदृश्य स्वरूपके विषयमें तथा अुसके और दृश्य विश्वके बीचके संबंधके विषयमें अिस तरह वाद रचे जाते हैं। मायावाद, लीलावाद, पुनर्जन्मवाद अित्यादि अिसी तरहके वाद हैं।

९. वाद कोअी सिद्धान्त-नियम अथवा अटल कानून नहीं है, परंतु अेक कामचलाअू समझ है। हरअेक पीढ़ीमें जैसे जैसे जीवनमें अनुभव और अवलोकन बढ़ता है और सूक्ष्म होता है तथा विज्ञान-शास्त्रोंका विकास होता है, वैसे वैसे वादोंके स्वरूपमें परिवर्तन होता रहता है। कलकी अुपपत्ति आज छोड़ दी जाती है और नवीन अुपपत्ति पेश की जाती है। अिस वाद द्वारा हम जितने अंशमें अदृश्य पदार्थों या व्यापारोंको समझा सकते हैं, अुतने अंशमें वह अेक अुपयोगी साधन होता है। जब अिस वादके द्वारा किसी अनुभवको ठीक तरहसे नहीं समझाया जा सकता, तब अुसे छोड़ना पड़ता है। अब तकके सारे अनुभवोंको अुसके द्वारा समझानेमें सफल हों, तो वह अधिक श्रद्धायोग्य होता है। अैसा करनेमें कोअी वाद सिद्धान्त अथवा नियमके रूपमें भी सिद्ध हो जाता है। परन्तु तब तक अमुक वादको ही पकड़ रखनेका आग्रह सत्यशोधनमें विघ्नरूप होता है।

१०. तत्त्वज्ञानका विज्ञानके साथ अधिक निकट संबंध है। विज्ञानका विचार सूक्ष्म होने पर तत्त्वज्ञानमें पहुंच जाता है और तत्त्वज्ञानका विचार तफसीलोंमें अुतरते अुतरते विज्ञानके क्षेत्रमें पहुंच जाता है। तत्त्वज्ञान विज्ञानका निचोड़ और विज्ञान तत्त्वज्ञानका प्रमाण बने, तो वे परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

११. अनुभवोंके ढूंढ़ने, सुधारने, विचारने, तोलने तथा भाषाके द्वारा प्रकट करनेके लिअे तर्कशास्त्र अिन दोनोंके लिअे सहायक हो सकता है।

१२. परन्तु हमारे देशमें तत्त्वज्ञानको विज्ञानसे अलग करके मानो वह तर्कशास्त्रका अेक परिशिष्ट हो अिस तरह अुसका अभ्यास करनेकी प्रथा पड़ गअी है। वादोंको सिद्धान्त अथवा नियमोंका महत्त्व दिया गया है और वे साम्प्रदायिक ममत्वके विषय बन गये हैं। अनुभवोंसे,

वादोंकी मददसे समझानेके बदले केवल वादोंको समझानेके लिये बड़ी बड़ी कथायें रची गयी हैं। जिससे तर्कशास्त्रका तथा कल्पनाशक्तिका दुरुपयोग हुआ है। और तत्त्वज्ञान बहुत अंशमें तार्किक और काल्पनिक बन गया है।

१३. अिसका परिणाम यह हुआ है कि जिज्ञासुके लिये तत्त्वज्ञानका पाण्डित्य सहायक होनेके बदले बाधक होता है।

१४. और तत्त्वज्ञानका जीवनके सामान्य व्यवहारोंके साथ अर्थात् धर्म, अर्थ और कामके पुरुषार्थोंके साथ — निकट संबंध है। ये चारों अेक दूसरे पर आधार रखनेवाले और परस्पर अुपकारक पुरुषार्थ हैं।

१५. परंतु अिन तीनोंके और तत्त्वज्ञानके बीच रात और दिनका-सा विरोध है, अैसा समझानेसे ज्ञानकी साधना अुलटी दिशामें चली गयी है, और कभी कभी तो आलस, स्वार्थ तथा दुराचारकी तरफ भी झुक गयी है।

१६. सत्यकी शोधके लिये हमारे देशमें अनेक मनुष्योंने काफी त्याग करके अपार परिश्रम किया है, फिर भी अूपरकी मान्यताके परिणामस्वरूप तत्त्वज्ञानने ज्यादातर व्यक्तिवादका ही पोषण किया है।

१७. और, अुसीके परिणामस्वरूप वेदांतके लेखकोंने बाल, अुन्मत्त और पिशाचवृत्तिके ज्ञानियोंका अेक वर्ग पैदा किया है। जिसमें विचारदोष है। अैसी वृत्तिको आचार, विचार या साधनामें हुआी किसी भारी भूलका परिणाम समझना चाहिये, और वैसे लोगोंकी वह अपूर्णता मानी जानी चाहिये।

१८. अैसी ही दूसरी भूल ज्ञानियोंको चरित्र और शीलके नियमोंसे परे माननेमें हुआी है। ज्ञानीका चरित्र और शील सामान्य मनुष्योंसे बहुत अूंचा होना चाहिये और अुसके द्वारा जिस तरह संशोधन और मार्गदर्शन होना चाहिये, जिससे भूतमात्रका कल्याण हो।

परमेश्वर

१९. अपने अस्तित्व-संबंधी अनुभवों, और जगतमें मिलनेव अनुभवोंके स्वरूपको सूक्ष्मतासे देखने पर बेशक यह प्रतीति होती कि सबके मूलमें अेक ही तत्त्व है। जगत्‌के सब गोचर और अगोच पदार्थ तथा शक्तियां अिसी तत्त्वमें से निकली हैं, अिसीमें रहती और जब लय होती हुअी दिखाअी देती हैं तब अिसीके भिन्न कार्योंमें — अर्थात् अेक प्रकारके दृश्योंमें से दूसरे प्रकारके दृश्योंमें — केवल रूपान्तरित होती हैं।

२०. अिस परमतत्त्वको क्रियाशून्य, चेतनाशून्य, ज्ञानशून्य, प्रेम शून्य, सुखशून्य अथवा जड़ या विनाशी नहीं कहा जा सकता। अिसे जड़ अथवा आदि-अंतवाला समझनेमें विचार और अवलोकनकी पू सूक्ष्मताका अभाव है। अिस सूक्ष्म तत्त्वके स्वरूपका और चाहे जिस तरह वर्णन किया गया हो, फिर भी अितना तो अिस विषयमें अवश्य कहा जा सकता है कि अिसकी सत्ता अविनाशी है। तथा अिसमें क्रिया, ज्ञान, प्रेम और सुखकी शक्तिमत्ता अथवा बीजरूप शक्ति है।

२१. अपने अस्तित्व-संबंधी सारे अनुभवोंका विश्लेषण करते करते आत्माका स्वरूप अनुभूतिमात्र, ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्र और निरहंकार अर्थात् व्यक्तित्वशून्य मालूम पड़ता है। अिस विश्लेषणको कुछ कम सूक्ष्म करके कहें, तो वह अनुभविता, ज्ञाता, चैतन्य, साक्षी और सत्य-व्यक्ति (अर्थात् सदा अेक रूपमें रहनेवाला) होने पर भी अहंतायुक्त प्रत्यगात्मा लगता है। अिससे भी कुछ कम सूक्ष्मतासे कहें, तो वह कर्ता, भोक्ता तथा अुन्नति-अवनतिको प्राप्त करनेवाला जीव लगता है।

२२. अिसी तरह जगत्‌में प्राप्त होनेवाले अनुभवोंके स्वरूपको बहुत सूक्ष्मतासे देखें, तो अुसके मूलतत्त्वका स्वरूप अनुभूतिमात्र, ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्र और व्यक्तित्वशून्य मालूम पड़ता है। अपने तथा जगत्‌के अति सूक्ष्म परीक्षणमें व्यक्तित्व दिखाअी न देनेसे, दोनोंकी अेकताकी प्रतीति होती है। परंतु अिस सूक्ष्मताको कुछ कम करके बोलें तो अैसा लगता है कि जगत्‌में कोअी सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्व-

व्यापक, कर्मफलप्रदाता और तटस्थ सत्त्व है। अिससे भी कम सूक्ष्मता कहें तो अैसा लगता है कि वह अुत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता, सबका भोक्ता और सबका स्वामी तथा नियामक है।

२३. अिस परमतत्त्वको भगवान, परमात्मा, ब्रह्म, अल्लाह, खुदा अित्यादिके नामसे पहचानें, और कहें कि अेक परमेश्वरका ही सनातन अस्तित्व है और जो कुछ अलग अलग दिखाअी देता है, अुसमें भी अुसके सिवाय कोअी निराला तत्त्व मिला हुआ नहीं है।

२४. सब संतोंकी यह निश्चित प्रतीति है, परन्तु परमेश्वरके स्वरूपकी अुपपत्ति देनेमें संतोंके निरूपणमें भेद हो जाता है। कुछ संत परमेश्वरको ज्ञप्तिमात्र, अनुभूतिमात्र, चिन्मात्र और सत्तामात्र कहते हैं। कुछ अिसे सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सर्वकल्याणकारी गुणोंका भण्डार और आनंदघन कहते हैं, और कुछ अिसे सबका स्वामी, सबका कर्ता, नियामक, पालक और संहारक कहते हैं। जिस तरह कोअी सिनेमाको शीघ्र गतिसे चलनेवाली चित्रमालाके कारण नेत्रको होनेवाला आभास कहे, और कोअी गतिमान पदार्थोंकी चित्र-परंपरा कहे और कोअी हिलनेवाले चित्र कहे, अुस तरह अिन निरूपणोंका भेद है। जिस तरह सामान्य मनुष्योंको 'हिलनेवाले चित्र' अितना निरूपण पर्याप्त लगता है, अुसी तरह अुन्हें परमेश्वरका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सृष्टिका अुत्पत्ति-पालन-प्रलय करनेवाला और सबका स्वामीवाला निरूपण काफी लगता है। अिन निरूपणोंमें यह अनुभव तो समान है कि सबसे परे अेक सच्चित् परमेश्वर तत्त्व ही है। परंतु अुसके संबंधमें विचार या निरूपणकी सूक्ष्मतामें भेद है।

२५. मेरी दृष्टिसे परमेश्वर अिस विश्वका सनातन और सर्वत्र फैला हुआ चैतन्यबीज है। चैतन्य अर्थात् अिच्छा-(अथवा संकल्प) शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। परमेश्वरका अस्तित्व काल्पनिक नहीं बल्कि सत्य होनेसे ही अुसकी संकल्पशक्ति भी सत्य सिद्ध होती है। अर्थात् संकल्पके अनुसार जगत्में परिणाम अुत्पन्न होते हैं।

२६. जिस तरह सोनेके अनेक आकार गढ़े जाने पर भी अुसका सुवर्णत्व बदलता नहीं है, अुसी तरह विश्वमें होनेवाली सब तोड़-

फोड़, जन्म-मृत्यु और अुत्पत्ति-प्रलयकी घटनाओंसे परमेश्वरके सिवाय कोअी नया या भिन्न तत्त्व आता-जाता नहीं है।

२७. अिस तरह परमेश्वर निर्विकार और अकर्ता (अर्थात् अपने सिवाय अन्यको पैदा न करनेवाला) है, परंतु वह निष्क्रिय या स्थूल दृष्टिसे अपरिणामशील नही है।

२८. परमेश्वरकी अिच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियोंके व्यापार निरंतर और सर्वत्र चलते रहते हैं। अिस कारणसे जगत्‌में अेक विपल भी बिना परिवर्तनके व्यतीत नहीं होता। और ये परिवर्तन अनंत प्रकारके और अनंत रीतियोंसे होते हैं, अतः अुनमें सदैव नवीनता रहती है। अिसलिअे जगत्‌में विगत क्षणकी स्थिति वैसीकी वैसी फिर कभी नहीं आती। ये व्यापार सर्वत्र चलते रहते हैं, अतअेव हरअेक व्यापारमें कुछ व्यक्तित्व और मर्यादा भी आ ही जाती है। ये दोनों मिलकर हमें काल और देशका अनुभव कराते हैं।

२९. परमेश्वर सकल्प, ज्ञान, और क्रियाशक्तिरूप है और वह सर्वत्र तथा सत्य है। अिस कारणसे अेक प्रकारकी अिच्छा-ज्ञान-क्रियामें से दूसरे किसी प्रकारकी अिच्छा-ज्ञान-क्रिया वगैरामें रूपान्तर होनेका व्यापार कुछ व्यवस्थापूर्वक चलता है, चाहे जैसे अुलटा सीधा नहीं चलता। अिस व्यवस्थाके सब नियमोंका अन्वेषण हम कर सकें या न कर सकें और जगत्‌में हमारी आशाके अनुसार घटनाअें घटित हों या न हों, परतु अिसके व्यापारोंमें कहीं पर भी नियमशून्यता नहीं है, अेसा कहनेके लिअे हमारे पास जगत्‌का पर्याप्त अनुभव है।

३०. अिस तरह किसी प्रकारकी व्यवस्थावाले, सर्वत्र फैले हुअे, अिच्छा, ज्ञान या क्रियाओंके व्यापारोंके हमें जो अनेक तरहके अनुभव होते हैं, वह यह जगत् है।

३१. बीता हुआ क्षण वापस नहीं आता और स्वप्नवत् हो जाता है, तथा भविष्यकाल केवल आशा ही है और सिद्ध होता है तो भी क्षण भर ही रहता है, फिर भी जगत् रज्जुमें सर्पके भ्रमके समान, या स्वप्नके भोगोंके समान, या गधर्व नगरीकी तरह केवल झूठी माया अथवा काल्पनिक भास नहीं है, परन्तु जिस तरह नदी पानीकी धारा

तरहकी गतिका सच्चा अनुभव है, अुसी तरह जगत् चारों ओर सतत चलते रहनेवाले व्यापारोंका सच्चा अनुभव है।

३२. और जगत् किसी लाड़-प्यारसे बिगड़े हुअे, अूधमी व स्वच्छन्द लड़के-जैसे, परंतु अत्यंत शक्तिमान् सत्त्वकी लीला, अर्था खेल नहीं है; लेकिन अेक महान् शक्तिमें अुसके स्वभावानुसार नियम पूर्वक चलनेवाले व्यापार हैं।

जीव और जड़

३३. अनादि और अविनाशी केवल परमेश्वर ही है। अुसके सिवाय दूसरा कोओी अत्यन्त अनादि या अत्यन्त अविनाशी नहीं है। अर्थात्, जीव या जड़ तत्त्व चाहे जितने लंबे समय तक अेकरूप रहे हुअे प्रतीत हों, फिर भी अुनका आदि तथा अंत है। परतु आदिका अर्थ शून्यमें से अुत्पन्न होना नहीं और अतका अर्थ शून्य होना नहीं। अुनका अर्थ अेक प्रकारके दृश्योंसे दूसरे प्रकारके दृश्योंमें परिवर्तित होना है।

३४. जीव और जड़के बीच भी कोओी सनातन और नित्य भेद हो, अैसा मालूम नहीं होता। अर्थात् जीवमें से जड़ और जड़में से जीवका परिवर्तन होना असभव नहीं है।

३५. जिसे अलग पहचाना जा सके, अैसा कोओी भी जड़ या चेतन पदार्थ या व्यापार जब तक अुसका अलगाव रहता है, तब तक भिन्न व्यक्ति है। अिस तरह हरअेक व्यक्तिका सच्चा अस्तित्व है।

३६. अैसा कोओी भी व्यक्ति विश्वसे बिलकुल अलग और स्वतंत्र नहीं हो सकता। सब अेक दूसरेके साथ और जगत्के साथ किसी न किसी तरह जुड़े हुअे हैं।

३७. परन्तु व्यक्तिमात्रका अुपादान-कारण परमेश्वर ही होनेसे यह कह सकते हैं कि ये सब . . . . . और परमेश्वरसे कोओी अलग नहीं हैं। परन्तु अैसा . . . ही समझमें परमेश्वरकी सब प्रकारकी . . . नहीं कर सकता। अिसलिअे . . . बारेमें यह

कहना ठीक नहीं कि वह परमेश्वर अर्थात् समग्र ब्रह्म है। परंतु यह कहना ठीक है कि खुद या कोअी दूसरा ब्रह्मसे अलग नहीं है या तत्त्वतः ब्रह्म है।

३८. ब्रह्मके विषयमें 'मैं' का प्रयोग नहीं हो सकता। अिस तरह प्रत्यगात्माको विशिष्ट ब्रह्म कहनेकी रीति ज्यादा ठीक लगती है।

३९. हममें जो भी अिच्छाअें, ज्ञान और क्रियाअें मालूम होती हैं और जिन्हें हम अपनी अिच्छाअें, ज्ञान और क्रियाअें मानते हैं, वे सचमुच वैसी न हों और सम्भव है कि हम विश्वमें व्याप्त अनेक तरहके अिच्छा-ज्ञान-क्रियाके तरंगोंको झेलनेवाले और प्रकट करनेवाले भिन्न प्रकारसे रचे हुअे द्रष्टा अथवा साक्षी, और कदाचित् अुन्हें किसी भिन्न दिशामें ले जानेवाले निमित्त ही हों।

४०. अिससे देहके बिना अथवा अलग अलग देहोंको धारण करके हमारा व्यक्तित्व सदैव बना रहे, अथवा सारे जगत्‌का चाहे जो हो और वह चाहे जितना परिवर्तनशील हो परंतु हमारा व्यक्तित्व अपरिवर्तनशील और नित्य टिकनेवाला, अथवा जगत्‌से निराला, स्वतंत्र और परे हो, अथवा जगत्‌में हमारा व्यक्तित्व दूसरोंसे निराला मार्ग निकालकर अपनी विशेषता प्रकट करनेका हमें संतोष दे — अिन सब अिच्छाओंमें व्यक्तिवाद है, और आत्माका अशुद्ध अभिमान है।

४१. परमेश्वरमें विश्वरूपमें चलनेवाले अिच्छा-ज्ञान-क्रियाके अनंत व्यापारोंमें से कुछको प्रकट करनेके, रूपान्तर करनेके और पहचाननेके हम अेक खास रचनावाले साधन अथवा यंत्र हैं। यह यंत्र जगत्‌के महायंत्रका अेक अंग है, और अुसके साथ संकलित है। जगतमें चलनेवाले व्यापारोंका अिस यंत्र पर असर होता है, और अिसमें चलनेवाले व्यापारोंका जगत् पर प्रभाव पड़ता है। हममें मालूम होनेवाले व्यक्तित्वके भानका योग्य अुपयोग यह है कि परमेश्वरके लिअे, अर्थात् जगत्‌के हितके लिअे अिस यंत्रको अर्पण कर दिया जाय। अिसकी विशेषताअें स्वार्थके लिअे नहीं, पर परार्थके लिअे हों। अिसमें प्रकट होनेवाली अिच्छा-ज्ञान-क्रियाओंमें अपने लाभ या मजोसकी वृत्ति नहीं, पर यथासंभव

जगत्‌के हितकी वृत्ति हो। अिस दिशामें किया जानेवाला प्रयत्न व्यक्तित्वकी शुद्धि, अथवा आत्माका शुद्ध अभिमान और निरहंकारिताके प्रति प्रयाण है।

४२. मरनेके बाद हममें दिखाओ देनेवाले वर्तमान व्यक्तित्वका क्या होगा, अुसकी चिंता अथवा अुसे टिकानेकी अिच्छा योग्य नहीं है। संभव है कि छांदोग्योपनिषद्‌के कथनानुसार, जिस तरह अलग अलग फलोंका मधु छत्तेमें अेकत्र होनेके बाद, अथवा विभिन्न नदियोंका पानी समुद्रमें मिलनेके बाद, अुनमें यह अिस फूलका मधु है, अथवा यह अिस नदीका पानी है, अैसा व्यक्तित्व मालूम नहीं होता, अथवा पानीके बूंदकी भाप बनकर अुड़ जानेके बाद अुसके अंशोंका अितिहास नहीं बूझा जा सकता, अुसी तरह 'अिमाः सर्वाः प्रजा सति सपद्य न विदुः सति संपद्यामह अिति।' ६-९-२ (सब प्रजाअें सत्‌में जानेके बाद, हम सत्‌में चली गअी हैं अैसा नहीं जानतीं, यानी अपना निराला व्यक्तित्व नहीं रख सकतीं।)

२

धर्म

(अ) सामान्य रूपसे

१. प्राणीमें विचार और विवेक अुत्पन्न होनेके साथ ही धर्म अुत्पन्न हो जाता है।

२. धर्म अर्थात् आचारके नियम — विधि-निषेध, क्या, कब, कैसे, कितना, किस तरह अमुक काम करना या न करना — यह सब धर्म-विचार है।

३. जो वचन सब मनुष्योंके सब प्रकारके श्रेय और प्रेयका समवृत्तिसे विचार करके तथा अन्य भूतोंके हितोंका भी सहानुभूतिपूर्वक विचार करके आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्तके नियम सूचित करते हैं, अुनका नाम है धर्मशास्त्र। भले ये वचन जिस देशके पुरुषोंके हों या

गाउंसके हों, प्राचीन हों या अर्वाचीन हों, और धार्मिक पुस्तकोंके सामने अनकी ख्याति हुअी हो या न हुअी हो। असीसे अलटे, धर्मशास्त्रके नामसे पहचाने जानेवाले प्राचीन या अर्वाचीन ग्रंथोंमें तथा सन्तोंकी वाणीमें धर्मशास्त्रकी कोटिमें न आ सकनेवाले वचन भी हो सकते हैं। जितने अंशमें वे वचन मनुष्यमें सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्तिको प्रेरित करते हैं तथा सर्व भूतोंके प्रति समभावको प्रकट करते हैं, अतने अंशमें वे धर्मशास्त्र गिने जा सकते हैं।

४. अकेले रहनेवालेको भी अपने श्रेय (चित्तके संतोष) और प्रेय (भौतिक सुख)के लिअे धर्मका पालन करना पड़ता है। परन्तु विशाल दृष्टिसे कोअी भी प्राणी बिलकुल अकेला रहता ही नहीं। सजातीय जीव न हों तो विजातीय जीव साथमें होते हैं। और अनके साथमें भी किसी न किसी प्रकारका समाज और अुसका धर्म अुत्पन्न हो जाता है।

५. धर्मका पालन अपने तथा समाजके, दोनोंके सुखके लिअे है। अुसमें होनेवाले भगवा परिणाम दोनोंको भोगना पड़ता है। किसी समय भग करनेवालेको अधिक भोगना पड़ता है और किसी समय समाजको।

६. असिसे, सजातीय समाजोंमें हरअेक व्यक्तिसे अुसके कर्तव्योंका पालन करानेके लिअे अलग अलग व्यवस्थायें अुत्पन्न होती हैं।

७. मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणियोंमें भी अैसी व्यवस्थायें देखनेमें आती हैं। यह अलग बात है कि अुन्हें हम धर्मका नाम नहीं देते।

(आ) मानव समाज और धर्म

अब हम मानव समाज और धर्मका विचार करें।

८. समाजकी व्यवस्थाओं और नियमोंके पीछे अुसके आधारके रूपमें जीवन तथा जगत्के स्वरूप और सम्बन्धके विषयमें, जीवनके आदर्शोंके विषयमें, जिसे नियमोंका पालन करना है और जिसने नियमोंका पालन कराना है अुनके बीचके सम्बन्धके विषयमें, व्यक्ति तथा

समाजके सम्बन्धके विषयमें, तथा समाजकी व्याप्ति तथा मर्यादाके विषयमें, कम-ज्यादा विकसित कोओी दृष्टि तथा भावना रहती है; अर्थात् तत्त्वज्ञान, भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान और बुद्धि तथा हृदयका (अर्थात् दृष्टि तथा भावनाकी विशालताका) कम-ज्यादा विकास है।

९. अिस तरह तत्त्वज्ञानकी, बुद्धिकी और हृदयकी विभिन्न भूमिकाओंके अनुसार अलग अलग नियमोंको धर्म माननेवाले अलग अलग समाज हैं।

१०. धर्मकी नीव गहरी हो या छिछली, मजबूत हो या कमजोर, व्यापक क्षेत्रमें फैली हुई हो या छोटे क्षेत्रमें; परन्तु धर्मका हेतु अपने क्षेत्रमें आनेवाले समाजका श्रेय और प्रेय करना होता है।

११. कुछ धर्म मुख्यतः श्रेय दृष्टिसे विचारे गये होते हैं, कुछ प्रेय दृष्टिसे। दोनोंमें कभी तत्त्वदृष्टि प्रधान होती है, कभी विज्ञान-दृष्टि।

१२. जिस समाजकी रचनामें तत्त्वदृष्टि और विज्ञानदृष्टि, अथवा श्रेयदृष्टि और प्रेयदृष्टि, अेक-दूसरेके साथ खूब घुलमिल जाती हैं, वह समाज और अुसका धर्म दोनों अेकरूप हो जाते हैं, जैसे कि हिन्दू समाज और हिन्दूधर्म, मुसलमान समाज और अिस्लाम। अैसे समाजोंको हम जातीय समाजके नामसे पहचानते हैं।

१३. जिस समाजकी रचना प्रधानरूपसे तत्त्वदृष्टि द्वारा श्रेय और प्रेय दोनोंकी सिद्धिके लिअे होती है, वह धार्मिक मत, पंथ, सम्प्रदायका रूप धारण करता है। कालान्तरमें, अुसमें से अुपर्युक्त प्रकारका समाज भी अस्तित्वमें आ सकता है। अिसे हम साम्प्रदायिक समाज कहेंगे।

१४. जिस समाजकी रचना प्रधानरूपसे तत्त्वदृष्टि या विज्ञान-दृष्टिके द्वारा केवल श्रेयप्राप्ति (मानसिक संतोष) के लिअे होती है, वह विभिन्न दर्शनों (schools, academies) का रूप लेता है। अिसे हम दार्शनिक समाज कहेंगे।

१५. जिस समाजकी रचना मुख्यतः विज्ञानदृष्टिके द्वारा केवल प्रेयप्राप्तिके लिअे होती है, अुसके भौतिक, राजकीय, आर्थिक, सामाजिक

अिसादि समाज बनते हैं और वे प्रजाओं, वर्गों, दलों या पार्टियोंके नामसे पहचाने जाते हैं। अिन्हें हम भौगोलिक समाज कहते।

१६. अिन चारों तरहके समाजोंमें परस्पर मत्सर और कलहको तथा स्नेह और भाओचारेको जगह है।

१७. अिनमें से यहां लौकिक समाजोंका विचार छोड़ दिया है। केवल अितना कहना चाहिये कि अिन समाजोंमें भी अन्धविश्वास, अंधश्रद्धा, अज्ञान, जानबूझकर गलत मार्गदर्शन अित्यादि पहले तीन प्रकारके समाजोंकी अपेक्षा कम होते हैं, अैसा माननेके लिये कोअी कारण नहीं है।

१८ जातीय समाज, साम्प्रदायिक समाज, और दार्शनिक समाजोंमें सही या गलत कुछ श्रेयदृष्टि रहती ही है, और धर्म शब्दके रूढ़ अर्थमें श्रेयका भाव समझा जाता है, अिसलिये सुविधाके खातिर अिन तीनोंको हम धार्मिक समाज अथवा धर्मों (बहुवचनमें) के नामसे पहचानेंगे। अनुगम अिनका सही नाम होगा।

(अि) धार्मिक समाज

१९. मनुष्यका स्वभाव ही कुछ अैसा है कि केवल प्रेयोंकी प्राप्तिसे ही अुसे पूरा संतोष और शांति नहीं होती। सब तरहके प्रेय होने पर भी अुसे जीवनमें कुछ अैसी कमी महसूस होती रहती है, जिसके कारण वह संतोष और शांतिका अनुभव नहीं कर पाता। संतोष तथा शांतिकी खोज श्रेयकी खोज है।

२०. कुछ मनुष्योंमें यह अिच्छा अितनी तीव्र होती है कि वे न केवल प्रेयको ढूढ़ते नहीं हैं, परन्तु प्राप्त हुअे प्रेयोंको भी छोड़ देते हैं। परन्तु कअी बार अैसा बनता है कि जिन्होंने श्रेयके लिअे प्रेयको छोड़ दिया है, वे अमुक कालके बाद फिर प्रेयार्थी बन जाते हैं। धर्मोंमें पाखंडका प्रवेश ज्यादातर अिसी वर्गके मनुष्यों द्वारा होता है। अिन दोनोंको छोड़कर बाकीका बड़ा जनसमुदाय श्रेय और प्रेय दोनोंकी अिच्छा करनेवाला होता है।

२१. ज्यादातर धर्मों और सम्प्रदायोंका अुद्भव और प्रचार पहले दो वर्गोंके मनुष्य करते हैं, और बहुजन समाजमें से अुनके अनुयायी बनते हैं। जिस तरह सामान्य मनुष्य अपने दुनियावी कामोंमें भी डॉक्टर, वकील, अिंजीनियर जैसे अलग अलग धंधेके निष्णातों पर अुस अुस कामके लिअे विश्वास रखते हैं, अुसी तरह वे श्रेयके सम्बन्धमें अूपरके दो वर्गोंके मनुष्योंका अनुसरण करते हैं। जिस तरह स्वार्थी निष्णात अपने पर विश्वास रखनेवाले मुवक्किलोंके विश्वास और अुस कामके बारेमें अुनके कम ज्ञानका नाजायज फायदा अुठाता है, अुसी तरह धार्मिक निष्णातोंका भी होता है।

२२. और मनुष्यका चित्त कुछ अिस तरहसे बना हुआ मालूम होता है कि कोअी वस्तु असत्य अथवा कम सत्य है, अैसा जानते हुअे भी अुसे सत्य अथवा पूर्ण सत्यके रूपमें पेश करता रहनेवाला मनुष्य धीरे धीरे अैसा ही मानने लग जाता है। अिस तरह असत्यमें सत्याग्रहनिष्ठा जमनेकी सम्भावना रहती है। अिस तरह पाखण्ड भी धार्मिक बन जाता है, और अुसमें यदि अनीति स्पष्ट न दिखाअी दे तो अुसे सहिष्णुवृत्तिसे देखनेके प्रसंग आते हैं। धर्मोंकी अनेक रूढ़ियों और मान्यताओं अित्यादिके सम्बन्धमें अैसा ही हुआ है। स्वधर्म-सहिष्णुता, पर-अधर्म-सहिष्णुता तथा पुराने अन्यायोंके प्रति क्षमादृष्टि रखनेके पीछे अैसी अुदारता रहती है।

२३. सामान्यतः धर्मोंका स्वरूप जाचने पर अुनमें नीचेकी असत्य या अर्धसत्य बातोंमें सत्यनिष्ठासे प्रचार और पालन किया हुआ देखनेमें आता है।

(१) परमेश्वरके सगुण निरूपणमें,

(२) किसी व्यक्तिको तारणहारके रूपमें पेश करनेमें,

(३) किसी वादको अचल सिद्धान्तके तौर पर पेश करनेमें,

(४) पूर्ववर्ती समाजकी तत्कालीन स्थितिमें से पैदा होनेवाले आचारके नियमोंको सर्वव्यापक और सर्वकालीन दिखानेमें,

(५) किसी ग्रंथको विवेकबुद्धिसे परे स्वतःसिद्ध प्रमाणभूत माननेमें;

(६) सामान्यतः ज्ञान, आलंबन (अुपासना अथवा आश्रय) भक्ति, साधना, तप और धर्म (अर्थात् आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त) तथा सदाचारके मूलोंका पोषण करनेके बदले केवल शाखाओंके संभालनेमें;

(७) वाममार्ग अथवा दुराचार अुत्पन्न करनेमें।

२४. जैसा कि परमेश्वर विषयक सूत्रमें कहा गया है, परमेश्वरका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सारी सृष्टिका अुत्पत्ति-पालन-प्रलयकर्ता, सबका स्वामी और सर्वश्रेष्ठ गुणोंका भण्डार आदि शब्दोंमें वर्णित स्वरूप सामान्य मनुष्योंके लिअे पूर्ण तथा समझनेमें सरल होता है। अिस निरूपणमें परमेश्वरके विषयमें किसी आकारका आरोपण या सृष्टिकी रचनामें किसी दूसरे अुपादान कारणकी कल्पना नहीं है। परन्तु विभिन्न धर्मोंमें परमेश्वरके लिअे राजा या योगीके रूपकोंकी कल्पना की गअी है। अर्थात् समाजमें अेकाध चक्रवर्ती राजा या योगीश्वर और अुसके वैभवके विषयमें जो कल्पना होती है, अुससे अनेक गुनी बढ़ी-चढ़ी कल्पना परमेश्वर तथा अुसके धाम, वैभव तथा व्यवस्थाके विषयमें की जाती है। अिन कल्पनाओंके लिअे रखी जानेवाली आग्रहबुद्धि धर्मोंके बीचके कलहका अेक कारण होती है। अिन कल्पनाओंके परिणामस्वरूप बड़े बड़े पंडितों और धर्माचार्योंमें भी यह मान्यता पाअी जाती है कि परमेश्वर जगत्का निमित्तकारण ही है, अथवा मनुष्यके जैसी योजना और विचार करनेकी पद्धतिसे जगत्की व्यवस्था चलती होगी। और सामान्य मनुष्योंके मनमें अैसी कल्पना तक नहीं अुठती कि परमेश्वर जगत्का अुपादान कारण है।

२५. राजारूप या योगीरूप परमेश्वरवादमें से ही अुसके अवतार, पुत्र, प्रतिनिधि, पैगम्बर तथा अुसके विरोधी शैतान, मार, कलि अित्यादिकी कल्पनाअें हुअी हैं। समाजको अूपर अुठानेवाले किसी लोकोत्तर पराक्रमी अथवा मत पुरुषको परमेश्वरका पूर्ण स्वरूप या अुसकी ओरसे नियुक्त किये हुअे तारकरूपमें पेश करके, अुसके आसपास अेक समाजकी रचना करना विभिन्न धर्मोंकी विशेषताअें हैं। धर्म धर्मके

बीचके झगड़ोंमें अिन तारणहारोंके प्रति रहे अनुचित अभिमानका बड़ा हिस्सा रहता है।

२६. अेक नवीन समाज रचनेवाला पुरुष अपने कालके और आसपासके लोगोंकी अपेक्षा चाहे जितना अूंचा अुठा हुआ हो और वह अपने नवीन समाजमें अुस समय चाहे जितने भारी परिवर्तन करता दिखाओ देता हो; फिर भी सूक्ष्मतासे देखने पर वह अपने कालकी सैंकड़ों रूढ़ियोंमें से कुछ अिनीगिनी रूढ़ियोंमें भी मुश्किलसे मूल परिवर्तन कर सकता है। दूसरी रूढ़ियोंको वह जैसीकी तैसी रखकर, अुन पर अपनी स्वीकृतिकी मोहर लगाकर, कदाचित् अुन्हें और अधिक मजबूत कर जाता है। संभव है ये रूढ़िया भी अुसके आसपासके और अुसीके समयके समाजके लिअे अयोग्य न हों। परन्तु अुस पुरुषके पीछे अेक धार्मिक समाज अुत्पन्न होता है, तब अुन रूढ़ियों तथा अुसके द्वारा किये हुअे परिवर्तनोंको सर्वकालीन और सर्वदेशी बनानेका और अुनमें परिवर्तन न होने देनेका आग्रह पैदा होता है। सनातनी वृत्तिका तथा अिन धर्मोंके बीच कलहोंका और धर्मके विकासको रोकनेका यह भी अेक कारण है। जब अिन रूढ़ियोंके पीछे किसी वर्गके प्रेय भी जुड़े रहते हैं तब वह, कलह और प्रगति-विरोधका अधिक बलवान कारण बनता है।

२७. मनुष्योंकी बुद्धियां और वृत्तियां विविध प्रकारकी हैं। परन्तु साथ ही अुनमें समानतायें भी हैं। अिससे थोडी-बहुत समान-बुद्धि और वृत्तिवाले मनुष्योंके अलग अलग झुंड बंध जाते हैं। कुछ झुंड बिखर जाते हैं, तो थोड़े ही समयमें दूसरे नये पैदा हो जाते हैं। समाजके बीचमें रहनेवाला अैसा शायद ही कोओी मनुष्य मिल सकता है जो किसी झुंडमें शरीक न हो। फिर मनुष्योंकी बुद्धि तथा अुसके अनुसार आचरण करनेकी शक्तिमें बहुत अंतर रहता है। अिस तरह सारी मानव जातिके लिअे अेक ही विधान होना कठिन है। अैसा मानकर ही चलना चाहिये कि मनुष्य जुदी जुदी तरहके, कहीं परस्पर सकलित और कहीं स्वतंत्र समाजोंकी रचना करके रहेंगे। यह बात धार्मिक तथा दूसरी तरहके समाजोंको भी लागू होती है। सारा मानव-

समाज किसी अेक ही धर्म का मान्य किया जा सकता है अथवा
व्यक्तिका स्तर ही धर्ममय होना चाहिये ये दोनों मान्य
अव्यवहार्य हैं।

२८. अिसलिअे यद्यपि वर्तमान हिन्दू-मुसलमान अित्यादि
मिट जायं तो भी जब तक मनुष्य विचारी प्राणी है, तब तक, वि
धर्ममताका निर्माण होता ही रहेगा। अिन सबका निर्माण स
समाजके सुख और शान्तिके लिअे हो और वे मर्यादाको बढ़ा
हिंसा लें, अैसी शर्तें रहनी चाहिये। और अिन शर्तोंका पालन
सकें, अिस तरहसे प्रचलित धर्मोका समाधान और नवीन धर्म
रचना होनी चाहिये।

(ओ) धर्मोका संशोधन

२९. मनुष्यके श्रेय-साधनके प्रयत्नोंको पोसनेके लिअे अ
अलग धर्मोने अलग-अलग बातों पर जोर दिया है। फिर भी सब धर्म
नीचेके छः अंग सामान्य रूपसे दिखाओ देते हैं:—तत्त्वज्ञान, आच
(अुपासना अथवा आश्रय), भक्ति, साधनमार्ग, तप और सदाचार।

३०. हरअेक धार्मिक समाज जिन अंगोंका खास खास अ
पोषण करे अिसमें दोष नहीं है। परन्तु अिस पोषणमें नीचेके नियमों
पालन करना चाहिये, और जिस हद तक किसी धर्म या अुस
ग्रंथोंमें अुन नियमोंका भंग होता हो, अुस हद तक अुनमें संशोधन कर
दोष निकाल डालने चाहिये।

३१. पहला नियम है मानव-अहिंसाका। सब धर्मोने थोड़े-बहु
प्रमाणमें अहिंसावृत्तिको पोषण दिया है। तथा अुसके अूपर भार भी
दिया है। परन्तु प्राचीन धर्मोने शायद ही मानवहिंसाका पूरा निषे
किया है। अिन धर्मोकी अुत्पत्ति जिस कालमें हुअी, अुस कालमें मनुष्यों
परस्पर हिंसा लगभग प्रतिदिनकी वस्तु थी, अतअेव अुस समय प्राणी
हिंसाकी अपेक्षा मानव हिंसाका निषेध करना ज्यादा कठिन मालू
हुआ होगा। अिस कारणसे धर्म प्रवर्तकोंको अुस दिशामें अपने विचा
पेश करनेकी बात ही नहीं सूझी। अिसके परिणामस्वरूप, अहिंसावा

या भूतदयावादी धर्मोंमें भी मानवहिंसाके प्रति शायद ही ध्यान दिया गया है; अुलटे कअी बार अुसे अुत्तेजन भी मिला है। खुद धर्मके प्रचारके लिअे भी मानवहिंसा हुअी है और अुसे पुण्यकार्य भी माना गया है। धर्मोंकी अिस त्रुटिको सुधारना चाहिये। और अहिंसाके पालनमें मानवहिंसाके निषधको प्रथम और दूसरे प्राणियोंकी हिंसाको दूसरा स्थान दिया जाना चाहिये। अपने धर्मके पालन, प्रचार या विकासमें कहीं भी मानवहिंसा करनेकी छूट नहीं होनी चाहिये। अिसमें आततायीके सामने अपना या दूसरेका प्रत्यक्ष रक्षण करनेमें जो हिंसा अनिवार्य रूपसे करनी पड़े, अुसीका अपवाद माना जाय। कोअी अपराध हो जानेके बाद अपराधीको सजाके तौर पर देहान्त-दण्ड देनेकी या अुसका अंगछेद करनेकी प्रथा बिलकुल बन्द हो जानी चाहिये।

३२. दूसरा नियम है सर्वधर्म-समभावका। अर्थात्, मनुष्य अपनी बुद्धि या वृत्तिके अनुसार अलग-अलग गुरुओं, संतों, मार्गदर्शकों, वीरों, अैतिहासिक, पौराणिक या रूपकात्मक व्यक्तियोंके प्रति भले ही भक्ति-भाव रखे और अुनके अुपदेशोंका अनुसरण करे, परन्तु किसी भी धर्मका अनुयायी अैसा न कहे कि वह व्यक्ति समग्र परमेश्वर है, अथवा परमेश्वरका अवतार, पैगम्बर या दूसरा प्रतिनिधि है, या वैसे व्यक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ है। तथा अैसा भी न कहे कि अुसके आलंबनके बिना किसीका अुद्धार नहीं होगा। बल्कि अैसा समझकर कि अपने जैसी वृत्तिके मनुष्योंके लिअे वह योग्य मार्गदर्शक हो, तो भी दूसरी वृत्तिके मनुष्योंके लिअे दूसरे भी अुतने ही योग्य मार्गदर्शक हो सकते हैं, सब धर्मों और अुनके प्रामाणिक अनुयायियोंके प्रति आदरभाव रखे और अैसा आदर रखकर ही अपने मार्गदर्शकके प्रति रही अपनी भक्ति और समझको दूसरोंके सामने प्रकट करनेकी जरूरत हो तो करे।

३३. तीसरा नियम है पाखण्डनिषेधका। सब धर्मोंकी अनेक बातोंमें अशुद्धि, मूढ़ता, त्रुटि वगैरा हैं। हरअेक में कुछ पाखण्ड, प्रत्यक्ष दुराचार अित्यादि भी घुस गये हैं। अैसा कहते हैं कि हरअेक धार्मिक समाजमें दक्षिणमार्गी और वाममार्गी पंथ हैं। फिर, कुछ दक्षिणमार्गी

होनेका ढोंग करते हैं, और कुछ सच्ची निष्ठावाले बालमानसी होते हैं। सर्वधर्म-समभावका अर्थ यह नहीं है कि अपने या दूसरेके धर्ममें दिखाअी देनेवाली त्रुटि, अशुद्धि या मूढ़ताकी टीका ही नहीं की जा सकती, दंभ और स्वार्थ प्रकाशमें नहीं लाये जा सकते अथवा पाखण्ड और दुराचारोंका विरोध नहीं किया जा सकता। परन्तु टीका और विरोध तीव्र होते हुअे भी अहिंसात्मक ढंगसे ही होने चाहिये, असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण आक्षेप, विडम्बना, गालीगलौज, भर्त्सना या असभ्यताके लिअे स्थान नहीं होना चाहिये। सत्याग्रहका आचरण किया जा सकता है, परन्तु बलात्कारका प्रयोग कदापि नहीं किया जा सकता।

३४. चौथा नियम है समाजव्यवस्थाके पालनका और पड़ोसी-धर्मका अर्थात् कोअी मनुष्य भले अपनी रुचिके अनुसार भक्ति या अनुष्ठानकी विधि रखे, व्रतोंका पालन या अुद्यापन करे परन्तु वह सब सार्वजनिक हितके विरुद्ध न हो और पड़ोसीकी अुचित भावनाओंका ध्यान रखकर ही होना चाहिये।

३५. पांचवां नियम है सदाचारका। किसी धर्मको दुराचारका बचाव नहीं करने दिया जा सकता। जैसे सत्य, अहिंसा, नियताचार[१], स्वच्छता, अमत्तता (non-drunkenness) अित्यादि सार्वजनिक सभ्यताअें हैं। अिसलिअे विश्वासघात, व्यभिचार, अत्याचार, चोरी, लूट अित्यादि आततायी कर्म, सार्वभौम अधर्म अथवा दुराचार हैं, और अविनय, गंदगी, शराबखोरी अित्यादि सार्वजनिक असभ्यताअें हैं। अैसे कार्यों या आदतोंमें धार्मिकताका खयाल बढ़ानेवाले अुपदेशोंको त्याज्य समझकर निकाल डालना चाहिये।

३६. छठा नियम है सार्वजनिक श्रेयसिद्धिका। राज्य, समाज, कुटुम्ब, लग्न, अुत्तराधिकार, अुद्योग, नगर अित्यादिकी व्यवस्थाओंमें विभिन्न धर्म अपने अनुयायियोंके लिअे जो खास नियम निश्चित करें या प्रचलित रूढ़ियोंमें परिवर्तन करें, वे अैसी मर्यादामें होने चाहियें कि जिससे वे अुस धर्मके अनुयायियोंसे भी अधिक विशाल समाजके

---

१. पति-पत्नीके बीच भी स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंमें आचार मर्यादा।

लिअे हितकारी हों अथवा अनुकरण करने योग्य लगें, केवल अुस धर्मके अनुयायियोंका ही प्रेय बढ़ानेवाले अथवा विशाल समाज पर भार बढ़ानेवाले न हों। अुदाहरणके लिअे, आसपासके समाजमें अनेक स्त्रियोंसे ब्याह करनेकी प्रथा हो तो कोओ धर्म अपने अनुयायियों पर अेकपत्नीव्रतका नियम लाद सकता है, परन्तु आसपासके समाजमें अेकपत्नीत्वकी प्रथा हो तो वह बहुपत्नीत्वका हक पेश नहीं कर सकता। अथवा आसपासके समाजमें स्त्रियोंका अुत्तराधिकार कम हो तो कोओ धर्म अुसे बढ़ा तो सकता है, परन्तु आसपासके समाजमें जितना अधिकार प्रचलित हो अुसे कम करनेका हक नहीं बता सकता। अिसी तरह धर्मोंके क्षेत्रको अिस सम्बन्धमें अितना मर्यादित समझना चाहिये कि विशाल समाज अिस सम्बन्धमें सामाजिक हित बढ़ानेके लिअे जो परिवर्तन करना चाहे अुसमें धार्मिक समाजोंकी ओरसे बाधा नहीं खड़ी की जा सकती। यह नियम नवीन धर्मोंको, बाहरसे आकर नये क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाले धर्मोंको तथा धर्मान्तर करनेवालोंको लागू होना चाहिये। मतलब यह है कि धार्मिक समाज प्रेयोंके क्षेत्रमें जो विशेषता अपने अनुयायियोंके लिअे दाखिल करे वह श्रेयकी दृष्टिसे और संयमकी दिशामें होनी चाहिये, भोगवृद्धिकी तथा अपने ही अनुयायियोंके अधिकारोंकी वृद्धिकी दिशामें नहीं होनी चाहिये।

३७. अिस दृष्टिसे सब धर्ममतोंका संशोधन और अुनका नया विवेचन होनेकी जरूरत है। अुदार धार्मिक वृत्तिवाले, सर्वधर्म-समभावी, धर्म और तत्त्वज्ञानके अभ्यासी अिस तरहसे अलग-अलग धर्मोंका संशोधित स्वरूप प्रजाके सामने रखें तो वह अच्छी सेवा हो सकती है।

३८. यह संशोधित विवेचन अिस तरहका होना चाहिये कि बहुत संकुचित दृष्टिसे न देखनेवाले अनुयायीको भी वह मान्य हो, और अन्य धर्मियोंको अुसमें कुछ खटकनेवाली चीज न मालूम हो। वह केवल अुन अुन धर्मोंकी प्रशस्तिमात्र न हो। अुनमें घुसे हुअे दोषोंका तथा छोड़ देने योग्य अंशोंका निडरतासे परन्तु समभावसे किया हुआ निरूपण भी अुसमें होना चाहिये।

३९. अुन अुन धर्मोंके अनुयायियोंको यह काम करनेका सबसे ज्यादा अधिकार है। अुन्हें अिसके लिअे ज्यादा अनुकूलता होनेके कारण अैसा करना अुनका कर्तव्य भी माना जा सकता है। परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि दूसरे धर्मके अधिकारी पुरुष अैसा नहीं कर सकते।

४०. संकुचित बुद्धिवाले अनुयायियों तथा जिनके स्वार्थ और अनाचारको आघात पहुंचे अैसे दुराग्रही पुरुषोंकी ओरसे अिस प्रयत्नका विरोध होनेकी संभावना है। परन्तु यदि वे सब सामान्य मनुष्योंको अपने अपने धर्ममें निरूपित धार्मिक वृत्तिका अुचित पोषण करनेवाले और अुनके ज्ञान, आश्वासन, भक्ति, तप, और सदाचारको योग्य दिशामें ले जानेवाले होंगे, तो मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त किये बिना नहीं रहेंगे।

४१. अिसीके लिअे प्राचीन या अर्वाचीन बहुमान्य धर्मग्रंथोंकी संशोधित (expurgated) आवृत्तियां तथा अुनके प्रमाणभूत सरल और शुद्ध अनुवादोंकी भी जरूरत है। जिस तरह बहुत बड़े विद्वानोंके सिवाय दूसरा कोअी बाअिबलको हिब्रू, ग्रीक या लेटिनमें नहीं पढ़ता है, अुसी तरह अुपनिषद्, गीता, कुरान, झंद अवेस्ता अित्यादिके मूल ग्रन्थोंके समान ही प्रमाणभूत अनुवाद लोकभाषाओंमें मिलने चाहिये।

(अु) लोकधर्म

४२. अुपर्युक्त विचार और सूचनायें अलग-अलग प्रचलित धर्मोंके विषयमें हुअीं। परन्तु जिस तरह नैतिक बातोंमें कुछ लोग दृढ़तापूर्वक अेक पक्ष या दूसरे पक्षके आग्रही होते हैं, परन्तु सामान्य जनता किसी भी पक्षके लिअे बहुत अभिमान रखे बिना हरअेक मौके पर अपनी समझके अनुसार जो पक्ष अच्छा लगता है अुसका समर्थन करती है, अुसी तरह धार्मिक विषयोंमें भी होता है। धर्मके आग्रही अनुयायी बहुत थोड़े होते हैं। सामान्य जनसमाज आम तौर पर जन्मधर्मका अनुसरण करता है, फिर भी अुस विषयमें अत्यंत अभिमान नहीं रखता। धर्म बदलनेवालोंका बहुत बड़ा भाग अिन्हीं लोगोंमें से निकलता है।

४३. अिसलिअे, सब प्रसिद्ध धर्मोंसे तटस्थ रहकर प्रजाकी धार्मिक और सदाचारप्रिय वृत्तिका विकास करनेवाले ढंगसे तत्त्वज्ञान और धर्मके सरल निरूपणकी आवश्यकता है। अिसमें तत्त्वज्ञानकी सरलसे सरल समझ, आलंबन (अुपासना)का शुद्ध स्वरूप, भक्तिकी असाम्प्रदायिक और अकर्मकाण्डी रीति, साधना और तपके बुद्धिगम्य प्रकार तथा सामान्य मनुष्योंकी नैतिक शक्तिको अनजानमें बढ़ानेवाले तरीकेसे सदाचारके सरल नियमोंका निरूपण होना चाहिये तथा जगतमें जो धार्मिक पुरुष हो गये हैं अुनके जीवनमें चमत्कारोंको अलग करके अुनकी धर्मभावना, औश्वर-परायणता तथा अुच्च चारित्र्यको दिखलानेवाले चरित्र होने चाहिये। आम जनता और शुद्ध जिज्ञासुओंके लिअे तो ये ही धर्म और धर्मग्रंथ हो जायंगे।

४४. धर्म और तत्त्वज्ञानके चरित्रवान अभ्यासी और धार्मिक वृत्तियोंके प्रबुद्ध कवि तथा लेखक अिस तरहके साहित्य द्वारा जनताकी अच्छी सेवा कर सकते हैं।

३१-१२-'३७

स्वकर्मयोग

गीताके कुछ श्लोकोंमें मात्रा परिवर्तन करके तथा कुछ श्लोक नये जोड़कर मैंने स्वकर्मयोगके बारेमें अपने विचार नीचे पेश करनेका प्रयत्न किया है:

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ १ ॥
सहजं कर्म मेधावि सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ २ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः
युवा स्वभावजं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३ ॥

त्याज्यं वा विरतिर्वा पुरुषस्येह कर्मणः
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च भवति त्रिविधं फलम् ॥ ४ ॥
नेह देहभृता शक्यं प्राप्तुमिष्टमयत्नतः।
अनिष्टफलसंयोगे ह्यनुद्विग्नमना वशी ॥ ५ ॥
कर्मण्येवाऽधिकारस्ते साफल्ये न तु कर्मणः।
मा दुःखेनाऽभिभूतो भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ६ ॥

संनियतेन्द्रियग्रामा दक्षा ब्रह्मविहारिणी।
सर्वत्र समदृष्टिर्वा सर्वभूतहिते रता ॥ ७ ॥
लोकसंग्रहं संपश्यत् सदा कर्मण्यतन्द्रिता।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्ता प्रसादसंयुता ॥ ८ ॥
सत्यं भूतहितं ज्ञानं विज्ञानं च समाश्रिता।
भक्त्या चाव्यभिचारिण्या पूता कर्तव्यनिश्चया ॥ ९ ॥
एतैर्लक्षणैर्युक्ता बुद्धिः शुद्धा स्थिरा भवेत्।
अधीताऽप्यविशुद्धाऽस्यादन्यथालक्षणा हि या ॥ १० ॥

अवरं महत्वं कर्म दुर्बुद्धयाऽविद्यया कृतम् ।
फलं चैव समुद्दिश्य यत्तत् शान्तिप्रदं न हि ॥ ११ ॥
सद्धेतुश्रद्धया युक्तमज्ञानेनाऽविधिना कृतम् ।
सहजमपि तत्कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ १२ ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ १३
तस्माद्धिया समाश्रित्य कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त. समाचरन् ॥ १४ ॥
बुद्ध्या विशुद्धया दृष्टो नियमो विद्यया कृतः ।
स्वभावजः सदाचारः स्वकर्मयोग मुच्यते ॥ १५ ॥
स धर्मं क्षिति सुप्रेक्ष्य समाचरितुमर्हसि ।
स्वकर्माचरणाच्छ्रेयोऽन्यन्मनुष्यस्य न विद्यते ॥ १६ ॥
मा स्वधर्मणि भीतो भूर्माह्यनिष्टफलोद्गमे ।
स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ १७ ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि भयं त्यक्त्वा फलस्य च ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग मुच्यते ॥ १८ ॥
सुखदु.खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो धर्माय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥
स्वकर्मणि भयं त्यक्त्वा बुद्धियुक्ता मनीषिणः
सर्वबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २० ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलदु खिनः ॥ २१ ॥
एषा तेऽभिहिता बुद्धिर्वत्स योगे स्वकर्मणः
बुद्ध्या युक्तो यया तात कर्मबधं प्रहास्यसि ॥ २२ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २३ ॥
मृतो वा प्राप्स्यसि शान्ति जीवन्वा भोक्ष्यसे यशः ।
तस्मादुत्तिष्ठ मेधावि धर्माय

१. जिसमें से भूतोंकी प्रवृत्ति होती है, जिससे यह सब व्याप्त है, अुसकी स्वकर्मसे पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

२. अपने सहज कर्ममें दोष हो तो भी अुसे नहीं छोड़ना चाहिये; जिस प्रकार अग्निमें धूम होता है अुसी प्रकार सब कर्मोंमें दोष रहता है।

३. मनुष्य स्वकर्ममें मग्न होकर सिद्धि प्राप्त करता है। योगपूर्वक किये जानेवाले स्वभावजन्य कर्मोंमें दोष नहीं होता।

*　　*　　*

४. मनुष्यका कर्म न्यायपूर्ण हो या अन्यायपूर्ण, अुसका अच्छा, बुरा और मिश्र तीन प्रकारका फल होता है।

५. अिस जगत्‌में मनुष्यके लिअे केवल अिष्टकी ही प्राप्ति संभव नहीं है; अनिष्ट फल मिलने पर योगी अुद्वेग नहीं करता।

६. तुम कर्म करनेके ही अधिकारी हो, कर्मकी सफलताके नहीं; तुम दुःखसे अभिभूत मत होओ और न तुम्हारी अकर्ममें प्रीति हो।

*　　*　　*

७. जो अिन्द्रियोंको नियममें रखती है, दक्ष है, ब्रह्मविहारिणी[1] है; जो सर्वत्र समदर्शी है और सर्वभूतहितमें रत है।

८. जो लोककल्याणको देखती हुअी कर्ममें सदा निरालस रहती है, जो हर्ष-क्रोध-भय-शोकसे मुक्त और नित्य प्रसन्न है।

९. सत्य, भूतहित, ज्ञान और विज्ञानका आश्रय लेकर जो अनन्य भक्तिसे पूत है और दृढ़निश्चयी है।

---

१. मुदिता, मैत्री, करुणा और अुपेक्षा अर्थात् गुरुजनों और सुखी लोगोंके प्रति हर्षकी, समान स्थितिके लोगोंके प्रति मित्रताकी, दुःखीके प्रति करुणाकी और दुराग्रहीके प्रति अुपेक्षाकी भावनाको ब्रह्मविहार कहते हैं।

१०. (ऐसे लक्षणोंसे युक्त) वह बुद्धि स्थिर है और शुद्ध है; जिनसे विपरीत लक्षणोंवाली बुद्धि अधीत होकर भी अशुद्ध है।

११. सहज कर्म अज्ञानसे, दुष्ट बुद्धिसे तथा केवल फलकी जिच्छासे किया जाय, तो वह हीन है और अुससे शांति प्राप्त नहीं होती।

१२. विधि या ज्ञानके बिना श्रद्धा और सद्हेतुसे किया हुआ सहज कर्म करनेमें भी दोष लगता है।

१३. श्रेष्ठ मनुष्य जो कुछ करते हैं, वही अन्य मनुष्य भी करते हैं; वे जिसे मान्यता देते हैं, अुसीका सामान्य लोग आचरण करते हैं।

१४. अिसलिअे विद्याका आश्रय लेकर कार्याकार्यका निश्चय करनेके लिअे ज्ञानीको योगपूर्वक सब कर्मोंका शोधन करना चाहिये।

१५. विशुद्ध बुद्धिसे खोजा और शुद्ध किया हुआ, नियममें रहकर ज्ञानपूर्वक किया हुआ स्वभावज (अपनी प्रकृतिसे अुत्पन्न हुआ) सदाचार स्वकर्मयोग कहा गया है।

१६. 'वह धर्म' है अैसा समझकर भलीभांति अुसका आचरण करना चाहिये; स्वकर्माचरणसे बढ़कर मनुष्यके लिअे दूसरा कोअी श्रेय नहीं है।

१७. स्वधर्ममें भय नहीं होना चाहिये, न अनिष्ट फलकी अुत्पत्तिका भय रखना चाहिये। स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेयस्कर है, परधर्म भयावह है।

१८. फलके भयको त्यागकर, योगयुक्त होकर और यशायशको समान समझकर कर्म करो। समता ही योग है।

१९. लाभ-हानि, सुख-दुःख, हार-जीतको समान समझते हुअे धर्मके लिअे सज्ज हो जाओ, तो तुम्हे पाप नहीं लगेगा।

२०. भयको त्यागकर स्वकर्ममें निरत रहनेवाले बुद्धियुक्त मुनीश्वर सब बन्धनोंसे छूट कर निर्दोष पदको प्राप्त करते हैं।

२१. बुद्धियुक्त पुरुष अिस जगत्में पाप और पुण्य दोनोंको छोड़ देता है। तुम बुद्धिकी शरण खोजो। फलसे दुःखी होनेवाले दीन होते हैं।

२२. यह मैंने तुम्हें स्वकर्मयोगकी बुद्धि कही। अिस युक्त होकर तुम कर्मके बन्धनोंको तोड़ दोगे।

२३. यहां न तो आरंभ किये हुअे कार्यका नाश होता न अुसमें विघ्न अुत्पन्न होता है। अिस धर्मका थोड़ासा अं मनुष्यको बड़े भयसे बचा देता है।

२४. स्वकर्म करते हुअे मर जाओ तो शांति प्राप्त होगी करके जीवित रहोगे तो यश मिलेगा। अिसलिअे हे मेधावि, निश्चय करके धर्मके आचरणके लिअे खड़े हो जाओ।

संसार और धर्म

चौथा भाग

पूज्य नाथजीकी पूर्ति

१

तत्त्वज्ञानका साध्य

तत्त्वज्ञानकी निर्मिति

संसारके किसी भी प्राणीसे मनुष्यमें विचार-शक्ति अधिक है। मानव-जीवनके हर क्षेत्रमें अिस शक्तिका प्रभाव दिखाओी देता है। दुःखका नाश करके सुखकी वृद्धि करनेके अुपाय मनुष्यने अपनी बौद्धिक शक्तिसे ही निर्माण किये हैं। सुख-दुःखके कार्यकारण-सम्बन्ध जानने और अिस ज्ञानकी मददसे सुखको बढ़ाकर दुःखका नाश करनेके अुपाय ढूढ़ निकालने और अुन्हें अमलमें लानेका प्रयत्न करनेमें ही अनेक शास्त्रों और कलाओंका विकास होता रहा है। मनुष्य-जाति ठेठ प्रारम्भिक कालसे अिसी हेतुके पीछे लगी हुआी दिखाओी देती है। मानव-शरीरमें जो भी नओी नओी शक्तियां प्रगट होती गओीं, अुन सब शक्तियों द्वारा मनुष्य यही हेतु पूरा करनेका प्रयत्न करता रहा है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अलग अलग विषयोंका जितनी अलग अलग तरहसे रसास्वादन किया जा सके, अुतनी तरहसे करने और हर तरफसे दुःखसे बचनेका अुसका सदासे प्रयत्न रहा है। अिस प्रयत्नसे आगे बढ़कर विचारवान मनुष्यके मनमें यह शंका पैदा हुआी कि क्या ये शास्त्र, ये विद्यायें और ये कलायें मनुष्यके दुःख और भय दूर करके अुसे सचमुच स्थायी रूपमें सुखी बना सकेंगी? बड़ेसे बड़े प्रयत्नों द्वारा प्राप्त किया हुआ सुख आखिर तो अशाश्वत ही होता है। सुखानुभूति क्षणिक होती है; और अेक भय या दुःखको टाल दें तो दूसरा सामने खड़ा ही रहता है। अिस प्रकारके मानव-जीवनमें और अैसी परिस्थितिमें क्या मनुष्य सचमुच कभी भी स्थायी रूपसे दुःखरहित और सुखी हो सकेगा? कितने ही प्रयत्न करे और तरह तरहकी खोज और अिलाज करे, तो भी मनुष्य बुढ़ापेको नहीं टाल सकता; अुसकी व्याधि नहीं टलती और मृत्यु तो किसीसे कभी टाली ही नहीं जा सकती। वह किस क्षण हम पर आक्रमण कर

देगी, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्यकी जीनेकी आशा कभी नहीं छूटती। अुपभोगकी — अिन्द्रियग्राह्य रसोंकी — अिच्छा कभी क्षीण नहीं होती। शरीर-सुखकी अिच्छा अुसे हमेशा रहा करती है। अैसी स्थितिमें जरा, व्याधि और मृत्युका भय मनुष्यको हमेशा लगता ही रहेगा। अिस बारेमें विद्वान-अविद्वानका भेद नहीं है; सबल-निर्बल, अमीर-गरीब, राजा-रंकका भेद नहीं है। सारी मानव-जाति अिस दुःख और भयमें हमेशासे फंसी हुअी है। अिस प्रकारकी शंकाओं और प्रश्नोंके कारण विचारवान मनुष्यका मन अधिक विचार करने लगा।

सुखकी अपेक्षा दुःखके मौक़े पर मनुष्यका मन ज्यादा जाग्रत बनता है और अुसके कारणोंकी खोज करनेकी तरफ़ झुकता है। अैसे ही मौक़ोंके कारण विचारशील मनुष्य जरा, व्याधि और मृत्युके बारेमें सूक्ष्मतासे विचार करने लगा। अिनके कारणोंकी खोज करने लगा। मृत्युके साथ साथ जन्मका भी अुसे सहज विचार करना पड़ा। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि अिन चार अवस्थाओंमें से अुसे खास तौर पर जन्म और मृत्युका ही विचार करना पड़ा होगा, क्योंकि जन्म मानव-जीवनका आरम्भ है और मृत्यु अुसका अन्त है। जरा और व्याधिकी अवस्थायें मनुष्यको जन्मके कारण ही प्राप्त होती हैं। जन्म-मृत्युकी तरह ये अवस्थायें भी स्पष्ट हैं, परन्तु जन्मके पहले और मृत्युके पीछेकी दो अवस्थायें गूढ़ हैं। मनुष्यको मृत्युकी अवस्था भी जन्मके कारण ही प्राप्त होती है। अिसलिअे यदि जरा, व्याधि और मृत्यु नहीं चाहिये तो जन्मसे ही बचना चाहिये। परन्तु विचारवान मनुष्यको यह मालूम हुआ होगा कि जन्म-मरणके रहस्यका पता लगाये बिना और अुनके कारण जाने बिना यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। अिसलिअे वह जन्म-मृत्युके कारणोंकी खोज करनेकी तरफ़ मुड़ा होगा। मानव-जीवनमें मृत्यु जैसी भयानक, दुःखरूप और अनिवार्य दूसरी कोअी आपत्ति नहीं है। मृत्युने ही मनुष्यको जीवनके विषयमें सूक्ष्म और गहरा विचार करनेको प्रेरित किया होगा। मृत्युके कारणों और अुसके बादकी स्थितिका विचार करते करते अुसे जन्म और अुसके कारणोंका विचार करना पड़ा होगा। शरीर और अुसकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंका, मन-

बुद्धि-चित्त-प्राण, चैतन्य, कर्मेन्द्रिया, ज्ञानेन्द्रिया, अुनके कार्य और परिणाम, सृष्टि और पंचमहाभूत अिन सबका वह विचार करने लगा होगा। अिसी तरह मानव-स्वभाव, विकार, भावना, संस्कार, गुण, धर्म, जाग्रनि-स्वप्न-सुषुप्ति, त्रिगुण, प्राणिवर्ग तथा वनस्पतिवर्ग, अुनके भेद, अुनकी अवस्थायें, जीवमात्रका परस्पर आकर्षण-अपकर्षण आदि सभी सचेतन-अचेतन वस्तुओंकी शोध करते करते अुसे अपना रास्ता निकालना पड़ा होगा। शरीरकी घटना-विघटना, सृष्टिका प्रिय-अप्रिय निर्माण-नाश और विश्वका अखड रूपमे चलनेवाला प्रचड व्यापार — अिन सबका कर्ता कौन है? जन्म और मृत्यु किसकी आज्ञासे होते हैं? विचारशील लोगोंके मनमें कुदरती तौर पर अिस विषयके विचार और प्रश्न अुठे होंगे। अुनके विचारों, प्रश्नों, शकाओं और खोजोंमें ही तत्त्वज्ञान तैयार हुआ है। अुन्हींसे अीश्वर-परमेश्वर, प्रकृति-पुरुष, ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म आदि कल्पनायें और विचार मनुष्यको सूझे हैं।

खोजके अन्तमें कृतार्थता

हरअेक विचारककी ज्ञानसबधी जिज्ञासा, अुत्कठा और व्याकुलता, अुसके वैराग्य, सचेतन-अचेतन सृष्टिके अुसके अवलोकन, निरीक्षण और परीक्षण, अुसकी बौद्धिक सूक्ष्मता और व्यापकता और अन्तमें अुसकी निर्णयशक्तिके अनुसार अुसे अपनी खोजमें सिद्धि प्राप्त हुअी होगी। अुस परसे अुसने जन्म-मृत्यु और समग्र सृष्टिके बारेमें सिद्धान्त निकाले होंगे। अिसीमें अुसे तृप्ति, समाधान, प्रसन्नता और जीवनकी कृतार्थता मालूम हुअी होगी। आगे चलकर बढ़ते हुअे अनुभव और ज्ञानके कारण, निरीक्षण और निर्णयशक्तिके कारण अपनी पहली मान्यतामें समय पाकर किसीके मनमें शकायें पैदा हुअी होंगी और अिन नअी शंकाओंके साथ वह फिर खोज करने लगा होगा। या दूसरा विचारक पहले सिद्धान्त स्वीकार न होनेके कारण अपनी शकाओंके साथ अधिक सूक्ष्मता और व्यापकतासे अैसी खोजके पीछे लग गया होगा। अिस प्रकार सारे बराबर तत्त्वोंकी बार-बार खोज करते-

करते कितने विचारकके तर्ककी मंजिल विश्वके आदिकारण तक पहुंच गअी होगी। अुसके बाद अुसे निश्चयपूर्वक लगा होगा कि सबका आदिकारण-स्वरूप अेक ही सनातन, अविभाज्य तत्त्व सकल विश्वमें व्याप्त है; और अुसकी सूक्ष्मता, विशालता और व्यापकता परसे अुसने अुसीको ब्रह्मतत्त्व कहा होगा। और विश्वके सजीव-निर्जीव अणुसे लेकर ठेठ ब्रह्माण्ड तक जो कुछ दृश्य-अदृश्य, गोचर-अगोचर, ज्ञात-अज्ञात, कल्पनामें आनेवाला और न आनेवाला है, वह सब — वह स्वयं भी — अुस महान और मूल तत्त्वका आविर्भाव है, अिस दृढ़ तर्क या अनुमान पर वह निश्चित रूपमें पहुंचा होगा और अिस ज्ञानको अुसने ब्रह्मज्ञान कहा होगा। विचारक जिस तत्त्वमें स्थिर हुआ, जिसके आगे विचार करनेकी अुसकी गति रुकी, जिस तत्त्व तक पहुंचकर अुसकी व्याकुलता शान्त हुअी, अुस तत्त्व या तर्कको मुख्य मानकर अुसने अपने अंतिम निर्णयको अुस तत्त्वका बोधक या सूचक नाम दिया। जिस विचारकको सृष्टिके आदिकारणमें मुख्यतः नियामकता और शक्तिमत्ता दिखाअी दी, अुसने अुसे अीश्वर नाम दिया; जिसे व्यापकता और अनंतता दिखाअी दी, अुसने अुसे ब्रह्म कहा; जिसे यह लगा कि मनुष्य खुद भी अुसी विशाल तत्त्वका आविर्भाव है — जिसमें यह निश्चय दृढ़ हुआ कि शरीरका मुख्य तत्त्व यही है — अुसने अुसे आत्मतत्त्व माना। जिन्हें अत्यन्त परिश्रम, सतत सूक्ष्म अवलोकन और अभ्यास आदिकी मददसे अपनी खोजके अन्तमें सत्य मिला होगा, जिनके जीवनमें सत्य-ज्ञानके सिवाय और कोअी हेतु नहीं रहा होगा, जो वासनातृप्त, समस्त भौतिक विषयोंके प्रति अनासक्त, ज्ञानके लिअे अत्यन्त व्याकुल और समर्थ होते हुअे भी विरक्त होंगे, अुन्हें अपनी खोजके अन्तमें मिली हुअी सफलतासे कितना आनन्द, कितनी प्रसन्नता और कृतकृत्यता महसूस हुअी होगी, अुसकी कल्पना हम जैसोंको कैसे हो सकती है! अेक ही मुख्य हेतुके पीछे तन-मन-धन सर्वस्व न्योछावर करके, अुसीको जीवनका अेकमात्र हेतु बनाकर, अुसके लिअे अपार परिश्रम करनेके परिणाम-स्वरूप जब अुन्हें अुसमें सफलता मिली होगी, तब अुन्हें कैसा लगा होगा? अुन्हें यदि यह अनुभव हुआ हो कि जीवन सार्थक हुआ, जीवनमें

कोओी भी हेतु बाकी नहीं रहा और कोओी भी कार्य या कर्तव्य अब करनेको रह नहीं गया, और जिससे अुन्हें परमानन्द हुआ हो, तो जिसमें आश्चर्य क्या? सृष्टिमें या अपनेमें, भीतर या बाहर अब कुछ भी जाननेको नहीं रह गया, अैसा प्रतीत होने पर अुन्हें परम कृतार्थता भी मालूम हुअी होगी। ज्ञानसे परिपूर्ण होनेके बाद जीवनकी अिच्छा नहीं और मृत्युका भय भी नहीं — अैसी अुनकी अवस्था हुअी होगी। किसी प्रकारका बन्धन नहीं, किसी तरहकी अिच्छा नहीं — अैसी स्थितिमें अुनके मनमें मोक्षकी कल्पना आअी हो तो वह भी स्वाभाविक था। अिसमें शक नहीं कि सत्यकी खोजका मूल हेतु, अुसके लिअे किया गया परिश्रम, चिन्तन, मनन, निदिध्यास, विरक्त स्थिति, स्वार्थका पूरी तरह अभाव, सब तत्त्वोंकी हुअी खोज, अपने प्रयत्नमें मिली हुअी सफलता और अुससे प्राप्त हुअी ज्ञानावस्था — अिन सबका वह स्थिति स्वाभाविक परिणाम होनी चाहिये। अिस प्रकार अेकसे अेक बढ़कर प्रखर, सूक्ष्म और गाढ़ विचारशील शोधकों द्वारा किये गये प्रयत्नोंसे निर्माण हुआ तत्त्वज्ञान हमें मिला है। यह सब अुन महाभागोंकी कमाअी है।

दर्शनकारोंका मानव-जाति पर अुपकार

अुन मूल दार्शनिकोंके बारेमें विचार करने पर अुनकी सत्य-ज्ञान संबंधी जिज्ञासा, अुत्कंठा और व्याकुलता; अुनके लिअे किया गया अुनका परिश्रम; अुनकी सूक्ष्म, कुशाग्र, मर्मस्पर्शी परन्तु व्यापक बुद्धिमत्ता; विषयको आरपार भेदकर ठेठ सत्य तक जा पहुंचनेवाली अुनकी दीर्घ, भेदक और पवित्र दृष्टि आदिका खयाल आते ही अुनके प्रति अत्यन्त आदर पैदा हुअे बिना नहीं रहता। भौतिक अिन्द्रियजन्य सुखके प्रति अुनका वैराग्य; प्रकृति — पंचमहाभूतोंसे लेकर मानव-शरीर, मन, प्राण, चित्त, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि तक सारी चराचर सृष्टिका अुनका सूक्ष्म अवलोकन और निरीक्षण; साथ ही अिन सबके गुणधर्म और संस्कारोंका अुनका ज्ञान बहुत ही आश्चर्यकारक लगता है। मोह और अज्ञानमें गोते खानेवाले संसारमें तत्त्वशोधनके

पीछे पड़कर जिन महापुरुषोंने सत्यकी अुपासना की और अपने लिअे आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया वे सचमुच धन्य हैं। मानव-जाति पर अुनके भारी अुपकार हैं। सारी मानव-जातिको अिस विषयमें सदैव अुनका ऋणी रहना चाहिये।

तत्त्वज्ञानका विकास बादमें कैसे रुका?

परन्तु मालूम होता है कि तत्त्वशोधनका यह प्रयत्न भारतवर्षमें पहले जैसा जारी नहीं रहा। वह किसी समय रुक गया। जिससे तत्त्वज्ञानका विकास हमारे देशमें और आगे नहीं हो पाया। अिसके कारणोंका विचार करने पर अैसा मालूम होता है कि हमने किसी समय तत्त्वज्ञानके साथ मोक्षका सम्बन्ध जोड दिया। तबसे हमारा शोधकपन खतम हो गया, केवल श्रद्धालुपन बढ़ता रहा और ज्ञानकी अुपासना बन्द हो गअी। मूल शोधकों और दार्शनिकोंको अपनी जिज्ञासा और परिश्रमका फल ज्ञान, शान्ति और प्रसन्नताके रूपमें मिल गया। अिस परसे किसी समय हममें यह गलत खयाल पैदा हो गया कि अुनकी तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचारसरणीको केवल मान लेनेसे ही हमें भी वैसा ही ज्ञान, शान्ति और प्रसन्नता मिल जायगी। अैसी शंका होती है कि यह सब अुसीका परिणाम होना चाहिये। अेक बार अैसा मजबूत खयाल बन जानेके बाद अुसीसे ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्म-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार आदि कल्पनायें पैदा हुअी हैं और तत्त्वशोधक दार्शनिकोंके आनंद परसे ब्रह्मानंद, आत्मानंद, नित्यानंद आदि अलग अलग आनन्दोंकी कल्पना करके हमने आनन्दकी अुपासना आरम्भ की है। ज्ञान, आनन्द, कृतार्थता और बन्धनरहित अवस्था आदि सब किसके परिणाम हैं, अिसका विचार न करके हमने यह मान लिया कि अिन दार्शनिकों और विचारकों द्वारा पेश की गअी विचारसरणी ही अिन सब बातोंका साधन है। अनेक प्रकारके परिश्रम करनेके बाद, हेतु सफल होनेके बाद और शोधकोंकी ज्ञानकी आतुरता शान्त होनेके बाद अुनके चित्तकी जो स्वाभाविक अवस्था हुअी वह अिन सबके परिणामस्वरूप थी, अिस बात पर ध्यान न देकर हम केवल विचारसरणीमें या आनन्दकी कल्पनामें कृतार्थता

ने लगें और मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करने लगें। किसी न
ो समय हममें अिस प्रकारका भ्रामक विचार पैदा हो गया और
परासे दृढ़ होते होते अुसने श्रद्धाका स्वरूप धारण कर लिया।
अमरीकाका प्रथम दर्शन होने पर कोलम्बसको अतिशय आनंद
और अुस भूमि पर पहला कदम रखने पर अुसने कृतार्थता
भव की। न्यूटनको अपनी खोजमें सफलता मिलने पर आनन्द और
ता महसूस हुआ। आज भी बड़े बड़े शोधकों और वैज्ञानिकोंको अपनी
ी खोजों और प्रयत्नोंमें सफलता मिलने पर आनन्द और कृतार्थताका
भव होता है। अिस परसे यह मानकर कि अमरीकाके दर्शन और
जमीन पर कदम रखनेमें ही आनन्द और कृतार्थता प्रतीत होनेका
है, या न्यूटनका सिद्धान्त समझ लेनेसे अुसे हुआ आनन्द प्राप्त
जाता है, या आजके शोधकोंकी खोजोंकी अुपपत्ति समझ लेनेसे
होनेवाला आनन्द और कृतार्थता हमें भी मिल जायगी, कोअी
के अनुसार प्रयत्न करने लगे तो क्या वह अुचित होगा? हम
ठीक मानेंगे? ज्ञानके दूसरे क्षेत्रोंमें जिस चीजको हम ठीक नहीं
सते या कभी नहीं समझेंगे, अुसको तत्त्वज्ञानके विषयमें अुसे दिये गये
र्मिक स्वरूपके कारण ठीक समझते हैं, अुस पर श्रद्धा रखते
हैं और अुस पर आज बड़े बड़े सम्प्रदाय चल रहे हैं।

मोक्ष-सम्बन्धी कल्पनाका आनन्द

अिन सब बातोंका विचार करने पर खयाल होता है कि ज्ञान
से कहा जाय? आनंद और कृतार्थताका स्वरूप क्या है? अिन भावों
अवस्थाओंका निर्माण किस चीजसे होता है? ये किसके परिणाम
—अिन सब प्रश्नोंका हमने सूक्ष्मतासे विचार नहीं किया। हम
शोधक नहीं हैं। हममें शोधकी, जिज्ञासाकी आतुरता नहीं है। हमें
न्दकी अिच्छा है। मोक्षकी अिच्छा भी किसी किसीको होगी।
न्तु मूल शोधकको होनेवाले आनन्द या कृतार्थताकी अिच्छा हमें
है। अितने पर भी हम यह मानते रहे हैं कि शोधकको खोज
होने पर अुसे जो वस्तु निर्णयके रूपमें मिली, अुस निर्णयको
अपने चित्तमें अनेक प्रकारसे अुतार लें, तो जन्म-मरणसे मुक्त

हो जायंगे। यह मानकर कि अुस निर्णयको चित्तमें अुतार लेना साध्य है और अुसको बताओी हुओी तात्त्विक विचारसरणी साधन है, अुसीको अलग अलग रूपकों, आलंकारिक भाषा और पांडित्यपूर्ण तर्कवाद द्वारा पेश करके, ग्रंथ लिखकर और काव्य रचकर हम अपने और दूसरोंके चित्तमें अुतारने लगे। यह हिप्नॉटिज्मका अेक प्रकार है, किन्तु ज्ञान नहीं है। अिसमें कृतार्थता नहीं है। अुन्हीं कल्पनाओंको अलग अलग ढंगसे रंगकर हम अपने पर अुनका रंग चढ़ाते रहे और दूसरोंको भी अुनका रंग चढ़ाने और अुनमें रमाने लगे। अिससे हमें जो आनन्द मिलता है, वह खोजके अन्तमें होनेवाले ज्ञानका आनन्द नहीं होता; परन्तु हमारे ही द्वारा अपने चित्तमें अुतारी हुओी कल्पनाका, हमारे ही मनमें यह अुतारते रहनेका कि हम शुद्ध कोओी दिव्य, अजर, अमर तत्त्व हैं, और आनंदकी धारणा रखकर पैदा किया हुआ आनन्द होता है। प्रत्यक्ष खोजसे होनेवाले ज्ञानका आनन्द और खोजकी विचारसरणीसे और आनन्दकी धारणा कर लेनेसे होनेवाला आनन्द, अिन दोनोंमें बड़ा फर्क है। हमारे तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें अैसा ही कुछ हुआ होगा। मोक्ष हमारे जीवनका ध्येय है। तत्त्वज्ञानियोंको मोक्ष मिला है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। तत्त्वज्ञानीका ज्ञान हमने मान लिया और अुसे अपने चित्तमें अुतार लिया कि हमें भी मोक्ष मिल जायगा, अैसी हमारी श्रद्धा है! अिस श्रद्धाके दृढ़ होने पर मोक्ष निश्चित समझिये! अिस रूपसे हममें अेक प्रकारकी जो श्रद्धा निर्माण हुओी, वह परम्परासे आज अितनी दृढ़ हो गओी है कि जिस दृष्टिसे मैं यह लिख रहा हूं अुस दृष्टिसे अिस विषयमें विचार करनेको शायद ही कोओी तैयार होगा।

शोधक और श्रद्धालुके बीचका भेद

तत्त्वज्ञानकी कओी अलग अलग प्रणालियां हैं। अुन सबमें अेकवाक्यता हो सो बात भी नहीं है। अन्तिम सिद्धान्तके विषयमें तो अुनके बीच परस्पर विरोध भी जान पड़ेगा। तो भी जो मनुष्य जिस मतको अेक बार स्वीकार कर लेता है, वह अुससे अैसा चिपट जाता है कि अुसे कितना ही समझाया जाय वह अपनी विचारसरणीको नहीं छोड़ता। कारण, वह शोधक नहीं परन्तु श्रद्धालु होता है। और हमारे तत्त्वज्ञानमें

कोओी भूल है, यह मान लिया जाय या साबित हो जाय, तो हमारा तत्त्वज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो जायगा; जिससे हमारे मोक्षमें और सद्गतिमें बाधा पड़ेगी; जितना ही नहीं परन्तु हम जिस सम्प्रदायके हैं अुसकी और अुसके मूल प्रवर्तककी यह त्रुटि मानी जायगी, जिससे मूल प्रवर्तककी दिव्यता या अवतारीपनके बारेमें शंका पैदा होगी, अुस पर हमारी श्रद्धा कम हो जायगी और खुद हम तथा हमारी परम्पराके तमाम साम्प्रदायिक अज्ञानी ठहरेंगे — अिस प्रकारकी अनेक शंकाओं और भयके कारण आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ माने गये तत्त्वज्ञानकी जांच करनेके लिये कोओी तैयार नहीं होता। अिस तरहके श्रद्धालु सिर्फ साम्प्रदायिक लोगोंमें ही होते हों सो बात नहीं। कोओी सम्प्रदाय स्वीकार न किया हो तो भी आध्यात्मिक हेतुके लिअे किसी विशेष तत्त्वज्ञानको माननेवाले लोगोंमें भी ज्यादातर किसी महापुरुषकी दृष्टिसे ही तत्त्वज्ञानका विचार करनेवाले होते हैं। श्रद्धालु होनेके कारण वे भी किसी दृष्टिसे विचार करते हैं कि अपनी विचारसरणीके बारेमें हमारे मनमें अश्रद्धा अुत्पन्न न हो और श्रद्धा बढ़ती रहे। साम्प्रदायिकोंमें या असाम्प्रदायिकोंमें कोओी अभ्यासी नहीं होता सो बात नहीं। परन्तु अुनके अभ्यासका तरीका अेक निश्चित रूप धारण किया होता है। वे अपनी मूल श्रद्धाको कायम रखकर अभ्यास करते हैं, अिसलिअे अुनमें शोधक-वृत्ति होनेकी बहुत ही कम सम्भावना है। जो सचमुच शोधक होते हैं, वे केवल श्रद्धासे कोओी बात माननेको तैयार नहीं होते। वे हर बातको अनुभवसे साबित करनेकी कोशिश करते हैं। जितनी शंकायें और तर्क अुठें अुन सबको दूर करके अुन्हें सत्यज्ञान प्राप्त करना होता है, अिसलिअे वे शंका और तर्कसे डरते नहीं। परन्तु जिनकी तत्त्वज्ञान पर रही श्रद्धाकी जड़में मोक्षकी आशा होती है, वे भावुक भक्त जैसे अपनी पूज्य मूर्तिकी रक्षा करते हैं वैसे ही अपने तत्त्वज्ञानकी रक्षा करते हैं। जैसे वे भक्त अपनी मूर्तिको अलग अलग ढंगसे शृंगार करा कर या सजाकर अपनेमें आनन्द पैदा करनेकी कोशिश करते हैं, अुसी तरह ये तत्त्वज्ञानी भी अपने माने हुअे तत्त्वज्ञानको भिन्न भिन्न रूपकों

और आलंकारिक भाषामें रोचक बनाकर आनन्द पैदा करनेका प्र करते हैं। और अुस आनन्दके आधार पर आत्मा ब्रह्म है, आनन्द है वगैरा वगैरा वर्णन करते हैं।

तत्त्वज्ञान और कल्पनाजन्य आनन्दके बीच भेद

सत्यशोधन तत्त्वज्ञानका मुख्य हेतु है। अुसमें जो आनन्द यह सत्यज्ञानका है। अुस सत्यको शब्दोंमें समझाना नहीं पड़ता और अुपमा और अलंकार द्वारा अुसमें माधुर्य लाना पड़ता है। ज्ञानसे आनन्द प्राप्त करनेके लिअे पहले ज्ञानकी आतुरताकी जरूरत होती है। ज्ञा प्राप्त करनेके लिअे मेहनत करनी पड़ती है। जीवनका यही अेक अुद्देश रखकर तथा सर्वस्वका त्याग करके अुसके पीछे लगना पड़ता है। अिस मार्गमें प्रखर बुद्धि और अत्यन्त लगनकी आवश्यकता होती है। और अिन सबके अतिरिक्त सत्यकी परख और निर्णयशक्तिकी जरूरत होती है। ये चीजें जितनी मात्रामें हममें होती हैं, अुतनी ही मात्रामें हमें ज्ञानसे आनन्द मिलता है। वेदान्त या और किसी विचारसरणीको केवल मान लेनेसे, विश्वकी अुत्पत्ति या संहारका अुलटा-सुलटा क्रम ग्रंथ द्वारा समझ लेनेसे, पंचीकरण पद्धतिसे पंचमहाभूतोंको अलग अलग पद्धतिका बंटवारा समझ लेनेसे और अन्तमें 'आत्मा या ब्रह्म में ही हूं' अैसी धारणा चित्तमें सतत अुतारते रहनेसे वह आनंद हमें नहीं मिल सकता, जो खोजके अन्तमें प्राप्त होनेवाली सफलतासे मिलता है। मोक्षकी आशासे 'मैं कौन हूं?' की जांच करनेका प्रयत्न करनेवाला श्रद्धालु साधक अूपर बताअी हुअी विचारसरणी द्वारा अपने मनको समझाते और मनाते हुअे अन्तमें 'मैं ही आत्मा हूं, मैं ही ब्रह्म हूं; बाकीका सारा व्यापार शरीर, मन, बुद्धि, प्राण वगैरा सब प्रकृतिका खेल है' अिस समझ पर पहुंच कर 'अहं ब्रह्मास्मि' के महावाक्य पर अपनी चित्तवृत्ति दृढ़ करनेका प्रयत्न करता है। सतत अभ्याससे अुसकी यह वृत्ति अितनी दृढ़ हो जाती है कि वह मानने लगता है कि यही सत्यका अनुभव है और यही आत्मबोध है। परन्तु अुसके ध्यानमें यह नहीं आता कि यह आत्मबोध नहीं बल्कि वेदान्त-प्रणालीके आधार पर हमारी [illegible] हुअी अेक चित्तवृत्ति है। जन्म-मृत्युके डरके कारण

'मैं कौन हूं?' की जांच होनी चाहिये अैसी व्याकुलतासे औ
साधक-दशाकी वैराग्यनिष्ठासे अुसमें कुछ कुछ संयम और सद्गु
आ जाते हैं। बादमें तत्त्वज्ञानके अेकाध सिद्धान्तको मानकर य
समस्त दृढ़ कर लेनेसे कि 'वही मैं हूं' अुसके चित्तकी व्याकुलत
शान्त हो जाती है। अैसी हालतमें श्रद्धालु अभ्यासीका यह खयाल
हो जाता है कि मुझे आत्म-साक्षात्कार हो गया, और अुसे समाधान
हो जाता है। तत्त्वज्ञानका अेकाध सिद्धान्त अिस तरह मानकर
अुसे अलग अलग रूपकोंसे सजाकर और अुसमें भिन्न भिन्न रस और
आनन्द पैदा करके हम मन ही मन अपना रंजन करने लगे। और
हमारे चारों ओर जमा होनेवाले भावुकोंके मनमें अुस आनन्दकी अिच्छा
अुत्पन्न करने लगे। भूतकालमें अध्यात्मज्ञानमें श्रेष्ठ मानी गअी या
अवतारी समझी गअी विभूतियां हम खुद ही हैं, अैसी कल्पना करके और
अैसा मानकर कोअी मनुष्य मस्तीका तो कोअी श्रेष्ठताका ढोंग दिखाने
लगा। अिस प्रकार हम अपनी भ्रामक वृत्तिका ही अपने तत्त्वज्ञानके
नाम पर पोषण करने लगे, और अिसके लिअे अुस तत्त्वज्ञानमें से
मार्ग निकालने लगे। हममें शोधकका गुण होता तो ज्ञानके नाम
पर अैसी भ्रामक बातें न होतीं, हमने अुस शास्त्रका विकास
किया होता, अुससे हमें अनेक भौतिक और सात्त्विक लाभ हुअे
होते और हम अुन्नत बने होते। परन्तु तत्त्वज्ञानका सम्बन्ध केवल
मोक्षके साथ जोड़ दिये जानेसे वे लाभ नहीं हो सके। हरअेक सम्प्र-
दायने तत्त्वज्ञानकी कोअी न कोअी प्रणाली अवश्य स्वीकार की है।
अिसका कारण हमारे महापुरुषों और सर्वसाधारण लोगोंमें चली
आ रही यह श्रद्धा है कि तत्त्वज्ञानके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता।
अिसीसे अिस मार्गमें ज्ञानकी खोज न होकर श्रद्धालुपन बढ़ता रहा है।

तत्त्वज्ञानकी सिद्धि

सचमुच हम तत्त्वोंके शोधक और अभ्यासी बन जायं, तो पंच-
भूतात्मक सृष्टिके तमाम स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों और साथ ही अुनके गुण-
धर्मोंका ज्ञान हमें हुअे बिना नहीं रहेगा। ध्वनि, प्रकाश और विद्युत् जैसे
गूढ़ और महान तत्त्वोंके कार्य-कारणभावोंका हमें ज्ञान होगा। मनुष्य

और अन्य प्राणियोंके गुणधर्म, संस्कार, स्वभाव वगैरहका भी हमें ज्ञान होगा। मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, चैतन्य आदि सबका सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान हमारे सामने प्रगट होगा। सारी चराचर सृष्टि और साथ ही असके सूक्ष्म तत्त्वोंके हम जानकार बनेंगे। अिस प्रकार समस्त तत्त्वोंकी खोज करते करते अगर हम तत्त्वज्ञानके आखिरी छोर तक पहुंच जायं तो अिस विश्वमें हमसे कुछ भी अज्ञात नहीं रहेगा और बादमें अिस सारे ज्ञानका अुपयोग हम मानव-जातिके अुत्कर्ष और कल्याणके लिअे आसानीसे कर सकेंगे। अुस ज्ञानसे हमारे जीवनका स्वाभाविक झुकाव भूतमात्रका हित करनेकी ओर ही रहेगा। परन्तु अिनमें से किसी भी तत्त्वकी खोज हमें न लगी हो और अिनमें से किसी बातसे हम मानव-जातिका कल्याण और भूतमात्रका हित न कर सकते हों, तो ज्ञानमार्गमें यह वस्तु संभव प्रतीत नहीं होती कि केवल आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेसे हमें ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाय। सत्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह प्रकार केवल कल्पित और श्रद्धाकी बात ठहरेगा। अुसे ज्ञानकी सिद्धि नहीं कहा जा सकता।

तत्त्वज्ञानका जीवनसिद्धिमें पर्यवसान

अिन सब बातों पर विचार करनेसे मालूम होता है कि तत्त्वज्ञानका सम्बन्ध मोक्षके साथ न मानकर हमारी जीवनशुद्धि और सिद्धिके साथ जोड़ना चाहिये। मानवताके लिअे आवश्यक मालूम होनेवाली हरअेक बातको अधिक शुद्ध, अधिक तेजस्वी और अधिक प्रभावशाली बनानेका सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमें होना चाहिये। मानव-जीवनमें धर्म, अर्थ और काम ये तीन बड़े पुरुषार्थ हैं। मनुष्यमात्रका सारा जीवन अिन तीन पुरुषार्थोंमें बंटा हुआ है। अिन तीनोंकी शुद्धि द्वारा ही जीवनशुद्धि और जीवनसिद्धि प्राप्त हो सकेगी। ज्ञानके बिना यह शुद्धि और सिद्धि संभव नहीं है। अिसलिअे धर्म, अर्थ और कामको शुद्ध करनेकी शक्ति ज्ञानमें होनी चाहिये। व्यक्ति और समष्टिका कल्याण परस्पर विरोधी या विघातक न होकर अेक दूसरेका सहायक बने, अिस दृष्टिसे धर्म, अर्थ और कामका विचार होनेके लिअे तत्त्वज्ञानकी खास तौर पर जरूरत है। यह

आवश्यकता पूरी करनेकी शक्ति तत्त्वज्ञानमे हो तो ही धर्म, अर्थ और कामकी शुद्धि होगी और मानवधर्मकी सिद्धि होगी। हम जिसे तत्त्वज्ञान कहते हैं अुसमें यह शक्ति न हो, तो अुस तत्त्वज्ञानका विकास करके अुसमें यह शक्ति लानी चाहिये। ज्ञानमें यदि पुरुषार्थ न हो, शक्ति निर्माण करनेका गुण न हो, तो अुस ज्ञानमें और अज्ञानमें कोओी भेद नहीं है। दीपक और अग्निमें प्रकाश देनेकी शक्ति जरूर होगी। अगर यह अनुभव होता हो कि दीपकमें और अग्निमें वह शक्ति नहीं है, तो यह निश्चित समझना चाहिये कि वहा दीपक और अग्नि नहीं, परन्तु अुनके बारेमें कुछ भ्रांति ही है।

संक्षेपमें, तत्त्वज्ञानके आभास पर विश्वास न रखकर हमें अैसे तत्त्वज्ञानका आश्रय लेना चाहिये, जिसमें मानव-जीवनको सब तरहसे सफल बनानेका सामर्थ्य हो। भ्रमके पीछे न पडकर यदि हम सचमुच ज्ञानकी प्राप्ति कर लें, तो अुसके साथ हममें पुरुषार्थ अवश्य आना चाहिये। ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद अुसका अुपयोग करना अुस ज्ञानका स्वाभाविक परिणाम है।

२
ओीश्वर-भावना

जीवमात्रमें जिज्ञासा-वृत्ति होती है। पशु-पक्षियोंमें वह बिलकुल मर्यादित रूपमें होनेके कारण आसानीसे हमारे ध्यानमें नहीं आती। परतु मनुष्यमें वह बचपनसे ही स्पष्ट मालूम होती है, और अुसकी बौद्धिक वृद्धिके साथ वह भी बढ़ती जाती है। अिस जिज्ञासा-वृत्तिमें से ही मनुष्यमें ओीश्वर-सबंधी कल्पना पैदा हुओी है। किसी महत्त्वकी वस्तुको हम यथार्थ रूपमें न जान सकें, तो अुसे जाननेकी जिज्ञासा हमारे मनमें रहती है। अुस वस्तुका हमारा ज्ञान जिस हद तक कम होता है, अुसी हद तक अुसके विषयमें हमें कुछ तर्क या अनुमान करने पड़ते हैं। वे तर्क या अनुमान ही हमारी कल्पना या मान्यता

होते हैं। अधिकतर हम अुन्हींको अुस वस्तुके विषयमें हमारा ज्ञान मानते हैं। जैसे-जैसे हमारा अनुभव बढ़ता जाता है, हमारे ज्ञानमें वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे पहली कल्पनाओंका अयथार्थ भाग कम होता जाता है और यथार्थ भाग बना रहता है। और अुसीमें नवीन तर्कों या कल्पनाओंकी वृद्धि होती रहती है। अिसी क्रमसे अेकके बाद दूसरी अयथार्थ कल्पनासे बाहर निकलकर मनुष्य सत्यकी ओर बढ़ता है। अीश्वर अनन्त, अपार और अगम्य है, तो भी अपने ज्ञानकी वृद्धिके साथ हम अुसके स्वरूप और स्वभावकी कल्पना बदलते आये हैं। और जब तक हमें अुसका सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक अुसके विषयकी हमारी कल्पनाओंमें, मान्यताओंमें परिवर्तन और सुधार होते ही रहेंगे। हमारी मूल जिज्ञासा-वृत्ति और हमारा बढ़ता हुआ ज्ञान, हमारी आवश्यकतायें और हमारी भावनायें — अिन सबका यह परिणाम होगा। कल्पना द्वारा होनेवाली और अनुभवमें आनेवाली दुःख-निवृत्ति और सुखानुभवके अनुरूप मनुष्यके मनमें अीश्वरके विषयमें प्रेम और कृतज्ञताके भाव पैदा होते हैं और अिससे कल्पनाका पर्यवसान भावनामें होकर अीश्वर-संबंधी मूल कल्पना भावनाका रूप लेती है। अिष्टकी सिद्धि होने तक टिकी रहनेवाली दृढ़ और प्रबल भावना ही श्रद्धा है। श्रद्धामें अुत्पन्न होनेवाली समर्पण-वृत्तिमें से भक्तिका अुद्भव हुआ होगा और कैसी भी विपरीत स्थितिमें विचलित न होनेवाली श्रद्धाका ही नाम निष्ठा पड़ा होगा। विकसित मानवके मनमें अैसे भाव कम-ज्यादा मात्रामें होते ही हैं। ये भाव किसीके अीश्वरके विषयमें, किसीके सत्य या धर्मके विषयमें, तो किसीके आदर्शके विषयमें होते हैं। लेकिन मानवके मनमें अिन सबका स्थान है। मानवके मनमें अिनकी भूख होती है। अिस भाव-वृत्तिमें ही मानवताका विकास है। मनुष्य-जाति अिसी रास्ते बढ़ती आती है।

अीश्वर कैसा है जिसका शुद्ध ज्ञान मनुष्यको किसी भी समय हो सकता या नहीं, अिस प्रश्नको छोड़ दें तो भी मूल जिज्ञासाने मनुष्यके मनमें अुत्पन्न हुअे अिन भावोंमें बड़ी शक्ति है। यह

अिस विषयके आज तकके अितिहाससे मालूम हुआ है। ये भाव ज्यों-ज्यों शुद्ध होते जाते है, त्यों-त्यों अुनका सामर्थ्य बढ़ता जाता है — अिस रहस्यको ध्यानमें रखकर मनुष्यको अपने भाव शुद्ध रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। अिस प्रकरणके लिखनेमें मुख्यतः यह दृष्टि और यही हेतु है।

* * *

ओीश्वरावलम्बनकी जरूरत

भिन्न-भिन्न मानव-समाजोमें ओीश्वर-संबधी कल्पनाओंका अितिहास देखनेसे मालूम होता है कि मनुष्य-जातिमें ज्यों-ज्यों मानवीय सद्गुण प्रगट होते गये, त्यों-त्यों अुसकी वे कल्पनाअें बदलती गअी हैं। ओीश्वरकी मूल कल्पना मनुष्यकी दुर्बलता और अुसके थोड़े-बहुत बौद्धिक विकाससे अुत्पन्न हुअी होगी। दुर्बलताके साथ कल्पना या तर्क करनेकी शक्ति मनुष्यमें न होती, तो सभव नहीं कि अुसे ओीश्वरकी कल्पना सूझती। पशु-पक्षी दुर्बल हैं तो भी अैसा नहीं लगता कि अुनमें ओीश्वर-संबधी कल्पना होगी। मनुष्यको अपने पर आ पड़नेवाले दु खों, सकटों, कठिनाअियों और आपत्तियोंके निवारणके लिअे, अपनी सुरक्षाके लिअे, और साथ ही अपनी कामना-अिच्छा वगैराकी पूर्तिके लिअे और सुखकी स्थिरताके लिअे किसी न किसी दिव्य और महाशक्तिके प्रति श्रद्धाका आधार लेना पड़ता है। दार्शनिक, तत्वज्ञ, विचारक, समीक्षक या नास्तिक ओीश्वरके बारेमें कुछ भी कहे; कोओी अपनी जोरदार दलीलोंसे, कोओी तर्कवादसे, कोओी तात्त्विक दृष्टिसे या अन्य किसी प्रकारसे ओीश्वरका नास्तित्व साबित करके बता दे, तो भी जब तक मानवप्राणी आजकी स्थितिमें है — और थोड़े-बहुत फर्कके साथ वह अिसी मानसिक स्थितिमें रहनेवाला है — तब तक किसी न किसी रूपमें अुसे ओीश्वर-संबधी कल्पनाकी जरूरत महसूस होती रहेगी। जब तक मनुष्यको जीवनके हरअेक दु खका नाश करनेके स्वाधीन अुपायोंका ज्ञान न हो जायगा, जब तक अुसे यह लगता रहेगा कि वर्तमान सुखके स्थायी रहनेका आधार अपने पुरुषार्थ पर नहीं, बल्कि

अपने काबूमें बाहरके अनेक बाह्य संबलों पर है, या जब तक वह यह नहीं जानता कि किस पर असका आधार है — और असलमें वस्तुस्थिति यही है — तब तक मनुष्यको किसी भी बड़े आलम्बनकी जरूरत मालूम होती रहेगी। दुःखके अवसर पर निर्भय, निश्चिन्त और अनुद्विग्न तथा सुखके समय जाग्रत और संयमशील रहनेके लिये चित्तकी जिस प्रकारकी पवित्र और स्थिर अवस्था होनी चाहिये वह जब तक मनुष्यको प्राप्त नहीं होगी, जब तक मनुष्य चित्तवृत्ति पर सहज ही काबू न रख सकेगा, तब तक किसी भी महान शक्तिका आधार लेनेकी अिच्छा बनी होगी ही। जो सुख-दुःखके पार चले गये हों, जो हरअेक मामलेमें अपने सामर्थ्य पर आधार रखने जितने शक्तिशाली बन गये हों, अुन थोड़ेसे लोगोंको छोड़ दें तो बाकी सारे मनुष्य-समाजको औश्वर-संबंधी कल्पनाकी जरूरत है। सर्वथा अज्ञानीसे लेकर विद्वान तक, रंकसे लेकर धनिक तक — सबको अिस कल्पनाकी जरूरत है। अिसमें अन्तर होगा तो सिर्फ कल्पनाके स्वरूपका होगा; परन्तु प्रकार वही रहेगा। मनुष्यकी औश्वर-संबंधी कल्पनाओंमें अनेक प्रकारके भेद हों, तो भी अुसमें मानी गअी महान शक्ति, अुसका न्यायीपन, दयालुता, अुसकी दीनवत्सलता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता वगैराके मामलेमें सबमें लगभग अेकवाक्यता होती है। वह शरणागतोंका रक्षक, अनाथोंका प्रतिपालक, पतितोंका अुद्धारक और अनंत विश्वकी अुत्पत्ति-स्थिति-लयका कर्ता है, अिस बारेमें भी सब लगभग अेकमत हैं। अलबत्ता, दुनियामें सब लोगोंकी बुद्धि, परिस्थिति, संस्कार और सामाजिक रीति-रिवाजमें समानता न होनेसे सबकी औश्वर-संबंधी कल्पनामें पूरी तरह सादृश्य न हो यह स्वाभाविक है; और अिसीलिअे औश्वरको प्रसन्न करने और अुसकी आराधना और अुपासना करनेकी विधि और मार्ग हरअेकके अलग-अलग दीख पड़ते हैं। अिसे छोड़ दें तो मालूम होगा कि सबकी औश्वर-संबंधी कल्पना बहुत ही मिलती-जुलती है।

औश्वर-सम्बन्धी कल्पनाका विवेकपूर्ण अुपयोग

औश्वर-सम्बन्धी कल्पना और औश्वर या परलोकके साथ संबंध जोड़नेवाली धर्मकल्पनाको कुछ लोग अफीमकी गोलीकी अुपमा देते

है। अुसमें किसी हद तक सत्य है, परन्तु वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। औीश्वर-सम्बन्धी कल्पनासे दुनियामें जितनी बुराअियां पैदा हुअी हैं, अुन सबको ध्यानमें रखकर अुन्होंने यह अुपमा दी है। अुपमाको कायम रखकर कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि औीश्वर-सम्बन्धी कल्पना कभी-कभी और कहीं-कहीं अफीम जैसा परिणाम पैदा करनेवाली सिद्ध हुअी हो तो भी अुसमें अिस कल्पनाका दोष नहीं है। अफीमसे भी तो अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके परिणाम आ सकते हैं। दवाके तौर पर योजनापूर्वक अुसका अुचित अुपयोग करनेसे वह प्राणदायक होती है और रोज खानेकी आदत डाल लेनेसे या अेकदम अधिक मात्रामें अुसका अुपयोग करनेसे वही हानिकारक और कभी-कभी प्राणघातक सिद्ध होती है। अिसी तरह औीश्वर-संबंधी कल्पना अहितकर नहीं है; परन्तु अुस कल्पनाका किस ढंगसे, कितनी मात्रामें और किस समय अुपयोग किया जाय, अिस बारेमें अज्ञान होनेके कारण नुकसान होता है। सिर्फ अफीम ही क्यों, और भी कोअी अुपयोगी चीज अज्ञानसे काममें ली जाय, तो अुसके भी दुष्परिणाम हमें भोगने पड़ते हैं। भोजन जैसी सदा आवश्यक और अुपयोगी वस्तु भी अनुचित ढंगसे, अनुचित मात्रामें और अनुचित समय पर ली जाय, तो अुससे भी अनेक रोग हो जाते हैं और कभी-कभी जीवनसे भी हाथ धोने पड़ते हैं। अिसलिअे हमारे हिताहितका आधार केवल वस्तु पर नहीं होता, परन्तु अुसके अुपयोगमें दिखाये जानेवाले हमारे विवेक या अज्ञान पर होता है।

औीश्वर-संबंधी योग्य कल्पनाके लक्षण

अिन सब बातों पर विचार करनेसे अैसा लगता है कि मानव-अुत्कर्ष और अुन्नतिके लिअे औीश्वर-सम्बन्धी कल्पना, भावना, श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा — ये सब जरूरी हैं। ये मनुष्यको अवनतिकी तरफ ले जानेवाली नहीं हैं। अिनसे मिलनेवाली शान्ति और प्रसन्नताके लिअे मानव-मन प्यासा रहता है। मानव-मनको सहारा देकर अुसे अुन्नत करनेके लिअे ये बहुत ही अुपयोगी हैं। अिसमें महत्वकी और मुख्य बात यही है कि हमारी औीश्वर-सम्बन्धी कल्पना

भरसक विवेकयुक्त, सरल और अुदात्त होनी चाहिये। अुसमें गूढ़ता या गुप्तता न होनी चाहिये। अुस कल्पनामें हमारे चित्तको आश्वासन या आधार मिले, जिसके लिअे अुसमें किसी भी प्रकारके कर्मकाण्डकी झंझट न होनी चाहिये। अुलटे, श्रद्धा, विश्वास और निष्ठाके जिनमें बढ़ते रहनेका स्वाधीन और सादा अुपाय अुसमें होना चाहिये। अुसमें मध्यस्थ, पथप्रदर्शक या गुरुकी जरूरत न होनी चाहिये। अुस कल्पनाको माननेवालेका नीति और पवित्रताकी तरफ कुदरती झुकाव होना चाहिये। सदाचारको अुसमें प्रधानता होनी चाहिये। दया, सत्य, प्रामाणिकता, धैर्य, निर्भयता, अुदारता, निश्चिन्तता, शान्ति और प्रसन्नताके लाभ अुसमें सहज ही मिलने चाहिये। अुस कल्पनाके ये स्वाभाविक परिणाम होने चाहिये — मनुष्यमात्र पर हमारा प्रेम बढ़ता रहे, सामूहिक कल्याणकी अिच्छा हमेशा जाग्रत रहे और कर्तव्य करनेकी स्फूर्ति सतत बनी रहे। अुस कल्पनामें अैसा प्रभाव होना चाहिये जिससे हमारा अज्ञान और भोलापन (अन्ध और मूढ़ विश्वास) मिट जाय, हमारे विकारोंका नाश हो, हमारी आशा, तृष्णा, लोभ व दम्भका विलय हो, चित्त स्वाधीन और शुद्ध बने, बुद्धि व्यापक और तेजस्वी हो, धर्मको प्रोत्साहन मिले और अहंकार क्षीण हो जाय। अुस कल्पनामें अैसा दिव्य गुण होना चाहिये जो हमारी पामरता और क्षुद्रता, पशुता और दुर्बलता, आलस्य और जड़ता — अिन सबका नाश करके हमारी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंकी शुद्धि करे, हममें आत्मविश्वास पैदा करे और साथ ही हमारे शरीर, बुद्धि और मनमें नित-नये चैतन्यका संचार करे। सारांश यह कि अुस कल्पनामें अैसा सामर्थ्य होना चाहिये जो मनुष्यको सब तरहसे मानवताकी तरफ ले जाकर तथा अुसे जीवनकी संपूर्ण सिद्धि प्राप्त कराकर कृतार्थ करे। अिस प्रकारकी अीश्वर-सम्बन्धी कल्पना मनुष्यमात्रका कल्याण ही करेगी। अुससे किसीका भी अहित होना कभी संभव नहीं।

अीश्वर-सम्बन्धी कल्पना समयानुसार बदलनी चाहिये

अिसलिअे हरअेक कालके अनुरूप अीश्वर-संबंधी कल्पना समय-समय पर मनुष्यको मिल जाय, तो मानव-जातिके कितने ही अनर्थ सहज ही

टल जाय। परंतु मानव-जातिके दुर्भाग्यके कारण अभी तक यह बात मनुष्यके ध्यानमें नही आती। आज भी कोओी पांच हजार तो कोओी दो हजार, कोओी अेक हजार तो कोओी पाच सौ या सौ वर्ष पहलेकी ओीश्वर-सम्बन्धी कल्पनाको ओर अुसके आसपास रची हुओी धर्मकी कल्पनाको मजबूतीसे पकड़े बैठे हैं। मानव-जातिका कल्याण किस बातमें है, जिसका विचार न करके पुरानी कल्पनामें दिव्यता माननेका हम सबका स्वभाव हो गया है। भूतकालमें यदि अनेक बार ओीश्वर-सम्बन्धी कल्पना बदली जा सकी है और हर बार अुससे हमारा कल्याण होना रहा है, तो आज भी पहलेकी कल्पनाको बदलकर नओी कल्पना धारण करनेमें क्या हर्ज है? लेकिन हम अिस मामलेमें अिस तरहसे विचार नही करते। कोओी भोलेपनसे, कोओी अज्ञानसे, कोओी डरसे, कोओी लालचसे और कोओी अिस भयसे कि ओीश्वर-सम्बन्धी वर्तमान कल्पनाके बदलनेसे हमारी आर्थिक हानि होगी, हमारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी, पुरानी कल्पना बदलनेको तैयार नही होते। समाजकी वर्तमान स्थिति और जरूरतोंका विचार न करके और यह देखते हुअे भी कि पुरानी कल्पनाअें घातक सिद्ध हो रही हैं, हम कालानुरूप नओी कल्पना धारण नही करते; अितना ही नही, अुलटे अिसका विरोध भी करते हैं। समाज स्वयं अज्ञान और श्रद्धालुपनके कारण पूर्व कल्पनाको छोडनेके लिअे तैयार नहीं होता। पुरानी कल्पनाके चाहनेवाले, अुस कल्पनाके कारण महत्त्व पाये हुअे मध्यस्थ, गुरु और कर्मकाण्डी पुरोहितोंका वर्ग नओी कल्पनाका हमेशा विरोध करते हैं। अैसा मालूम होता है कि पुरानी निरुपयोगी और अहितकर कल्पनाओंको छोड देनेके लिअे तैयार न होकर नओीका विरोध करनेवाला वर्ग समाजमें हमेशा रहा है और ओीश्वरके नाम पर हमेशा अुसीने अनर्थ किये हैं।

ओीश्वर-सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ कल्पना, भावना व श्रद्धा

यज्ञमें मनुष्यों या पशुओंकी आहुति लिये बिना ओीश्वर सन्तुष्ट नही होता, अैसी हमारी अेक समयकी कल्पना बदलते-बदलते अब यहा तक आ पहुची है कि वह केवल सदाचार और भाव-भक्तिमे

सन्तुष्ट होता है। मानव-जातिमें सदाचार और सद्भावनाओंको जैसे-जैसे महत्त्व मिलता गया, वैसे-वैसे यह फर्क होता गया है। जिसका रहस्य ध्यानमें रखकर हमें आज अैसी ही औश्वर-सम्बन्धी कल्पना धारण करनी चाहिये, जिससे मानवमात्रकी गति, अुत्कर्ष, अुन्नति और सब तरहसे कल्याण सिद्ध हो। वह कल्पना हमें विवेकपूर्वक निश्चित करनी चाहिये। मनुष्यमात्रके शाश्वत कल्याणका विचार करके तदनुसार आचरण करनेमें जो अपनी सारी शक्ति-बुद्धिका अुपयोग करते हैं, जिनके दिलमें भूतमात्रके लिअे हमदर्दी है, जो सदाचारी हैं, जिनका हृदय निर्मल है, जो निःस्पृह हैं, जो पूर्वग्रहों और पूर्वसंस्कारोंसे बंधे नहीं हैं तथा जो विवेकी हैं, अैसे सज्जनोंके हृदयमें जिस प्रकारकी औश्वर-सम्बन्धी कल्पना दृढ़ हुअी हो, जो अुनके जीवनमें अुन्हें गति, अुत्साह, बल, प्रेरणा, प्रकाश और पवित्रता प्राप्त करनेमें अुपयोगी हो, जिससे अुनकी प्रज्ञा और सात्त्विकता बढ़ती हो, वह कल्पना आजके समयमें धारण करने योग्य मानी जानी चाहिये। अुसका अनुसरण करनेमें हमारा और मानव-जातिका कल्याण है। अैसे सज्जनोंकी कल्पना समझना हमारे लिअे संभव न हो, तो हरअेकको अपने संस्कारों, अपने हृदय और जीवनकी जांच कर लेनी चाहिये और अुसमें से ढूंढ़ निकालना चाहिये कि जिसके बल पर हम जीवनमें कुछ अुदात्त, भव्य और पवित्र प्राप्त कर सके; संकटमें, दुःखमें, कठिनाअीमें, भयमें जिसके बल और श्रद्धा पर हम धैर्य रख सके और शीलकी रक्षा कर सके; अगतिकी स्थितिमें गति, पश्चात्तापमें सान्त्वना, पतनावस्थामें अुत्थान, मूर्छावस्थामें भान, अज्ञानावस्थामें ज्ञान, असहाय स्थितिमें सहायता, मोहमें विवेक और संयम, कुछ भी सूझता न हो अैसी परेशानीकी हालतमें जिससे प्रकाश और मार्ग मिल सका; जिससे पुरुषार्थमें बल और अुत्साह तथा कर्ममें शुद्धता और व्यापकता प्राप्त हुअी, वह कल्पना कौनसी है? वह भावना कौनसी है? कौनसी पवित्र श्रद्धा जीवनमें ये सब बातें सिद्ध करनेका कारण बनी है? अिसे ढूंढ निकालना चाहिये। और फिर अुसी कल्पनाको, भावनाको या श्रद्धाको भरसक सरल, प्रभावशाली, निरुपाधिक, स्वाधीन, महान, भव्य, व्यापक,

बाह्य आडम्बर-रहित, शुद्धसे शुद्ध, मंगलसे मंगल और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ बनाकर अुसे अपने हृदयमें दृढ़ करना चाहिये। अगर मनुष्य अितनी बात सिद्ध कर सके, तो वह अिसके बल पर जीवन-भर अेकनिष्ठ रहकर अपना जीवन सार्थक कर सकेगा।

निष्ठा और संकल्पका सामर्थ्य

मनुष्यके चित्तमें अिस प्रकारकी औश्वर-भावना जाग्रत रहे, अिसके लिअे अुसे अपने अभ्युदय और अुन्नतिकी तीव्र अिच्छा होनी चाहिये, अुसमें विवेक होना चाहिये। ये वस्तुअें सज्जनोंके सहवाससे सहज ही प्राप्त की जा सकती हैं। अगर हम श्रेयार्थी हों तो विवेकी और पुरुषार्थी सज्जनकी संगति और अुसके चरित्रका हम पर शुभ परिणाम हुअे बिना नहीं रहता। अिन सबकी मददसे हमें अपनी मानवताका ध्येय सिद्ध करना चाहिये। हमने जीवनके ध्येयके बारेमें जैसी कल्पना या निश्चय किया होगा, वैसी ही हमारी औश्वर-विषयक कल्पना होगी। अिसलिअे प्रथम हमें ध्येयकी शुद्ध और स्पष्ट कल्पना होनी चाहिये। अुस बारेमें हमें यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी भव्य प्रतीत हो वह सब आदरणीय या अनुकरणीय नहीं है; जो आकर्षक लगे वह ध्येय नहीं है; केवल आनन्दप्रद या सुखकर लगे, केवल शान्ति और प्रसन्नता देनेवाला हो, वह भी हमारा ध्येय नहीं है, जो दिव्य लगे, रम्य लगे, वह भी हमारा ध्येय नहीं। परन्तु जो मानवताके अनुरूप हो, सद्गुणोंका पोषक, संयमका सहायक, धर्म और कर्तव्यका प्रेरक हो, जिसे प्राप्त करनेके लिअे प्रामाणिक मानव-व्यवहार और परिश्रम वगैराका त्याग न करना पड़े, जिसकी प्राप्तिकी अिच्छा सब करें और सबको जिसकी प्राप्ति हो जाने पर मानव-व्यवहार अधिक सरल, पवित्र और व्यवस्थित हो जाय, अुसे सिद्ध करना हमारा ध्येय है। वह ध्येय सिद्ध करना मुश्किल हो सकता है, परंतु अुसमें भ्रम नहीं हो सकता। अुसके मार्गमें कठिनाअियां हो सकती हैं, परन्तु दम्भ नहीं हो सकता। अुसमें हमेशा आनन्द न हो तो भी कृतार्थता

प्राप्त करना चाहिये, यह बात मनुष्यके मुज मनने स्वीकार की और जिस तरह मोक्ष ही जीवनका ध्येय बना। मनुष्यका ध्येय यही है और यह योग्य है, यह सिद्ध करनेके प्रयत्नमें अलग-अलग शास्त्र निर्माण हुअे, अुन्हींसे प्रवृत्ति-निवृत्तिके वाद पैदा हुअे, कर्मवाद भी अुन्हींसे निर्माण हुआ और तत्त्वज्ञानका भी वहींसे आरम्भ हुआ। अुस ध्येयको प्राप्त करनेके साधनोंके विचारसे कर्मत्याग, संन्यास वगैरा बातें अेकके बाद अेक निर्माण हुआीं और जिस प्रकार वह ध्येय सनातन बना। अिसी परसे तथा संन्यासी, त्यागी और ज्ञानी लोगोंके सद्‌व्यवहार तथा संयमशील और शान्त जीवनके कारण मोक्ष और अुसके साधनोंके बारेमें साधारण जनतामें श्रद्धा फैली और परम्परासे दृढ़ हुआी।

गृहस्थाश्रम और कर्ममार्गकी अुपेक्षा

जिस समय समाजके सदाचारी व्यक्तियोंने मोक्षकी कल्पना या ध्येय स्वीकार किया, अुस समय व्यक्ति और समाजका अुससे कुछ न कुछ कल्याण हुआ होगा अिसमें शका नहीं। परन्तु अिस विषय पर विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जबसे अिस कल्पनाके कारण आगे चलकर गृहस्थाश्रम और अुसके कर्तव्योंके प्रति अनादर पैदा होने लगा और कर्ममार्गके बारेमें समाजमें शिथिलता आअी, तबसे हमारी अवनति शुरू हुआी होगी। मोक्षकी कल्पना बहुजनसमाजके मनमें दृढ़ हो जानेके बाद और व्यक्ति तथा समाज पर अुसके अनिष्ट परिणाम शुरू होनेके बाद ध्येयके बारेमें विचारवान लोगोंको ज्यादा विचार करना चाहिये था। लेकिन अुस समय अैसा नहीं हुआ। अिसलिअे गृहस्थाश्रमके बारेमें अुत्पन्न हुआ अनादर जैसेका तैसा कायम रहा। लोगोंको अिस अनिष्टसे बचानेके लिअे किसी महात्माने समाज पर निष्काम कर्मयोगका सिद्धान्त और विचारसरणी ठसानेकी कोशिश की। परन्तु अिसका भी अन्तिम ध्येय मोक्ष ही होनेसे गृहस्थाश्रम और कर्ममार्गके विषयमें पैदा हुआी अुदासीनता कम न हुआी और अुसका गया हुआ महत्त्व फिर नहीं लौटा। आज हमारा रहन-सहन

और वर्ताव वगैरा संन्यास-परायण न होने पर भी गृहस्थाश्रमके बारेमें हमारे मनमें सच्चा आदर और सद्भाव नहीं है। गृहस्थाश्रममें रहते हुअे भी हम सबकी यह दृढ मान्यता होती है कि वह दोषमय और पापमय है और अैसा ही रहेगा। गृहस्थाश्रमके सुखकी आसक्ति हमसे छूटी नही है। अुसके बारेमें हमारा कोअी भी रस कम नही हुआ है। अपनी आसक्तिसे हम अपनेमें और समाजमें कितने ही दोष और दुःख बढ़ाते हैं। फिर भी हमारी अिस समझके कारण कि संसार दोषरूप और दुःखरूप ही रहेगा, अुसके बारेमें कोअी दुःख न माननेकी वृत्ति हममें दृढ़ हो गअी है। गृहस्थ-जीवन अैसा ही रहनेवाला है, यह हम मानते आये है। अिसलिअे हमें अुसके बारेमें विचार करनेकी बात कभी नही सूझती। अितनी भारी जडता हममें आ गअी है। गृहस्थ-जीवनमें पवित्रता, प्रामाणिकता, सत्य, अुदारता, संयम और निःस्पृहतासे रहनेकी कल्पना ही समाजमें लगभग नष्ट हो गअी है। व्यक्तिगत स्वार्थसाधन ही संसारका ध्येय बन गया है। किसी दुःख, आघात या अपयशके परिणामस्वरूप संसारसे वैराग्य या घृणा हो जाय, तो सन्यास लेकर मोक्षके पीछे लग जाना चाहिये, अैसी समझ और मनोवृत्ति आम तौर पर जनसमाजमें होनेसे हम नैतिक और भौतिक दृष्टिसे बहुत ही हीन दशाको पहुच गये है। भक्तिमार्गी सन्तोंने समाजमें भक्तिका प्रचार करके लोकमानसको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया; परन्तु अुनका ध्येय भी मोक्षकी तरह अीश्वरके साथ तद्रूप होनेका निवृत्ति-परायण ही था, अिसलिअे अुसके कारण भी गृहस्थाश्रमका गया हुआ पावित्र्य और पुरुषार्थका बल वापस नही आ सका।

सामाजिक वृत्तियोंका अभाव

मोक्ष जैसे वैयक्तिक ध्येयके कारण सामूहिक लाभ और कल्याणके लिअे जिन सामूहिक विचारों, वृत्तियों और सद्गुणोंकी जरूरत है वे हममें अभी तक नहीं आये हैं। हरअेक मनुष्य अपने-अपने कर्मके अनुसार सुख-दुःख भोगता है, हम किसीको सुखी या दुःखी नहीं कर सकते, अैसा हम कर सकते हैं अिस मान्यतामें भ्रांति है — अिस

करना चाहिये। जिसके लिये हमें कोई उदात्त और योग्य ध्येय स्वीकार करना चाहिये। जिसके बिना छुटकारा नहीं है। हम मनुष्य हैं; और यदि मनुष्यकी तरह हमें जीना है, तो यह बात पहले हमारे हृदयमें पूरी तरह जम जानी चाहिये कि मानव-सद्गुणोंसे युक्त हुये बिना हम वैसा कभी नहीं कर सकेंगे। मनुष्य अकेला रहनेवाला प्राणी नहीं, परन्तु समूहमें और अेक-दूसरेके साहचर्यमें रहनेवाला है। जिसलिये व्यक्तिगत कल्याण या हितकी कल्पनाको ही हमें दोषास्पद मानना चाहिये। हमें निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि अकेलेका हित वास्तवमें हित ही नहीं है, बल्कि अेक व्यक्तिकी स्वार्थपूर्ण क्षुद्र या महान अभिलाषा है। और अुससे आज नहीं तो कल सामूहिक दृष्टिसे हानि हुअे बिना नहीं रहेगी। किसी व्यक्तिको प्राप्त धन, विद्या और सत्ताका अुपयोग सबके हितमें किया जाय, तभी अुसका सदुपयोग या धर्म्य अुपयोग हुआ अैसा समझना चाहिये। सब तरहसे और सब दृष्टियोंसे सामाजिक बने बिना हममें मानवता नहीं आयेगी। जिसमें मानवमात्रका कल्याण होता हो वही हमारा धर्म है। मानवमात्रमें हम भी आ ही जाते हैं। हममें यह श्रद्धा होनी चाहिये कि हमारा धर्म हमारा अहित न करेगा, बल्कि सबके साथ हमारा भी हित ही करेगा। मानव-सद्गुणों पर ही मनुष्यका — हम सबका — जीवन चल रहा है। जहां-जहां हमें सद्गुणोंकी कमी दिखाअी दे, वहीं दु:खका प्रसंग आता है; फिर भले वह सद्गुणोंकी कमी हमारी अपनी हो या दूसरोंकी हो। अुस कमीसे हम या दूसरे अवश्य दु:खी होंगे। जिसलिअे यदि हम सब सुखी होना चाहते हैं, तो हम सबको अवश्य सद्गुणी बनना चाहिये। यह बात हमें दृढ़तासे माननी चाहिये और अुस दिशामें हमारा सतत प्रयत्न होना चाहिये। हम समाजकी अेक अिकाअी हैं और हम सबका मिलकर ही समाज बना है। हम सबके अच्छे-बुरे व्यवहारों, अिच्छाओं और भावनाओंका परिणाम हम सब पर होता ही रहता है। जिस संसारमें यह नियम नहीं है कि हर व्यक्तिके हर कर्मका अच्छा-बुरा नतीजा केवल अुसे ही अलग-अलग भोगना पड़े। हम अैक्यके सामाजिक सम्बन्ध और न्यायसे

अिस तरह बंधे हुअे हैं कि हम सबके कर्मोंका फल हम सबको भुगतना पड़ता है। अस्वच्छता, अव्यवस्थितता दोष हैं और अुनके परिणाम रोगके रूपमें या दूसरी तरह सब मनुष्योंको भुगतने पड़ते हैं। मनुष्य समाज बनाकर अेकत्र रहता है। अैसी हालतमें हम अकेले स्वच्छ रहें या हम अकेले अपने घरको साफ रखें, तो अिसीसे हम बीमारियोंसे बच नहीं सकेंगे। हम, हमारा घर और साथ ही दूसरे लोग और हमारा गांव, सब साफ न हों तो अिससे पैदा होनेवाले रोगरूपी अनर्थसे हम बच नहीं सकते। गांवमें महामारी फैल जाने पर अुसके दुष्परिणाम सभीको भोगने पड़ते हैं। जैसा यह प्रकृतिका नियम है, वैसा ही नियम मनुष्यके दूसरे व्यवहारका भी है। मनुष्यको विचार करके अेक-दूसरेके साथके मानव सम्बन्धों, कर्मों और अुनके परिणामोंके नियम खोजने चाहिये; कार्य-कारणभावकी जांच करनी चाहिये। अैसा करने पर अुसे विश्वास हो जायगा कि हम सब अेक-दूसरेके कर्मसे बंधे हुअे हैं। आज भी समाजमें जो बड़े-बड़े झगड़े होते हैं, अुन्हें पैदा करनेवाले कौन हैं? और अुनके अतिशय दुःखद परिणाम किन्हें भोगने पड़ते हैं? युद्ध कौन निर्माण करते हैं और अुनमें प्राणों तकका सर्वनाश किनका होता है? अिन सब बातोंका विचार करने पर मालूम होता है कि कर्मका परिणाम केवल करनेवालेको ही नहीं भोगना पड़ता, परन्तु अेकके कर्मोंका दूसरेको, अनेकोंको अथवा सबके कर्मोंका सबको भुगतना पड़ता है। दुनियामें यही व्यवस्था या न्याय प्रचलित है। परन्तु जीवनका व्यक्तिगत ध्येय अेक बार हमने श्रद्धापूर्वक मान लिया है, अिसलिअे अुसे छोड़कर हम नअी दृष्टिसे विचार करनेको तैयार नहीं होते। दुनियामें जो न्याय प्रत्यक्ष चल रहा है, अुस पर ध्यान न देकर पूर्वजन्म-पुनर्जन्मकी कल्पनासे कर्मवादका आश्रय लेकर अपनी पूर्वश्रद्धा कायम रखनेका प्रयत्न हम करते आये हैं। परन्तु व्यक्तिगत ध्येयकी कल्पनासे आज तक हमारा जो अहित हुआ है और अुस कल्पनाके कारण बने हुअे हमारे अेकांगी स्वभावके फलस्वरूप आज भी हमारा और हमारे समाजका जो अहित हो रहा है, अुसे ध्यानमें रखकर हमें

समाज, राष्ट्र, मानव-जाति वगैरा सबके हितकी दृष्टिसे अपने ध्येयका विचार करनेकी जरूरत है।

सद्‌गुण-संपन्नतामें आत्मत्वका विकास

किसी भी प्रचलित धर्मकी योग्यता अिस बातसे निश्चित करनी चाहिये कि अुसमें सद्‌गुणोंको कितना महत्त्व दिया गया है। सद्‌गुणोंके बिना धर्म नहीं है। सद्‌गुणोंके बिना मानवता नहीं है। धर्मकी योग्यता परमेश्वरकी शरणमें जानेकी अुसमें बताओी गओी पद्धति परसे, अीश्वरकी आराधना करनेके कर्मकाड परसे, अुसमें की गओी पाप-पुण्यकी सूक्ष्म समीक्षा परसे, मरणोत्तर मिलनेवाली गति-सम्बन्धी कल्पना परसे या अुसकी लोकसंख्या परसे नहीं ठहराओी जानी चाहिये; परन्तु अिस बात परसे ठहराओी जानी चाहिये कि अुसमें सद्‌गुणोंका, समभाव और मानवताका कितना महत्त्व सिखाया गया है। मनुष्यको जीवन-भर प्रयत्न और कष्ट सहन करके अपना 'आत्मत्व' विकसित करना है, और यही मनुष्य-जन्मकी परम सिद्धि है। धारण किये हुअे शरीरमें ही सारा 'आत्मत्व' है, यह मानकर अुसकी हर तरहकी रक्षा करनेका प्राणिमात्रका स्वभाव होता है; परन्तु सब जगह आत्मभाव और सम-भाव देखना, अनुभव करना और अुसके अनुसार आचरण करना सिर्फ मनुष्यको ही कभी न कभी सिद्ध हो सकता है। जिस आचरणसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अुसीको मानवधर्म कहा जा सकता है। मानवधर्मका आधार समताके आचरण पर है। जितनी मात्रामें यह समता हमारे आचरणमें आयेगी, अुतनी ही मात्रामें हममें मानवता प्रकट होगी और अुतनी ही मात्रामें हमारा 'आत्मभाव' व्यापक बनेगा। हमारी धर्मबुद्धिके परिणामस्वरूप हमारा 'आत्मत्व' कमसे कम मानव-जाति और हमारे सहवासके प्राणियों तक तो व्यापक होना ही चाहिये। अिस आत्मत्वको विशाल करनेके लिअे और अपनेमें सम-भावका विकास करनेके लिअे हमें सद्‌गुणोंका अनुशीलन करना चाहिये। सद्‌गुणोंके बिना समभाव नहीं आयेगा और टिकेगा भी नहीं। दया, मैत्री, बंधुता, वात्सल्य, सत्य, प्रामाणिकता, अुदारता, क्षमा, परोपकार वगैरा
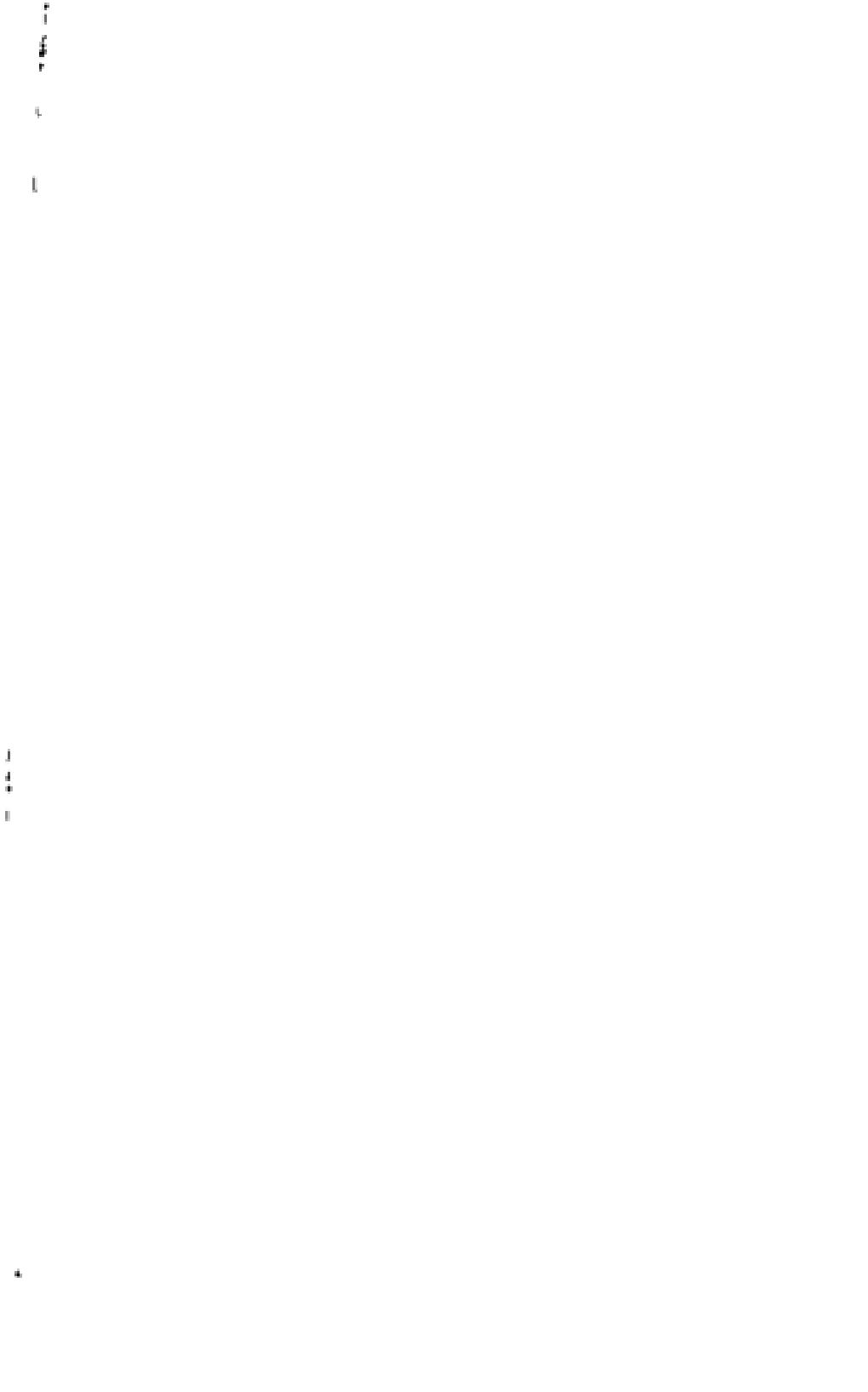
सद्गुणोंसे समभाव पैदा होता है और बढ़ता है। सद्गुण म
सहारे बढ़ सकते हैं या टिक सकते हैं। अिसलिअे मनुष्यको
गुणोंका आसरा लेना पड़ता है। सब गुणोंकी अुपासनाके
मानवता आ नहीं सकती। दया, मैत्री आदि गुण संयम, त्याग, ध
निर्भयता और निःस्पृहता आदि सद्गुणोंके बिना रह नहीं स
प्रेमभावके बिना सद्गुणोंमें माधुर्य नहीं आयेगा। अिसलिअे त
सद्गुणोंको हमें अपने हृदयमें आश्रय देकर अुनका विकास क
चाहिये।

मानवताका प्रारम्भ विवेक और चित्तशुद्धिके प्रयत्नसे होता है
अन्त सद्गुणोंकी परिसीमामें होता है। चित्तशुद्धिके लिअे सयम
आवश्यकता है और सद्गुणोंकी परिसीमाके लिअे पुरुषार्थकी आवश्य
है। मानव-सद्गुणोंमें किस गुणकी कब, कहां और कितनी जरूरत
अिसका निर्णय करनेवाले विवेककी आवश्यकता जीवनमें शुरूसे आखि
तक हमेशा रहती ही है।

विवेक, सयम, चित्तशुद्धि और पुरुषार्थ अिन मुख्य साधनों द्वा
हमारा और समाजका कल्याण साधकर मानवताकी परम सिद्धि प्राप्त
करना ही मानव-जीवनका ध्येय है।